2964

सकारात्मक अहिंसा

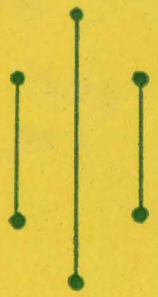

कन्हैयालाल लोढ़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दया, दान, अनुकम्पा, करुणा, मैत्रीभाव, वात्सल्य, वैयावृत्त्य आदि अहिंसा के विविध सकारात्मक रूप हैं। जैन वाङ्मय में दया को धर्म का मूल, दान को धर्म, वैयावृत्त्य (सेवा) को आभ्यन्तर तप, करुणा को जीव का स्वभाव, अनुकम्पा को सम्यक्त्व का लक्षण एवं वात्सल्य को सम्यग्दर्शन का अंग व आचार कहा गया है। समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव का अनेकत्र निर्देश है।

सामान्यजन तो दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म ही मानते हैं, परन्तु वर्तमान में कुछ बुद्धिवादी व्यक्ति यह तर्क देते हैं कि अनुकम्पा, दया, रक्षा, वात्सल्य, सेवा आदि अहिंसा की विधिपरक सद्प्रवृत्तियां कर्मबंध की हेतु होने से संसार में भ्रमण कराने वाली हैं। अतः मुक्ति में बाधक होने से धर्मरूप नहीं हैं। धर्म तो केवल निवृत्तिरूप ही होता है। परन्तु उनकी यह मान्यता न तो आगम-सम्मत है और न मानवीय दृष्टिकोण से उपयुक्त।

वस्तुतः अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्री, मार्दव आदि भाव स्वभाव हैं, अतः धर्म हैं। यह आगमसम्मत सिद्धान्त है कि राग-द्वेष रूप कषाय ही कर्म के बीज एवं कर्मबन्ध के हेतु हैं। करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, प्रमोद, मैत्रीभाव आदि संवररूप धर्म हैं, कषाय नहीं। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भावों तथा दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों को संसार-भ्रमण का कारण मानना जैनागम के विरुद्ध है। जैनागम एवं कर्म सिद्धान्त के अनुसार औदयिक भाव ही कर्मबंध में हेतु बनते हैं। दया, दान, अनुकम्पा, मैत्रीभाव, वात्सल्य, वैयावृत्त्य आदि कर्मबंध में हेतु नहीं हैं। यही नहीं ये पाप-क्षय के हेतु होने से मुक्ति में भी सहायक हैं। इनके अभाव में पाप-प्रवृत्ति का निरोध एवं पापकर्मों का क्षय संभव नहीं है। साथ ही अहिंसा के ये सभी सकारात्मक रूप आत्म-विकास, व्यक्ति के कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु हैं। इनसे जीवन का सर्वाङ्गीण एवं समीचीन विकास होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only

प्रधान-सम्पादक
म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प 106

सकारात्मक अहिंसा

लेखक-सम्पादक
कन्हैयालाल लोढ़ा
अधिष्ठाता
श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
बजाजनगर, जयपुर

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ प्रकाशक :
देवेन्द्रराज मेहता
सचिव,
प्राकृत भारती अकादमी
3827, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता
जौहरी बाजार, जयपुर-302 003
दूरभाष-541876

विमलचन्द डागा
मन्त्री,
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर-302 003
दूरभाष-565997

☐ प्रथम संस्करण : फरवरी, 1996

☐ मूल्य : 110 रुपये

☐ मुद्रक :
एम. एल. प्रिण्टर्स, जोधपुर
एवं
प्रिंटिंग हाउस
जालोरी गेट, जोधपुर फोन : 27708

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम श्रद्धेया महासती जी

श्री जसकंवर जी म. सा.

जिनके रोम-रोम में

अहिंसा ही अहिंसा भरी है

और

जिन्होंने अपने जीवन की

परवाह न करते हुए जोगणिया में

घोर हिंसक पशुबलि को बन्द कराने जैसी

शुभ प्रवृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए

सम्यग्ज्ञान व दर्शन के आधार

अहिंसा और विशेष रूप से

इसके सकारात्मक पक्ष को

अपने चारित्र का

अभिन्न अंग बनाया

को

सादर समर्पित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

प्राकृतभारती पुष्प 106 के रूप में प्रस्तुत 'सकारात्मक अहिंसा' पुस्तक का दो खण्डों में प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर का संयुक्त प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

'अहिंसा' का सामान्य अर्थ है हिंसा का अभाव। जैन धर्म, दर्शन व संस्कृति में यह शब्द अपने सामान्य अर्थ के साथ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु समय-प्रवाह जैसे अन्य बातों में परिवर्तन ले आता है, वैसे ही जैनों के इस विशिष्ट शब्द के विशिष्ट अर्थों में भी परिवर्तन आए। कुछ महत् बातें गौण हो गईं और गौण बातें महत् हो गईं। धीरे-धीरे लगता है जैन अहिंसा की आत्मा मर गई और वह जीवन्तता-विहीन शुष्क अवधारणा बनकर रह गई।

सम्भवतः यही कारण है कि जन-सामान्य में अहिंसा के सम्बन्ध में कई भ्रान्तियां फैल गईं। इनमें दो भ्रान्तियां मुख्य हैं। एक तो यह कि अहिंसा का अर्थ मात्र प्राण-हनन न करना है या अधिक से अधिक प्राणियों को पीड़ा न पहुंचाना है। दूसरी भ्रांति यह है कि अहिंसा एक विशुद्ध नकारात्मक या निषेधात्मक अथवा निवृत्तिमूलक अवधारणा है। वस्तुतः ये भ्रान्तियां एकांगी दृष्टिकोण की देन हैं और विडम्बना यह है कि यह दृष्टिकोण उन लोगों ने अपनाया है जिन्होंने संसार को अनैकान्तिक दृष्टिकोण की शिक्षा दी।

इन भ्रान्तियों को दूर करने के प्रयास जैसी लगन से होने चाहिए थे वैसे नहीं हो पाये। आज जब सारा विश्व सिमटकर एक गांव-सा बन रहा है और उन जीवन-पद्धतियों की खोज हो रही है, जो समाज के हर स्तर पर शांति स्थापित कर सकें, अहिंसा सम्बन्धी इन भ्रान्तियों को दूर करना और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है।

भगवान महावीर के कालजयी शब्द थे—जैसे आपको दुःख प्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं, वैसे ही संसार के किसी भी जीव को दुःख प्रिय नहीं। अहिंसा के इस व्यापक आधार पर उन्होंने एक क्रान्तिकारी जीवन-पद्धति विकसित की जिसमें प्राणिमात्र के सुख की ठोस व्यवस्था थी, मात्र कल्पना नहीं। उन्होंने अहिंसा की विस्तृत परिभाषा में वह सभी कुछ समेट लिया, जो प्राणिमात्र के दुःख को मिटाने और सुख को प्राप्त करने का निमित्त बन सकता था। जब तक हम अहिंसा को इस व्यापक सन्दर्भ में नहीं समझते, तब तक प्रवृत्ति-निवृत्ति की वितण्डा से मुक्त नहीं हो सकते।

अहिंसा अर्थात् हिंसा न करना अथवा हिंसा का अभाव। इसमें कहीं भी यह अर्थ छुपा हुआ नहीं है कि जीवन के परिपालन का अभाव हो। वस्तुतः इसमें तो जीवन के परिपालन का भाव अन्तर्निहित है। हम यदि किसी क्रिया-विशेष के निषेध को क्रिया मात्र का निषेध समझने लगें तो वह भ्रान्तिमूलक ही है।

एक और बात है, निवृत्ति जन्म ही प्रवृत्ति से लेती है। प्रवृत्ति का अस्तित्व न हो तो निवृत्ति स्वतः ही अस्तित्वहीन हो जाती है। निषेध का अपने आप में कोई अर्थ नहीं, वह तो क्रियात्मकता से उत्पन्न होता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दिशा के नाम हैं, गति के नाम नहीं। और, जो चेतन अथवा जीवन, जिसका मूल गुण क्रिया है, स्पन्दन है, स्फुरण है, गति है वह कभी किसी स्थिति में गतिहीन नहीं हो सकता। उसकी निवृत्ति का अर्थ ही उसकी प्रवृत्ति की दिशा में परिवर्तन है, न कि प्रवृत्ति का अभाव।

अहिंसा के इसी सकारात्मक स्वरूप की पुनः स्थापना के प्रयासों में हमारे सुपरिचित चिन्तक श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा के विचारों का यह योगदान पुस्तकाकार रूप में हम अपने पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं। लोढ़ाजी ने अपनी परिचित शैली में शास्त्रीय आधारों के साथ आधुनिक प्रचलित सूचनाओं का समन्वय कर अहिंसा के उस लोक-कल्याणकारी पहलू को उजागर किया है, जो जैन आचार के एक अंग-विशेष के अति विस्तार में छुप चला था। प्रश्नव्याकरणसूत्र में प्राप्त अहिंसा के 60 नामों का उल्लेख कर उसमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण भावनाओं की विस्तृत चर्चा के माध्यम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अहिंसा के इस सकारात्मक रूप की स्थापना करने के अपने इस प्रयास से ही लेखक ने सन्तोष नहीं कर लिया, अपितु अपने कथ्य के अंतिम अध्याय में उन्होंने सकारात्मक अहिंसा पर उठाई गई आपत्तियों का निराकरण भी किया है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक के द्वितीय खण्ड के रूप में उन्होंने इसी सन्दर्भ में अन्यान्य मनीषियों के महत्त्वपूर्ण लेख भी संकलित किये हैं। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक अहिंसा को उसकी सम्पूर्णता में व्यापक बनाने की ओर एक महत्त्वपूर्ण प्रयास का रूप धारण करेगी।

जैन और जैनेतर दर्शनों के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान् डा. सागर मल जी जैन ने विषय की गम्भीरता और वर्तमान विषम काल में उसकी उपादेयता के अनुरूप विचारोत्तेजक और प्रेरक भूमिका लिखी है, जिससे पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है। हम उनके तथा उन सभी विद्वानों के भी आभारी हैं जिनके लेख इस पुस्तक में सम्मिलित किये गये हैं।

विशेषत: डॉ. धर्मचन्द जैन, जोधपुर ने जिस योग्यता और लगन के साथ इस पुस्तक का सम्पादन-संशोधन कर मुद्रण-व्यवस्था की है उसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हमें आशा है हमारे पाठक इस संयुक्त प्रकाशन को पढ़कर सकारात्मक अहिंसा को जीवन में अपनाने को प्रेरित होंगे।

म. विनयसागर
निदेशक

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

डॉ. सम्पतसिंह भांडावत
अध्यक्ष

विमल चन्द डागा
मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन xi
भूमिका xxi

प्रथम-खण्ड

(कन्हैया लाल लोढ़ा)

1. अहिंसा का सकारात्मक रूप 1
2. करुणा और अनुकम्पा 17
3. सेवा 27
4. दान 47
5. वात्सल्य 59
6. आत्मीयता और सहानुभूति 66
7. सकारात्मक अहिंसा धर्म है 74
8. मैत्रीभाव 86
9. मार्दव 93
10. सकारात्मक अहिंसा पर आपत्तियां और उनका निराकरण 96

द्वितीय-खण्ड

(अन्य विद्वान् मनीषियों के संकलित विचार)

1. दान का महत्त्व : आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. 119
2. दान में उदारता : आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा 130
3. सेवाप्रधान मनुष्य-धर्म : उपाध्याय श्री अमरमुनिजी 135
4. जैन संस्कृति में सेवा-भाव : उपाध्याय श्री अमरमुनिजी 141
5. धर्म में दान को प्रथम स्थान क्यों ? : उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी 147
6. दान और पुण्य : एक विवेचन : उपाध्याय श्री पुष्करमुनि 155
7. भारतीय साहित्य में दान की महिमा : श्री विजयमुनिजी शास्त्री 162
8. अहिंसा बनाम दया : महात्मा गाँधी 187
9. करुणा के विविध रूप : मुनि श्री भद्रगुप्तविजय जी 189

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. निवृत्ति और प्रवृत्ति : पं. सुखलाल संघवी 194
11. निवृत्ति एवं प्रवृत्तिपरक अहिंसा :
महासती श्री पुष्पवतीजी म. 201
12. तीर्थङ्करों का वर्षीदान क्या विसर्जन नहीं है ? :
संघप्रमुख मुनि श्री चन्दनमल जी 209
13. मनुष्य और सेवाधर्म : केदारनाथ 215
14. अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान : काका कालेलकर 222
15. कर्मक्षय और प्रवृत्ति : किशोरदास घ. मश्रुवाला 229
16. करुणा मोह का अंश नहीं ध्वंस है :
आचार्य श्री विद्यासागरजी म. 233
17. सेवा धर्म : युगलकिशोर मुख्तार 238
18. सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सेवा : स्वामी श्री शरणानन्दजी 248
19. दया-दान के दोहे : सत्यनारायण गोयनका 280
20. सेवा के बिना अहिंसा अधूरी : डी. आर. मेहता 283
21. सेवा से आत्म-विकास : श्रीमती सुशीला बोहरा 290
22. सेवा-गीत : डॉ. नरेन्द्र भानावत 296
23. दान, दया का एकान्त निषेध खतरनाक :
पं. बेचरदास दोशी 298
24. सेवा में सदुपयोग : श्रीमती प्रसन्ना भण्डारी 299
25. जीव मात्र के लिए आदर : संकलित 301
26. बलिदान-सेवा-चैरेटी : महादेव भाई 302
27. Positive contents of Jinism : Joharimal Parakh 303
परिशिष्ट 330
शुद्धिपत्र 349

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

भारतवर्ष में हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि अगणित धर्म एवं सम्प्रदाय हैं। ये सभी अहिंसा को धर्म मानते हैं। अहिंसा के दो अर्थ हैं—1. निषेधात्मक और 2. विध्यात्मक। अहिंसा का निषेधात्मक अर्थ है—हिंसा न करना और विध्यात्मक अर्थ है दया, दान, सेवा परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियां करना। प्रायः सभी धर्म एवं जनसाधारण अहिंसा के इन दोनों अर्थों को धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु इन धर्मों की कुछ उपसंप्रदायें हैं जो अहिंसा के विध्यात्मक एवं सकारात्मक रूप दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म नहीं मानती हैं, इन्हें पुण्य मानती हैं। उनका कहना है कि पुण्य से कर्म बन्ध होता है और कर्म-बन्ध से संसार परिभ्रमण होता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से इन संप्रदायों के अनुयायी दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों को संसार परिभ्रमण का कारण मानते हैं और ये अपनी इस मान्यता पर इतना जोर देते हैं कि जो इस मान्यता को नहीं मानते हैं उन्हें ये मिथ्यादृष्टि मानते हैं तथा मुक्ति पाने के अधिकारी व पात्र नहीं मानते हैं। इनका कथन है कि जीव के अब तक मुक्ति न पाने का कारण पुण्य को हेय व त्याज्य नहीं मानना ही है। इनका मन्तव्य है कि यदि जीव ने जैसे पाप कर्म को हेय व त्याज्य माना उसी प्रकार पुण्य कर्म (दया-दान आदि) को हेय व त्याज्य माना होता तो अब तक वह कभी का मुक्त हो गया होता। कुछ का तो यह भी कहना है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों से एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा होती है इसलिए ये पाप हैं, अधर्म हैं। अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। इस प्रकार दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों को, सकारात्मक अहिंसा को मुक्ति में बाधक व अधर्म मानने के सम्बन्ध में जो युक्तियां दी जाती हैं उनमें मुख्य युक्तियां इस प्रकार हैं, यथा—

(1) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ क्रिया रूप होने से कर्म-बन्ध की हेतु हैं, अतः त्याज्य हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) सद्प्रवृत्तियाँ शुभ योग हैं। शुभ योग पुण्य कर्म के आस्रव व बन्ध का हेतु है और कर्म-बंध मुक्ति में बाधक है।

(3) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप हैं। पुण्य धर्म नहीं है। धर्म के बिना मुक्ति नहीं मिलती है।

(4) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों में जीवों की हिंसा होती है। हिंसा पाप है। पाप त्याज्य है।

(5) दया, दान आदि से जिस जीव की रक्षा की जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि होने से, बचने के पश्चात् पाप प्रवृत्ति करता है। अतः बचाने वाले को पाप कर्म के अनुमोदन का पाप लगता है।

(6) एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सभी जीव समान हैं। अतः इनके मारने में समान हिंसा होती है, समान पाप लगता है। अतः किसी एक जीव को बचाने के लिए असंख्य एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना घोर पाप है।

(7) कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है तो उस जीव को बचाने से उसे मारने वाले जीव को दुःख होता है। अतः यह हिंसा है। हिंसा से बचने में ही हित है।

(8) कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है। इस घटना में मरते हुए जीव को बचाने का मतलब है उस जीव के प्रति राग है और जिससे बचाया जा रहा है उसके प्रति द्वेष है। राग-द्वेष पाप हैं, संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं।

(9) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों में सहायता व रक्षा करने का संकल्प होता है और उस संकल्प की पूर्ति न होने से विकल्प होता है। संकल्प-विकल्प कर्म-बंध व संसार-परिभ्रमण के कारण हैं।

(10) दया, दान आदि प्रवृत्तियाँ पुण्य कर्म-बंध की हेतु हैं, अतः विभाव हैं, अधर्म हैं, हेय हैं।

(11) एक क्रिया के पुण्य-पाप अथवा धर्म-अधर्म ये दोनों फल नहीं हो सकते। दया, दान, सेवा आदि अहिंसा की सकारात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तियों में अप्काय, वायुकाय आदि के असंख्य जीवों की हत्या होती है। हिंसा अधर्म है, पाप है। अतः इनसे धर्म व पुण्य नहीं हो सकता।

उपर्युक्त युक्तियों के अतिरिक्त इन्हीं से मिलती-जुलती अनेक अन्य युक्तियां भी दी जाती हैं, परन्तु उन सबका अभिप्राय एक ही है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां विभाव हैं, अधर्म हैं, कर्म-बंध की व संसार-परिभ्रमण की हेतु हैं अतः हेय हैं, त्याज्य हैं।

उपर्युक्त सर्व मान्यताएं निर्दयता, हृदयहीनता, क्रूरता, कठोरता पैदा करने वाली हैं, मानवता की घोर विरोधी एवं पूर्ण रूप से अधार्मिक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त युक्तियों एवं मान्यताओं को अनेक प्रमाणों से आगम-विरुद्ध, मिथ्या, निराधार व तथ्यहीन सिद्ध किया गया है तथा कर्मसिद्धान्त एवं आगम से यह प्रमाणित किया गया है कि अनुकंपा, करुणा, दया, दान, वैयावृत्त्य (सेवा) आदि समस्त सद्प्रवृत्तियां रूप सकारात्मक अहिंसा धर्म है, स्वभाव है एवं कर्म-क्षय की हेतु है; कर्म-बंध की हेतु नहीं है, क्योंकि औदयिक भाव ही कर्म-बंध के कारण होते हैं। अन्य कोई भाव कर्म बंध के कारण नहीं होते हैं और दया-दान आदि प्रवृत्तियाँ किसी भी कर्म के उदय से नहीं होती हैं। अतः औदयिक भाव नहीं होने से ये कर्म बंध की कारण नहीं हैं। औदयिक भावों में भी कषाय का उदय ही कर्म का कारण है। क्योंकि कषाय के उदय से ही कर्मों का स्थितिबंध व अनुभाग बंध होता है। स्थिति बंध से ही कर्म आत्मा के साथ टिके रहते हैं, जुड़े रहते हैं। स्थिति बंध के अभाव में कर्म-बंध संभव ही नहीं है। इसलिए स्थिति बंध के क्षय को ही कर्म का क्षय कहा है। कर्म की फल देने की शक्ति को अनुभाव या अनुभाग कहते हैं। पाप कर्मों के अनुभाव का सर्जन कषाय से होता है। कषाय के वृद्धि-ह्रास से पापकर्मों के अनुभाव में वृद्धि-ह्रास होता है। अतः कषाय का उदय ही कर्मों के स्थिति-बंध का व पाप कर्मों के अनुभाव के बंध का हेतु है। कषाय की कोई भी प्रवृत्ति या प्रकृति पुण्य रूप नहीं होती है। कषाय की सभी प्रकृतियां पाप रूप ही हैं। अतः कर्म बंध का कारण पुण्य के साथ रहा हुआ कषाय भाव है या पाप है, पुण्य नहीं है। पुण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय में कमी होने से होता है। कषाय में कमी होने को क्षायोपशमिक भाव, शुभभाव व शुद्धभाव कहते हैं। क्षायोपशमिक या शुद्ध भाव से पुण्य का आस्रव होता है। कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि पुण्यास्रव से पापास्रव का निरोध होता है, संवर होता है, यथा—सातावेदनीय, उच्च गोत्र, त्रस, आदेय, यशकीर्त्ति आदि त्रसदशक एवं गति-जाति आदि चौदह पिंड प्रकृतियों का जब आस्रव होता है तब इनकी विरोधिनी असातावेदनीय, नीच गोत्र, स्थावर, अनादेय, अयशकीर्त्ति आदि स्थावरदशक एवं गति आदि चौदह पिंड प्रकृतियों में कथित पाप प्रकृतियों के आस्रव का निरोध (संवर) हो जाता है व इनका बंधना रुक जाता है, इसके साथ ही पूर्व में बंधे हुए पाप-कर्मों के स्थिति बंध व अनुभाव बंध का अपवर्तन (क्षय) होता है। इस प्रकार पुण्य कर्म के उपार्जन से पाप कर्मों का आस्रव व बंध तो रुकता ही है, साथ ही पहले बंधे हुए पाप कर्मों के स्थिति व अनुभाव बंध का क्षय भी होता है तथा पाप प्रकृतियों का पुण्य में संक्रमण होता है। आशय यह है कि (1) पुण्यतत्त्व (2) पुण्यास्रव और (3) पुण्यकर्म क्रमशः पाप, पापास्रव और पाप कर्म के विरोधी व घातक होते हैं, पाप का क्षय करने वाले होते हैं। पाप के क्षय से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यह सही है कि सकारात्मक अहिंसा की दया, दान आदि धार्मिक प्रवृत्तियों से पुण्य के आस्रव का उपार्जन होता है, परन्तु इससे भी असंख्य गुणा अधिक पुण्य के आस्रव का उपार्जन व पुण्य के अनुभाव की सर्जना संयम-त्याग-तप, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निवृत्ति-परक साधनाओं से होता है। जब ये निवृतिपरक साधनाएं क्षपक श्रेणी में उत्कृष्ट रूप में होती हैं तब यशःकीर्त्ति, उच्चगोत्र आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों के अनुभाव में वृद्धि होकर इनका अनुभाव उत्कृष्ट हो जाता है। पुण्य कर्म-प्रकृतियों के अनुभाव के उत्कृष्ट होने पर ही साधक को केवल ज्ञान होता है। पुण्य के अनुभाव के अनुत्कृष्ट रहते न तो आज तक किसी को केवल ज्ञान हुआ है और न भविष्य में किसी को केवल ज्ञान होगा। पुण्य का यह उत्कृष्ट अनुभाग मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है, अंश मात्र भी क्षीण नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दया, दान, अनुकंपा, करुणा, सेवा, मित्रता, वात्सल्य आदि समस्त सद्प्रवृत्तियां सकारात्मक, विध्यात्मक या क्रियात्मक अहिंसा के ही विविध रूप हैं। जैन वाङ्मय में दया को धर्म का मूल कहा है और प्राणियों पर अनुकम्पा करने को दया कहा है।[1] धर्म उसे कहा जाता है जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो। दया के फलस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह तथ्य आज भी इतना मान्य है कि किसी भी जैन मुनि के प्रवचन के पश्चात् प्रवचन के सारांश को व्यक्त करते हुए सर्वप्रथम यह दोहा बोला जाता है—"दया सुखांनी बेलड़ी, दया सुखांनी खान। अनंता जीव मुक्ति गया, दया तणे फल जाण॥" अर्थात् दया सर्व सुखों की देने वाली है तथा आज तक अनंत जीव जो मुक्ति में गये हैं वे दया के परिणाम से ही गये हैं। अतः दया का विरोध करना मुक्ति का विरोध करना है, धर्म का विरोध करना है, धर्म के मूल का उच्छेदन करना है। दया के विरोध व निरोध को अर्थात् दयाहीनता को, निदर्यता को धर्म मानना पाप को, अधर्म को धर्म मानना है, जो मिथ्यात्व है।[2] निर्दयता को रौद्र ध्यान का लक्षण कहा है।[3] ज्ञान की सार्थकता भी दया में ही है।[4] दयारहित ज्ञान निष्फल है, कुज्ञान है। दया का क्रियात्मक रूप दान है। अतः दान भी धर्म ही है।[5] सभी वीतराग केवली अनंतदानी होते हैं। जितने भी तीर्थंकर आज तक हुए हैं वे दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएं प्रतिदिन दान देते रहे हैं। यह दान ग्रहण करने के लिए जो भी सनाथ, अनाथ, पथिक, प्रेष्य, भिक्षु आदि आते,

---

1 (अ) दयामूलो भवेद्धर्मो, दया प्राण्यनुकम्पनम्॥
—जिनसेन, महापुराण, 21.5.92

(आ) 'मूल धम्मस्स दया'।—धर्मरत्नप्रकरण

2 दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तंजहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा
—स्थानांगसूत्र, दशवां स्थान।

3 परवसणं ··· निद्दओ ··· रोदज्झाणोवगयचित्तो॥—ध्यानशतक, गाथा 27

4 पढमं णाणं तओ दया। —दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 4

5 दानं सीलं च तवो, भावो एवं चउव्विहो धम्मो।'
—सप्ततिशतस्थानप्रकरण, गाथा 96

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्हें वे बिना भेदभाव के दान देते रहे हैं।[1] दानसंपन्नता धर्म-ध्यान का लक्षण है।[2]

दया के क्रियात्मक रूप सेवा (वैयावृत्त्य) को आभ्यंतर तप में स्थान दिया गया है। अर्थात् वैयावृत्त्य को उपवास, प्रतिसंलीनता आदि बाह्य तपों से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। आभ्यंतर तपों में भी सेवा को स्वाध्याय तप से अधिक महत्त्व दिया गया है[3] और सर्व दुःखों से मुक्ति प्राप्ति का हेतु बताया है। सेवा में भी भगवान महावीर ने अपनी (भगवान की) सेवा करने की अपेक्षा दुःखी एवं पीड़ित व्यक्तियों की सेवा करने वाले को धन्यवाद का पात्र कहा है।[4] जो दुःखियों की सेवा करता है वह मेरी सेवा करता है[5] वह मेरे दर्शन की आराधना करता है।[6] जिस व्यक्ति को जिस प्रकार की आवश्यकता हो उसकी उसी प्रकार सहायता करना सेवा है।[7] करुणा को

---

1 तए णं मल्ली अरहा कल्लाकल्लिं जाव मागहओ पायरासोत्ति बहूणं सणाहाण य अणाहाण य पंथियाण य पहियाण य करोडियाण य कप्पडियाण य एगमेगं हिरण्णकोडिं अट्ठ य अणूणाति सयसहस्साति इमेया रूवं अत्थ संपयाणं दलयति।—ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन 8, सूत्र 82

2 जिणमाहु गुणक्कित्तण-पसंसणा दाणविणयसंपन्नो..... ....धम्मज्झाणी मुणेयव्वो।—ध्यानशतक, गाथा 68

3 इच्छं निओइउं भंते ! वेयावच्चे व सज्झाए ।।
वेयावच्चे निउत्तेणं कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं सव्वदुःखविमोक्खणे ।।—उत्तराध्ययन, 26.9-10

4 किं भन्ते ! जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने ? गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ से धण्णे।—आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयवत्ति, चतुर्थ आदश्यक।

5 जो गिलाणं पडियरइ सो मं पडियरइ।—ओघनिर्युक्ति सटीक, गाथा 62

6 जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेणं पडिवज्जइ।
—आवश्यकसूत्र हारिभद्रीया वृत्ति, प्रतिक्रमण आवश्यक।

7 आसेवणं जहाथाम वेयावच्चं तमाहियं।—उत्तराध्ययन, 30.33

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव का स्वभाव कहा है ।[1] स्वभाव को धर्म कहा है ।[2] अकरुणा को, निर्दयता को रौद्रध्यान कहा है, अधर्म कहा है ।[3] अनुकंपा को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है ।[4] साधु की चर्या में दया और अनुकंपा को प्रमुख स्थान दिया गया है ।[5] वात्सल्य को सम्यग्दर्शन का अंग व आचार कहा है ।[6] करुणा और मैत्री को संवर में स्थान दिया गया है ।[7] अहिंसा की दया, दान, सेवा आदि सकारात्मक रूप सद्प्रवृत्तियां यदि मुक्ति में बाधक होतीं, विभाव होतीं तो जैनागमों में इनके प्रत्याख्यान का, निषेध का विधान अवश्य होता । परन्तु ऐसा नहीं है । अतः इन्हें विभाव मानना, धर्म न मानना मूल भूल है ।

पाप का क्षय होना ही आत्मा का पवित्र होना है । अतः पाप का क्षय होना और आत्मा का पवित्र होना युगपत् है । पाप के क्षय होने को धर्म कहा जाता है और आत्मा के पवित्र होने को पुण्य कहा जाता है । अतः धर्म और पुण्य दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है । पुण्य को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता । इसलिए जहां धर्म होता है वहां पुण्य होता है । जब हिंसा, झूठ, चोरी, क्रूरता आदि पाप प्रवृत्तियों का निरोध व त्याग होता है अर्थात् पाप का क्षय होता है तब स्वतः ही सत्य, अहिंसा, दयालुता, मृदुता आदि सद्प्रवृत्तियों का उद्भव होता है । इस दृष्टि से दया, दान, सेवा आदि सकारात्मक अहिंसा की समस्त प्रवृत्तियाँ पाप का क्षय करने वाली होने से धर्म रूप हैं और आत्मा को पवित्र करने वाली होने से पुण्य रूप हैं । अतः धर्म और पुण्य एकार्थक हैं,[8] एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । कषाय की

---

1 करुणाए जीवसहावस्स । —धवलटीका, पुस्तक 13, पृष्ठ 392

2 धम्मो वत्थुसहावो । —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 478

3 ध्यानशतक, गाथा 27

4 प्रशममंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वं— धवला. 1/1,1,4

5 सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी....—उत्तराध्ययन 21.13

6 निस्संकिय....वच्छल्लपभावणे अट्ठ ।—उत्तरा. 28, गा. 39

7 मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि... तत्त्वार्थसूत्र, 7.6

8 अस्तितावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः ।।—तात्पर्यवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीणता या क्षयरूप विशुद्धिभाव भावात्मक पुण्य है। इस भावात्मक पुण्य का क्रियात्मक रूप दया, दान, सेवा, उदारता आदि सकारात्मक अहिंसा की प्रवृत्तियाँ हैं जो क्रियात्मक पुण्य है। इस भावात्मक एवं क्रियात्मक पुण्य को ही जैन दर्शन में पुण्य तत्त्व कहा है। यह पुण्य तत्त्व आत्मा की पवित्रता का द्योतक है। यह नियम है कि आत्मा जितनी पवित्र होती जाती है उतना ही उसके इन्द्रिय, शरीर, प्राण-शक्ति आदि का विकास होता जाता है। इसे ही पुण्य आस्रव एवं पुण्य कर्म का उपार्जन कहा जाता है। पुण्य का आस्रव चित्त की कलुषता (कषाय) मिटने से होता है।[1] अर्थात् शुद्धोपयोग से होता है।[2] पुण्यास्रव से पुण्य कर्म की प्रकृतियों के प्रदेश व अनुभाग का सर्जन होता है। यह नियम है कि कर्म पुण्य रूप हो या पाप रूप हो, 'कर्म' धर्म नहीं होता। इसलिए पुण्य तत्त्व ही धर्मकी कोटिमें आता है, पुण्य आस्रव तथा पुण्य कर्म प्रकृतियों को धर्म नहीं कहा जा सकता है। परन्तु पुण्यकर्म कर्म होने पर भी मुक्ति में बाधक नहीं है। इसीलिए कर्म सिद्धान्त में पुण्य कर्म की समस्त प्रकृतियों को पूर्ण रूप से अघाती कहा है, देशघाती भी नहीं कहा है। अर्थात् पुण्य कर्म की किसी भी प्रकृति से आत्मा के किसी भी गुण का अंशमात्र भी घात नहीं होता है। अपितु पुण्य कर्म से पाप कर्मों का संक्रमण व क्षय स्वतः होता है। अतः पुण्य कर्म भी मुक्ति-प्राप्ति में सहयोगी हैं, बाधक नहीं हैं। यह सही है कि पुण्य व पाप कर्मों का पूर्ण क्षय होने से मुक्ति होती है। परन्तु पाप कर्मों के क्षय के लिए ही साधना करनी पड़ती है, पुरुषार्थ करना पड़ता है, पुण्य कर्मों को क्षय करने के लिए किसी भी साधना की किंचित् भी आवश्यकता नहीं होती है, पाप कर्मों के साथ पुण्य कर्मों का स्थिति बंध स्वतः क्षय हो जाता है। इसीलिए समस्त जैन वाङ्मय में पुण्य कर्मों के क्षय करने व उनका प्रत्याख्यान करने के लिए कहीं भी किसी भी साधना का विधान नहीं है। तात्पर्य यह

---

1 चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि।
—पंचास्तिकाय, गाथा 135

2 पुण्णस्सास्वभूदा अणुकंपा सुद्धओ व उवजोगो।
—जयधवलटीका, पुस्तक 1, पृष्ठ 96

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि दया, दान आदि सकारात्मक अहिंसा धर्म है और इनसे पुण्य कर्म का उपार्जन होता है वह भी मुक्ति प्राप्ति में सहायक ही होता है, बाधक नहीं होता है।[1] इस प्रकार, दया दान आदि सकारात्मक अहिंसा मुक्ति-प्राप्ति में पूर्ण सहायक है किसी भी रूप में मुक्ति में बाधक नहीं है।

तात्पर्य यह है कि दया,दान, अनुकंपा, करुणा, उदारता, उपकार, वात्सल्य, वैयावृत्य-सेवा, आत्मीयता, मैत्री आदि अहिंसा के समस्त सकारात्मक रूप धर्म हैं, जीव के स्वभाव हैं, पाप-क्षय के हेतु हैं, अतः मुक्ति में सहायक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सब विषयों का विस्तार से विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। इसमें जो भी विवेचन किया गया है वह स्वयं-सिद्ध निजज्ञान पर आधारित है, वर्तमान जीवन से संबंधित है तथा परलोक, नरक, स्वर्ग आदि मान्यताओं व प्रस्थापनाओं से बिना जोड़े नैसर्गिक नियम के रूप में कहा गया है। इन्हीं विषयों को विशेष पुष्ट करने के लिए पुस्तक के द्वितीय खंड में तत्त्वज्ञ विद्वानों के लेख दिए गए हैं। जिनके लिए लेखक इन लेखों के लेखकों एवं प्रकाशकों का आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तक में पूर्वोक्त शंकाओं के समाधान हेतु कुछ सिद्धान्तों एवं सूत्रों को एकाधिक बार दोहराना पड़ा है। इसे पुनरुक्त दोष नहीं समझना चाहिये। कारण कि प्रस्तुत विषयों के प्रतिपादन को स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए तथा मिथ्या धारणाओं का निरसन करने के लिए प्रसंगानुसार ऐसा करना आवश्यक था। ऐसा न करने से विषय अधूरा रह जाता और जिज्ञासाओं एवं शंकाओं का सम्यक् समाधान नहीं हो सकता था।

लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि आगम व कर्म-सिद्धान्त के सूत्र नैसर्गिक नियम हैं, अतः सनातन सत्य हैं। अतः इन्हीं प्रमाणों से निर्दिष्ट विषय को स्पष्ट एवं पुष्ट किया गया है। पाठकों से निवेदन

---

1 इस विषय पर विस्तृत विवेचन लेखक की 'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक में किया जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि प्रकृत विषय पर जो प्रमाण दिए गए हैं, उन पर निष्पक्ष दृष्टि से गहन चिंतन-मनन कर आगम-सम्मत सिद्धान्तों को ही स्वीकार करें और उन्हें जीवन में उतार कर कृतकत्य हो जायें। यदि कोई तथ्य आगम-विरुद्ध लगे तो सूचित करें।

22 जनवरी, 1996

कन्हैयालाल लोढ़ा
2811, घी वालों का रास्ता
जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

□ प्रो. सागरमल जैन

अहिंसा की अवधारणा बीज रूप में सभी धर्मों में पायी जाती है। यहाँ तक कि यज्ञ-याग एवं पशुबलि के समर्थक वैदिक और यहूदी धर्म-ग्रन्थों में भी अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। चाहे ऋग्वेद में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, 6.75.14) के रूप में एक-दूसरे के संरक्षण की बात कही गयी हो अथवा यजुर्वेद में इससे भी एक कदम आगे बढ़कर 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद,36.19) के रूप में सभी प्राणियों के प्रति मित्रभाव की कामना की गई हो, फिर भी वैदिक धर्म में पशुबलि न केवल प्रचलित ही रही, अपितु 'वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति' कहकर उसका समर्थन भी किया गया। इसी प्रकार यहूदी धर्मग्रन्थ Old-Testament में भी 10 आज्ञाओं के रूप में Thou Shall not Kill 'तुम किसी की हत्या मत करो' का आदेश है। फिर भी उनके इस आदेश का अर्थ वही नहीं माना जा सकता है, जो जैन परम्परा में 'सव्वे सत्ता ण हंतव्वा' का है। यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसक चेतना का विकास या अहिंसा शब्द के अर्थ का विस्तार एक क्रम में हुआ है। शाब्दिक दृष्टि से "Thou Shall not Kill" और "सव्वे सत्ता ण हंतव्वा"—दोनों आदेशों का अर्थ यही है कि 'तुम हिंसा मत करो।' किन्तु इन आदेशों की जो व्याख्या यहूदी धर्म और जैन धर्म में की गई, वह भिन्न ही रही है। एक यहूदी के लिए इस आदेश का अर्थ स्वजातीय या स्वधर्मी बन्धु की हिंसा नहीं करने तक सीमित है। जबकि एक जैन के लिए उस आदेश का अर्थ न केवल किसी प्राणी की, अपितु पृथ्वी, जल, वायु आदि की भी हिंसा न करने तक व्यापक है। इस प्रकार जैन और यहूदी परम्पराओं में इन आदेशों का जो अर्थ-विकास हुआ है वह भिन्न-भिन्न है। यहाँ हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अहिंसा के अर्थ-विकास की यह यात्रा किसी एक कालक्रम में न होकर मानवजाति के विभिन्न वर्गों में सामाजिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो वर्ग या समाज जीवन के विविध रूपों के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना, उसने अहिंसा के अर्थ को उतना ही व्यापक अर्थ दिया। अहिंसा का यह अर्थ-विकास भी एक आयामी न होकर त्रि-आयामी है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारम्भ होकर षड्जीवनिकाय, जिसमें जल, वायु, वनस्पति आदि भी सम्मिलित हैं, की हिंसा के निषेध तक इसने अपना अर्थ-विस्तार पाया तो दूसरी ओर प्राण-वियोजन, अंग-छेदन, ताडन-तर्जन, बन्धन आदि के बाह्य रूप से लेकर द्वेष, दुर्भावना और असजगता के आन्तरिक रूपों तक इसने गहराई में प्रवेश किया और यह माना गया कि द्वेष, दुर्भावना एवं असजगता भी हिंसा है, चाहे उनसे बाह्य रूप में प्राण-वियोजन की क्रिया घटित हुई हो या नहीं। तीसरी ओर 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक रूप से लेकर करुणा, जीवन-रक्षण और सहयोग के विधायक अर्थ तक इसने अपनी यात्रा की।

प्रस्तुत परिचर्चा में हमारा मुख्य प्रतिपाद्य दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के रूप में अहिंसा का वह सकारात्मक पक्ष है जो दूसरों के जीवन-रक्षण के एवं उनके जीवन को कष्ट और पीड़ाओं से बचाने के प्रयत्नों के रूप में हमारे सामने आता है। यह सत्य है कि अहिंसा (Non-violence) शब्द अपने आप में निषेधात्मक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ हिंसा मत करो तक ही सीमित होता प्रतीत होता है, किन्तु प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के जो साठ पर्यायवाची नाम दिये गये हैं, उन साठ नामों में सम्भवतः दो-तीन को छोड़कर शेष सभी उसके सकारात्मक या विधायक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं।

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों को स्पर्श नहीं करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नहीं करना है, यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल दृष्टि है । लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैनधर्म अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तक सीमित रही है । जैन-दर्शन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त शाब्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है । उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है । अहिंसा सकारात्मक है इसका एक प्रमाण यह है कि जैनधर्म में अहिंसा के पर्यायवाची शब्द के रूप में 'अनुकम्पा' का प्रयोग हुआ है । 'अनुकम्पा' शब्द जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है । उसमें सम्यक्त्व के एक अंग के रूप में भी अनुकम्पा का उल्लेख हुआ है । अनुकम्पा शब्द मूलतः दो शब्दों से मिलकर बना है –अनु+कम्पा (कम्पन) । अभिधानराजेन्द्रकोश में अनुकम्पा शब्द की व्याख्या में कहा गया है— 'अनुरूपं कम्पते चेष्टत इति अनुकम्पा' । वस्तुतः अनुकम्पा पर-पीड़ा का स्व-संवेदन है, दूसरों की पीड़ा या दुःख की समानानुभूति है । उसी में अनुकम्पा को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि पक्षपात अर्थात् रागभाव से रहित होकर दुःखी-प्राणियों की पीड़ा को, उनके दुःख को समाप्त करने की इच्छा ही अनुकम्पा है । यदि अहिंसा की अवधारणा के साथ अनुकम्पा जुड़ी हुई है तो फिर उसे मात्र निषेधपरक मानना एक भ्रान्ति है । अनुकम्पा में न केवल दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन होता है, अपितु उसके निराकरण के सहज निःस्वार्थ प्रयत्न भी होते हैं । जब दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाय तो यह असम्भव है कि उसके निराकरण का कोई प्रयत्न न हो । वस्तुतः जीवन में जब तक अनुकम्पा का उदय नहीं होता तब तक सम्यक्-दर्शन भी सम्भव नहीं है । दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा के समतुल्य तभी हो सकती है जब हम उसका स्व-संवेदन करें । वस्तुतः दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन ही वह स्रोत है जहाँ से सम्यक्-दर्शन का प्रकटन होता है और सकारात्मक अहिंसा अर्थात् पर-पीड़ा के निराकरणार्थ सेवा की पावन गंगा प्रवाहित होती है । सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है । वस्तुतः "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एवं जीवन के विविध रूपों के प्रति संवेदनशीलता की भावना को जब हम अहिंसा का तार्किक आधार मानते हैं तो उसका अर्थ एक दूसरा रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेता है। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि एवं सहानुभूति के संयोग में अहिंसा का एक सकारात्मक पक्ष सामने आता है। अहिंसा का अर्थ मात्र किसी को पीड़ा या दुःख देना ही नहीं है, अपितु उसका अर्थ, "दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न" भी है। यदि मैं अपनी करुणा को इतना सीमित बना लूँ कि मैं किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाऊँगा तो वह सही अर्थ में करुणा नहीं होगी। करुणा का अर्थ है दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा के रूप में देखना। जब दूसरों की पीड़ा मेरी अपनी पीड़ा बन जाती है तो फिर उस पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न भी प्रस्फुटित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति यह प्रतिज्ञा कर ले कि मैं किसी की हिंसा नहीं करूँगा, किसी को कष्ट नहीं दूँगा और चाहे वह यथार्थ में इसका पालन भी करता हो, लेकिन यदि वह दूसरों की पीड़ा से द्रवीभूत होकर उनकी पीड़ा को दूर करने का प्रयत्न नहीं करता है, तो वह निष्ठुर ही कहलायेगा। वस्तुतः जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की विवेक-दृष्टि संवेदनशीलता की मनोभूमिका पर स्थित होती है तो दूसरों की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है। वस्तुतः अहिंसा का आधार मात्र तार्किक-विवेक नहीं है, अपितु भावनात्मक-विवेक है। भावनात्मक विवेक में दूसरों की पीड़ा अपनी पीड़ा होती है और जिस प्रकार अपनी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न सहज रूप से होते हैं, उसी प्रकार दूसरों की पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न भी सहज रूप में अभिव्यक्त होते हैं। दूसरों की पीड़ाओं को दूर करने के इसी सहज प्रयत्न में अहिंसा का सकारात्मक पक्ष सन्निहित है।

यदि अहिंसा में से उसका यह सकारात्मक पक्ष अलग कर दिया जाता है तो अहिंसा का हृदय ही शून्य हो जाता है। मिसेस स्टीवेन्शन ने जैन अहिंसा को जो हृदय शून्य बताया है उसके पीछे उनकी यही दृष्टि रही है। (The Heart of Jainism, p. 296) यद्यपि यह उनकी भ्रान्ति ही थी, क्योंकि उन्होंने जैनधर्म में निहित अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को, जो न केवल सिद्धान्त में अपितु व्यवहार में भी आज तक जीवित है, देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन्होंने मात्र अपने काल के सम्प्रदाय-विशेष के कुछ जैन मुनियों के आचार, व्यवहार और उपदेश के आधार पर ऐसा निष्कर्ष निकाल लिया था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष की प्रमुखता के आगमिक आधार

यह सत्य है कि श्रमण-परम्परा ने और विशेष रूप से जैनधर्म ने अहिंसा के अर्थ-विस्तार को एक व्यापकता प्रदान की है। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि इस अहिंसा के अर्थ-विस्तार के साथ अनेक दार्शनिक समस्यायें भी उत्पन्न हुईं। अहिंसा के क्षेत्र का विस्तार करते हुए जब एक ओर यह मान लिया गया कि जीवन के किसी भी रूप को दुःख या पीड़ा देना अथवा उसके अहित और अकल्याण का चिन्तन करना हिंसा है, साथ ही दूसरी ओर यह भी स्वीकार कर लिया गया कि न केवल मनुष्य-जगत्, पशु-जगत् और वनस्पति-जगत् में जीवन है, अपितु पृथ्वी, जल, वायु आदि भी जीवन-युक्त हैं, तो यह समस्या उत्पन्न हुई कि जब जीवन के एक रूप के अस्तित्व के लिए उसके दूसरे रूपों का विनाश या हिंसा अपरिहार्य हो तो ऐसी स्थिति में चुनाव हिंसा और अहिंसा के बीच न करके दो हिंसाओं के बीच ही करना पड़ेगा। जिन चिन्तकों ने जीवन के सभी रूपों को समान मूल्य और महत्त्व का समझा, उन्हें अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा करनी पड़ी। क्योंकि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् सेवा, दान, परोपकार आदि की सभी क्रियाएँ प्रवृत्त्यात्मक हैं और प्रवृत्ति, जैन पारिभाषिक शब्दावली में योग, चाहे किसी भी रूप में क्यों न हो उसमें कहीं न कहीं हिंसा/आस्रव का तत्त्व तो होता ही है। यदि हम प्रवृत्ति के पूर्ण निषेध को ही साधना का लक्ष्य मानें, तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से अहिंसा की अवधारणा निषेधमूलक होगी। ज्ञातव्य है कि उन सभी धर्मों के लिए जिन्होंने पृथ्वी, जल, वायु,वनस्पति आदि में जीवन ही नहीं माना अथवा यह मान लिया कि जीवन के ये विविध रूप समान मूल्य या महत्त्व के नहीं हैं अथवा यह कि परमात्मा ने जीवन के इन दूसरे रूपों को मनुष्य के उपयोग के लिए ही बनाया है, उन्हें अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आई। समस्या केवल उनके लिए थी, जो जीवन के इन विविध रूपों को समान मूल्य या महत्त्व का मान रहे थे।

यह सत्य है कि जैन-परम्परा में निवृत्ति और जीवन के विविध रूपों की समानता पर अधिक बल दिया गया और परिणामस्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म में अहिंसा का निषेधात्मक पक्ष अधिक प्रमुख बना। विशेष रूप से उन जैन श्रमणों के लिए जो निवृत्यात्मक साधना को ही जीवन का एक मात्र उच्चादर्श मान रहे थे। उनके जीवन-व्यवहार एवं आचार-नियमों को इस रूप में ढाला गया कि वे मुख्य रूप से अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष के समर्थक बन कर रह गये। जैनधर्म के प्राचीनतम आगम ग्रन्थों में ऐसे कुछ सन्दर्भ अवश्य हैं जो अहिंसा के नकारात्मक पहलू को ही प्रमुखता देते हैं। सूत्रकृतांग (1/11/18-20) में एक उल्लेख है कि जब मुनि से कोई गृहस्थ यह पूछे कि मैं दानशाला आदि बनवाना चाहता हूँ, इसमें आपकी क्या सम्मति है? तो मुनि उस समय मौन रहे। सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि यदि मुनि उसकी उस प्रवृत्ति का समर्थन करता है तो उसमें होने वाली पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि की प्रत्यक्ष हिंसा एवं द्वीन्द्रिय आदि जीवों की परोक्ष हिंसा का भागीदार बनता है। इसके विपरीत यदि वह उस दानादि की प्रवृत्ति का निषेध करता है तो वह उसके द्वारा जिन प्राणियों का कल्याण, हित एवं सुख होने वाला है उसमें बाधक बनता है। अतः दोनों ही स्थितियों में कहीं न कहीं हिंसा का कोई तत्त्व अवश्य ही रहता है। यही कारण था कि ऐसी स्थिति में उसे मौन रहने की सम्मति दी गयी। जैनागमों का प्रसंग एक ऐसा प्रसंग है जिसे सामान्य रूप से अहिंसा के नकारात्मक पक्ष की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किया जाता रहा है। किन्तु इस आधार पर जैनधर्म में अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या को स्वीकार करना भी एक भ्रान्ति ही होगी, क्योंकि हिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के साथ-साथ जैन आगमों में ऐसे भी उल्लेख हैं, जो अनिवार्य बनी हिंसा में अल्प हिंसा को वरेण्य मानते हैं।

यह सत्य है कि सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवन-रक्षण, सेवा, दान, परोपकार आदि के प्रयत्नों में कहीं न कहीं हिंसा का तत्त्व अवश्य उपस्थित रहता है, क्योंकि ये सब प्रवृत्त्यात्मक हैं। जहाँ प्रवृत्ति है वहां क्रिया (योग) होगी, जहाँ क्रिया होगी वहाँ आस्रव होगा और जहाँ आस्रव होगा वहाँ बन्ध भी होगा। जहाँ बन्ध होगा वहाँ हिंसा होगी, चाहे वह स्व-स्वरूप की हिंसा ही क्यों न हो?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बस इस तर्क शैली ने अहिंसा की निषेधमूलक व्याख्या को बल दिया।

प्रथम प्रश्न तो यह है कि क्या जैनधर्म एकान्त रूप से निवृत्यात्मक ही है? दूसरे क्या समाधिमरण के अन्तिम क्षणों को छोड़कर जीवन में प्रवृत्ति का पूर्ण निषेध सम्भव है? क्या महावीर का उपदेश एकान्त रूप से निवृत्ति या श्रमण जीवन के लिए ही है? क्या जीवन के सभी रूप समान मूल्य एवं महत्त्व के हैं?

जैन दर्शन की अनेकान्तिक दृष्टि

आयें इन प्रश्नों पर थोड़ी गम्भीरता से चर्चा करें। जैनधर्म और दर्शन मूलतः अनेकान्त दृष्टि पर अधिष्ठित है और अनेकान्त दृष्टि कभी भी एकपक्षीय नहीं होती। दूसरे जब तक जीवन है, तब तक पूर्ण रूप से निवृत्ति सम्भव नहीं है। प्रवृत्ति प्राणीय जीवन या हमारे जातीय अस्तित्व का लक्षण है। गीता (3/5) में भी कहा गया है कि जीवन में कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता जिसमें प्राणी कर्म या क्रिया से पूर्णतः निवृत्त होते हैं। प्रवृत्ति प्राणी-जीवन की अनिवार्यता है। जब तक हमारा सांसारिक अस्तित्व रहता है, कहीं-न-कहीं प्रवृत्ति होती ही रहती है; पूर्ण निवृत्ति का आदर्श चाहे कितना ही उच्च क्यों न हो? वह एक आदर्श ही है, यथार्थ नहीं। जैनदर्शन के अनुसार निर्वाण प्राप्ति के कुछ क्षण पूर्व के सांसारिक अस्तित्व को छोड़कर पूर्ण निवृत्ति का आदर्श कभी भी यथार्थ नहीं बनता है। चाहे हम मुनि जीवन ही क्यों नहीं जीयें—पूर्ण अहिंसा का पालन तो वहाँ भी सम्भव नहीं है। शारीरिक गतिविधियों, श्वसन, आहार-विहार और शारीरिक मलों के विसर्जन आदि सभी में कहीं-न-कहीं हिंसा होती तो अवश्य है। यथार्थ जीवन में प्रवृत्ति से या क्रिया से पूर्ण रूप से निवृत्त हो पाना सम्भव ही नहीं है और यदि यह सम्भव नहीं है, तो ऐसी स्थिति में हमें प्रवृत्ति के उन रूपों को ही चुनना होगा, जिनमें हिंसा अल्पतम हो। जब प्रवृत्ति या हिंसा जीवन की एक अपरिहार्यता है, तो हमें यह विचारना होगा कि हमारी प्रवृत्ति की दशा ऐसी हो जिसमें हिंसा कम-से-कम हो। वह हिंसा कर्म-आस्रव या कर्मबन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का हेतु न बने। यहीं से सकारात्मक अहिंसा को एक आधार मिलता है।

सकारात्मक अहिंसा : विषमिश्रित दूध नहीं

सकारात्मक अहिंसा में निश्चित रूप से अंशतः हिंसा का कोई-न-कोई रूप समाविष्ट होता है, किन्तु उसे विष-मिश्रित दूध कहकर त्याज्य नहीं कहा जा सकता। उसमें चाहे हिंसा रूपी विष के कुछ कण उपस्थित हों, कन्तु ये विष-कण विषौषधि के समान मारक नहीं, तारक होते हैं। जिस प्रकार विष की मारक शक्ति को समाप्त करके उसे औषधि रूपी अमृत में बदल दिया जाता है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा में जो हिंसा या रागात्मकता के रूप परिलक्षित होते हैं, उन्हें विवेकपूर्ण कर्त्तव्य भाव के द्वारा बन्धन के स्थान पर मुक्ति के साधन के रूप में बदला जा सकता है। जिस प्रकार विष से निर्मित औषधि अस्वास्थ्यकर न होकर आरोग्यप्रद ही होती है, उसी प्रकार सकारात्मक अहिंसा भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आरोग्यकर ही होती है। जब हम अपने अस्तित्व के लिए अपने जीवन के रक्षण के लिए प्रवृत्ति और तज्जन्य आंशिक हिंसा को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमारे इस तर्क का कोई आधार नहीं रह जाता कि हम सकारात्मक अहिंसा को इसलिए अस्वीकार करते हैं कि उसमें हिंसा का तत्त्व होता है और वह विष-मिश्रित दूध है। अपने अस्तित्व के लिए की गई हिंसा क्षम्य है तो दूसरों के अस्तित्व या रक्षण हेतु की गई हिंसा क्षम्य क्यों नहीं होगी ?

पुनः दूसरों के अस्तित्व के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियों में हमें रागात्मकता लगे तो क्या अपने हेतु की गयी वृत्ति में रागात्मकता नहीं होगी। जब प्रवृत्ति या क्रिया से पूर्ण निवृत्ति सम्भव ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में क्रिया को वह रूप देना होगा जो बन्धन और हिंसा के स्थान पर विमुक्ति और अहिंसा से जुड़े। मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से की गई परोपकार की प्रवृत्ति ही ऐसी है जो हमारी प्रवृत्ति को बन्धक से अबन्धक बना सकती है।

यही कारण था कि जैन-परम्परा में ईर्यापथिक क्रिया और ईर्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथिक बन्ध की अवधारणा अस्तित्व में आयी। ये बाह्य रूप से चाहे क्रिया और बन्ध कहे जाते हों, किन्तु ये वस्तुतः बन्धन के नहीं, विमुक्ति के ही सूचक हैं। तीर्थंकर की लोककल्याण की समस्त प्रवृत्तियाँ भी ईर्यापथिक क्रिया और ईर्यापथिक बन्ध मानी गयी हैं। उनका प्रथम समय में बन्ध होता है और द्वितीय समय में निर्जरा हो जाती है। इस प्रकार वीतराग पुरुष की प्रवृत्ति रूप क्रिया के द्वारा जो आस्रव और बन्ध होता है उसका स्थायित्व एक क्षण भी नहीं होता है। उत्तराध्ययनसूत्र (25/42) में कहा है कि जैसे गीली मिट्टी का गोला दीवाल पर फेंकने से चिपक जाता है, किन्तु सूखी मिट्टी का गोला नहीं चिपकता, अपितु तत्क्षण गिर जाता है उसी प्रकार की स्थिति वीतरागभाव या निष्काम भाव से की गयी क्रियाओं की होती है। उनसे जो आस्रव होता है वह आत्मप्रदेशों से मात्र स्पर्शित होता है वस्तुतः बन्धक नहीं होता। बन्धन का मूल कारण तो राग-द्वेष या कषायजन्य प्रवृत्ति है। अतः निष्काम भाव से लोक-मंगल के लिए दूसरों के दुःखहरण के हेतु सेवा, परोपकार आदि जो प्रवृत्ति की जाती है वह क्रिया रूप होकर के भी बन्धक नहीं है और इस प्रकार जो लोग 'सकारात्मक अहिंसा' में बन्धन की सम्भावनाओं को देखते हैं, उनका चिन्तन सम्यक् नहीं है।

तीर्थंकरों की जीवन शैली और सकारात्मक अहिंसा

जैन-परम्परा में तीर्थंकर का पद सर्वोच्च माना जाता है। उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन के जिन कारणों की चर्चा हुई उनमें हम देखते हैं कि सेवा और वात्सल्यमूलक प्रवृत्तियों को सबसे प्रमुख स्थान मिला है। उसमें वृद्ध, ग्लान-रुग्ण, बालक आदि की सेवा का स्पष्ट निर्देश है। यही नहीं परम्परागत रूप में तीर्थंकर जीवन की जिन विशेषताओं की चर्चा की जाती है उनमें हम पाते हैं कि प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षित होने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। यह अवधारणा स्वतः ही इस तथ्य की सूचक है कि दान और सेवा की प्रवृत्ति तीर्थंकरों के द्वारा आचरित एवं अनुमोदित है। जैन कथा-साहित्य में यह बताया गया है कि भगवान शान्तिनाथ ने अपने पूर्वभव में एक कबूतर की रक्षा करते हुए अपने शरीर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मांस तक दे दिया था। इस प्रकार अन्य तीर्थंकरों के जीवनवृत्तों में भी प्राणियों के जीवनरक्षण के साथ-साथ उनकी सेवा, दान आदि की प्रवृत्ति के उदाहरण देखे जा सकते हैं। स्वयं महावीर ने दीक्षित होने के पश्चात् न केवल निर्धन ब्राह्मण को अपना वस्त्र दान कर दिया, अपितु शीतलेश्या फेंक कर मिथ्यादृष्टि गोशालक की जीवन-रक्षा भी की।

मात्र यही नहीं, केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी तीर्थंकर मुख्यतः लोककल्याण हेतु ही पदयात्रा करते हुए अपना प्रवचन देते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् तीर्थंकर के जीवन में ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जो उनके लिए प्राप्तव्य हो। प्रश्नव्याकरण में स्पष्ट कहा गया है कि— "सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं सुकहियं" (2/1) अर्थात् भगवान ने समस्त जागतिक जीवों के रक्षण और दया के हेतु ही अपना उपदेश दिया। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वीतराग परमात्मा में भी लोकमंगल व लोककल्याण की भावना उपस्थित रहती है। यदि यह लोकमंगल की वृत्ति रागात्मक होती तो फिर वीतराग में यह कैसे उपस्थित रह सकती थी। इसका एक तात्पर्य यह है कि संयमी जीवन में भी अपनी मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति लोकमंगल की प्रवृत्तियों से जुड़ा रह सकता है।

क्या पुण्यकर्म बन्धन के हेतु हैं ?

सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवों की रक्षा और सेवा तथा उस हेतु की जाने वाली दान-परोपकार आदि की प्रवृत्तियों के महत्त्व और मूल्य को स्वीकारने में सबसे अधिक बाधक अवधारणा यह है कि परोपकार, सेवा और प्राणिकल्याण की अन्य सभी प्रवृत्तियाँ पुण्य-बन्ध की हेतु हैं, निर्जरा की हेतु नहीं और बन्धन चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह बन्धन ही है और इसलिए अध्यात्म-साधना का विरोधी है। पुण्य को भी बन्धन का हेतु मानकर इन विचारकों ने अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की। आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का अन्तर स्पष्ट करते हुए पुण्य को सोने की और पाप को लोहे की बेड़ी कहा और अन्त में पुण्य और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप दोनों से ऊपर उठने की बात कही है (समयसार, 146)। यह सत्य है कि पुण्य और पाप की अधिकांश परिभाषाएँ इस अवधारणा पर खड़ी हैं कि दया और जीवन-रक्षण के जो कार्य हैं, वे पुण्य हैं और जो दूसरों के अहित और दुःख के कार्य हैं, वे पाप हैं। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।" गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है "परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीडा सम नहिं अधमाई।" यह सत्य है कि परोपकार पुण्य है और तत्त्वार्थसूत्र (6/2-4) में उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनों को को आस्रव का एक भेद भी माना है और आस्रव को बन्ध का हेतु मानने के कारण बाद में यह अवधारणा दृढीभूत हो गयी कि पुण्य बन्धन का ही हेतु है। किन्तु यह दृष्टिकोण जैन सिद्धान्त की दृष्टि से भी भ्रामक ही है। प्रथम तो सभी आस्रव वस्तुतः बन्धन के कारण नहीं होते हैं दूसरे यह मानना भी भ्रान्ति है कि पुण्य मात्र आस्रव है। प्राचीन आगमों में वह स्वतन्त्र तत्त्व है। वह आस्रव और बन्ध है तो साथ ही संवर और निर्जरा भी है। जैन आचार्यों ने शुभयोग को संवर माना है। वह निर्जरा भी है और निर्जरा का हेतु भी है। पुण्य तो उस साबुन के समान है जो पाप रूपी मल को निकालने के साथ स्वतः बिना प्रयास के निर्जरित हो जाता है। ज्ञातव्य है कि पाप के बन्ध की निर्जरा करना होती है। पुण्य तो स्वतः निर्जरित हो जाता है।

यह सत्य है कि यदि सेवा, परोपकार और जीवों के रक्षण के पीछे रागात्मकता का भाव है तो वे बन्धन के कारण हैं, किन्तु सेवा, परोपकार और जीवों के रक्षण की सभी प्रवृत्तियाँ रागात्मकता से ही प्रेरित होकर नहीं होती हैं, अपितु वे परपीड़ा के स्वसंवेदन के कारण भी होती हैं। जब दूसरों के प्रति आत्मवत् दृष्टि का विकास हो जाता है तो उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है और ऐसी स्थिति में जिस प्रकार अपनी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न होते हैं, उसी प्रकार दूसरों की पीड़ा को दूर करने के भी प्रयत्न होते हैं। ज्ञानात्मक दृष्टि से आत्मतुल्यता का विचार और भावात्मक दृष्टि से परपीड़ा का स्व-संवेदन स्वाभाविक रूप से लोक-कल्याण की प्रवृत्तियों को अर्थात् रक्षण, सेवा, दान, परोपकार आदि को जन्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं। अतः यह मानना भ्रान्त है कि लोक-कल्याण की सभी प्रवृत्तियों के पीछे राग-भाव होता है। व्यावहारिक जीवन में भी ऐसे अनेक अवसर होते हैं जब दूसरे प्राणी की पीड़ा से हमारी अन्तरात्मा करुणार्द्र हो जाती है और हम उसकी पीड़ा को दूर करने के प्रयत्न करते हैं। वहां रागात्मकता नहीं होती है। वहाँ केवल विवेक-बुद्धि और परपीड़ा के स्व-संवेदन से उत्पन्न कर्तव्यता का भाव ही होता है, जो उस सकारात्मक अहिंसा का प्रेरक होता है। दूसरों के प्रति रागात्मकता में और कर्तव्य-बोध में बड़ा अन्तर होता है। राग के साथ द्वेष अवश्य रहता है। जबकि कर्तव्य-बोध में उसका अभाव होता है। किसी राहगीर की पीड़ा से जो हृदय द्रवित होता है, वह राग के कारण नहीं, अपितु परपीड़ा के स्व-संवेदन या आत्मतुल्यता के भाव के कारण होता है। पालतू कुत्ते की पीड़ा को दूर करने में और किसी सड़क पर पड़े कुत्ते की पीड़ा को दूर करने में अन्तर है। पहले में रागभाव है, दूसरे में मात्र परपीड़ा का आत्मसंवेदन। जब दूसरों के रक्षण, पोषण, सेवा और परोपकार के कार्य मात्र कर्त्तव्य बुद्धि अथवा परपीड़ा के आत्मसंवेदन से होते हैं, तो उनमें रागात्मकता का तत्त्व नहीं होता और यह सुस्पष्ट है कि रागात्मकता के अभाव में चाहे कोई क्रिया कर्मास्रव का कारण भी बने तो भी वह बन्धन कारक नहीं हो सकती, क्योंकि उत्तराध्ययन (32/7) आदि जैन ग्रन्थों में बन्धन का मुख्य कारण राग और द्वेष की वृत्तियाँ ही मानी गयी हैं। दूसरों के रक्षण और सम्पोषण के प्रयत्नों में चाहे किसी सीमा तक हिंसा की बाह्य प्रवृत्ति भी हो सकती है, किन्तु वह यथार्थ रूप में बन्धन का हेतु नहीं है। यदि हम ऐसी प्रवृत्तियों को बन्धन रूप मानेंगे तो फिर तीर्थंकर की लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों अर्थात् लोकमंगल के लिए विहार और उपदेश के कार्य को भी बन्धन का हेतु मानना होगा, किन्तु आगम के अनुसार उपदेश संसार के जीवों के रक्षण के लिए होता है, वह बन्धन का निमित्त नहीं होता है।

निष्कामकर्म बन्धक नहीं

इस समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि पुण्य कर्म यदि मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्त्तव्य बुद्धि से अथवा राग-द्वेष से ऊपर उठकर किये जाते हैं तो वे बन्धक नहीं हैं। पुण्य बन्ध का कारण केवल तभी बनता है जब वह रागभाव से युक्त होता है। ज्ञातव्य है कि अपने किसी परिजन के रक्षण के प्रयत्नों की ओर मार्ग में चलते हुए पीड़ा से तड़फते किसी प्राणी के रक्षण के प्रयत्नों की मनोभूमिका कभी भी एक ही स्तर की नहीं होती है। प्रथम स्थिति में रक्षण के समस्त प्रयत्न रागभाव से या ममत्वबुद्धि से प्रतिफलित होते हैं, जबकि दूसरी स्थिति में आत्मतुल्यता के आधार पर परपीड़ा का स्व-संवेदन होता है और यह परपीड़ा का स्व-संवेदन अथवा कर्त्तव्य बुद्धि ही व्यक्ति को परोपकार या पुण्य कर्म हेतु प्रेरित करती है।

जैन परम्परा में सम्यग्दृष्टि जीव के आचरण के सम्बन्ध में कहा गया है— सम्यक् दृष्टि जीवडा करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर सू न्यारो रहे ज्यूं धाय खिलावे बाल॥

यह अनासक्त दृष्टि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः अलिप्तता और निष्कामता ही एक ऐसा तत्त्व है, जो किसी कर्म की बन्धक शक्ति को समाप्त कर देता है। जहाँ अलिप्तता है, निष्कामता है, वीतरागता है, वहाँ बन्धन नहीं। जिस पुण्य को बन्धन कहा जाता है वह पुण्य रागात्मकता से संपृक्त पुण्य है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि विश्व में समस्त प्रवृत्तियाँ राग से ही प्रेरित होती हैं। अनेक प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से फलित होती है। दूसरे की पीड़ा हमारी पीड़ा इसलिए नहीं बनती है कि उसके प्रति हमारा रागभाव होता है, अपितु आत्मतुल्यता का बोध ही हमारे द्वारा उसकी पीड़ा के स्व-संवेदन का कारण होता है। जब किसी शहर में पीड़ा से तड़फते किसी मानव को सड़क पर पड़ा हुआ देखते हैं तो हम करुणार्द्र हो उठते हैं—यहाँ कौन-सा रागभाव होता है। जो लोग दूर-दराज के गाँवों में जाकर चिकित्सा शिविर लगवाते हैं—उनमें जो भी आते हैं, क्या उनके प्रति शिविर लगवाने वाले व्यक्ति का कोई राग-भाव होता है? वह तो यह भी नहीं जानता है कि उसमें कौन लोग आयेंगे, फिर उन अज्ञात लोगों के प्रति उसमें राग-भाव कैसे हो सकता है? अतः यह एक भ्रान्त धारणा है कि रक्षा, सेवा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परोपकार आदि प्रवृत्तियों के पीछे सदैव रागभाव होता है। जब राग नहीं होता है तो द्वेष भी नहीं होता है और जहाँ राग-द्वेष का अभाव होता है वहाँ बन्धन सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार एक डाक्टर जब किसी रोगी के सड़े हुए अंग का आपरेशन करके उसे निकालता है तो उसमें उस सड़े हुए अंग में निहित कीटाणुओं के प्रति द्वेष और रोगी के प्रति राग नहीं होता है, मात्र बचाने का भाव होता है। किसी प्यासे को पानी पिलाते समय हमें न तो जल के जीवों के प्रति द्वेष होता है और न प्यासे के प्रति राग। अतः सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ राग-द्वेष से प्रेरित नहीं होती है, अतः वे बन्धक भी नहीं होती हैं।

वस्तुतः सकारात्मक अहिंसा अर्थात् जीवन-रक्षण, सेवा, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ रागात्मकता पर आधारित न होकर "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना पर आधारित होती हैं। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की यह अनुभूति तब तक यथार्थ नहीं बनती जब तक कि व्यक्ति के लिए दूसरों के पीड़ा और दुःख अपने नहीं बन जाते। यद्यपि जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि संसार के सभी प्राणी मेरे ही समान हैं। आचारांगसूत्र (1/5/5) में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि "जिसे तू दुःख देना चाहता है वह तू ही है।" यहाँ विवेक और संवेदनशीलना के आधार पर ही "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना को खड़ा किया गया है। वह मात्र तार्किक नहीं है। जब तक संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् भाव उत्पन्न नहीं होता है तब तक अहिंसा का अंकुर प्रकट ही नहीं हो सकता। अहिंसा के लिए रागात्मकता नहीं आत्मवत् दृष्टि आवश्यक है। क्योंकि यदि रागात्मकता सकारात्मक अहिंसा का आधार होगी तो व्यक्ति केवल अपनों की सेवा में प्रवृत्त होगा, दूसरों की सेवा में नहीं। सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षा, सेवा आदि का आधार न तो प्रत्युपकार की भावना या स्वार्थ होता है और न राग। वह खड़ी होती है—विवेकजन्य कर्तव्य बोध के आधार पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या जीवन के सभी रूप समान महत्त्व के हैं ?

अहिंसा की नकारात्मक व्याख्या के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार यह अवधारणा रही कि जीवन के विविध रूप समान मूल्य और महत्त्व के हैं। परिणामस्वरूप जीवन के एक रूप को बचाने में दूसरे रूपों की हिंसा अपरिहार्य होने पर जीवन-रक्षण के प्रयत्न को ही पाप या हिंसा में परिगणित कर लिया गया। यह सत्य है कि एक के जीवन के रक्षण एवं पोषण के लिये दूसरे जीवनों की कुर्बानी करनी ही पड़ती है। यदि हम एक वृक्ष या पौधे को जीवित रखना चाहते हैं तो उसे पानी तो देना ही होगा। वनस्पतिकाय के संरक्षण और वर्धन के लिए पृथ्वीकाय, अप्काय और वायुकाय की हिंसा अपरिहार्य रूप से होगी। यदि हम किसी त्रस प्राणी के जीवन-रक्षण का कोई प्रयत्न करते हैं, तो हमें न केवल वनस्पतिकाय की अपितु पृथ्वीकाय, अप्काय आदि की हिंसा से जुड़ना होगा। इस संसार में जीवन जीने की व्यवस्था ही ऐसी है कि जीवन का एक रूप दूसरे रूप के आश्रित है और उस दूसरे रूप की हिंसा के बिना हम प्रथम रूप को जीवित नहीं रख सकते। यह समस्या प्राचीन जैनाचार्यों के समक्ष भी आयी थी। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने हिंसा के अल्प-बहुत्व के सिद्धान्त के आधार पर किया।

हिंसा के अल्प-बहुत्व की यह अवधारणा मुख्यतः दो दृष्टि से विचारित की गयी है –प्रथमतः उस हिंसा-अहिंसा के पीछे रही हुई मनोवृत्ति या प्रेरक तत्त्व के आधार पर जो दो प्रकार का हो सकता है–1. विवेक पर आधारित और 2. भावना पर आधारित और दूसरे प्राण-वध के स्वरूप के आधार पर। विवेक पर आधारित कर्म के प्रेरक तत्त्व या मनोभूमिका में मूलतः यह बात देखी जाती है कि वह कर्म क्यों किया जा रहा है। वह कर्त्तव्य-बुद्धि से किया जा रहा है या स्वार्थ-बुद्धि से। मात्र कर्त्तव्य-बुद्धि से रागात्मकता के अभाव में जो कर्म किये जाते हैं वे ईर्यापथिक होते हैं। दूसरे शब्दों में उनके द्वारा होने वाला बन्धन नहीं होता है। इसके विपरीत जो कर्म स्वार्थपूर्ति के लिए होते हैं वे कर्मबन्धक होते हैं। यह सम्भव है कि व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय हिंसा हो या उसे हिंसा करनी पड़े, किन्तु राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर मात्र कर्त्तव्य के परिपालन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने वाली हिंसा बंधक या अनुचित नहीं होती। उदाहरण के रूप में जैन मुनि आवश्यक क्रिया करते समय, प्रतिलेखन करते समय या पद यात्रा करते समय जो शारीरिक क्रियायें करता है उसमें हिंसा तो होती ही है। चाहे कितनी ही सावधानी क्यों न रखी जाय ये सभी क्रियायें हिंसा से रहित नहीं हैं फिर भी इन्हें मुक्ति का ही साधन माना जाता है, बन्धन का कारण नहीं। व्यावहारिक क्षेत्र में न्यायाधीश समाज-व्यवस्था और अपने देश के कानून के अन्तर्गत कर्तव्य बुद्धि से अपराधी को दण्ड देता है, यहां तक कि मृत्युदण्ड भी देता है। क्या हम न्यायाधीश को मनुष्य की हत्या का दोषी मानेंगे ? वह तो अपने नियम और कर्त्तव्य से बंधा होने के कारण ही ऐसा करता है। अतः उसके आदेश से हिंसा की घटना होने पर भी वह हिंसक नहीं माना जाता। अतः मनोभूमिका की दृष्टि से जब तक अन्तर में कषाय भाव या द्वेष-बुद्धि न हो तब तक बाह्य रूप में घटित हिंसा की क्रिया न तो बन्धक होती है और न अनुचित। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा था कि बाहर में हिंसा की घटना घटित हो या न हो, प्रमत्त या कषाययुक्त व्यक्ति नियमतः हिंसक ही होता है। इसके विपरीत बाह्य रूप से हिंसा की घटना घटित होने पर भी कषायरहित अप्रमादी मुनि नियमतः अहिंसक ही होता है। इसलिए यह मानना कि सकारात्मक अहिंसा में बाह्य रूप से हिंसा की घटना होती है, अतः वह अनुचित है —एक भ्रान्त दृष्टिकोण है। हिंसा की घटना घटित होने पर भी यदि कर्त्ता ने वह कर्म मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया है, उसके मन में दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का भाव नहीं है, तो वह हिंसक नहीं माना जा सकता। जो कर्म विवेकपूर्वक और निष्काम भाव से किये जाते हैं उनमें हिंसा अल्प या अत्यल्प होती है। भावना या रागात्मकता की स्थिति में भी जो प्रशस्त राग-भाव है उसमें हिंसा अल्प मानी गई है।

हिंसा-अहिंसा के अल्प-बहुत्व के विचार के सन्दर्भ में दूसरा दृष्टिकोण यह है कि यदि दो हिंसाओं के विकल्प में एक का चुनाव करना हो तो हमें अल्प हिंसा को चुनना होगा और उस अल्प हिंसा का आधार जैन आचार्यों ने प्राणियों की संख्या न मान कर उनके ऐन्द्रिक विकास को माना है। यदि हजारों एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना हो तो जैनाचार्यों की दृष्टि में हजारों एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय प्राणी की हिंसा अधिक भयंकर मानी गयी है।

स्वयं महावीर के युग में भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि अनेक एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा में कौन-सी हिंसा अल्प है ? उनके युग में हस्ति-तापसों का एक वर्ग था जो यह कहता था कि हम तो वर्ष में केवल एक हाथी को मारते हैं और उसके माँस से पूरे वर्ष अपनी आजीविका की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार हम सबसे कम हिंसा करते हैं (सूत्रकृतांग 2/6/53-54)। इस विचारधारा का स्वयं महावीर ने खंडन किया और बताया कि यह अवधारणा भ्रांत है। भगवतीसूत्र में इस प्रश्न पर और भी अधिक गम्भीरता से विचार हुआ है। उसमें बताया गया है कि अनेक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा और उनमें भी एक ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट होती है (भगवतीसूत्र 9/34/106-107)। अतः जैन दृष्टिकोण से हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियों की संख्या पर नहीं, उनके ऐन्द्रियक एवं आध्यात्मिक विकास पर निर्भर करता है। जब चुनाव दो हिंसाओं के बीच करना हो तो हमें चुनाव अल्प हिंसा का ही करना होगा और इसमें हिंसा का अल्प-बहुत्व प्राणियों की संख्या पर नहीं उनके ऐन्द्रियक विकास पर ही निर्भर करेगा।

यदि हम एक ओर यह मानें कि अपने जीवन-रक्षण हेतु हम एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा कर सकते हैं और उसका हमें अधिकार है और दूसरी ओर यह कहें कि चूँकि दूसरे प्राणियों के रक्षण, पोषण, सेवा आदि की प्रवृत्तियों में एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा जुड़ी हुई है अतः त्याज्य है, तो यह आत्म-प्रवंचना ही होगी। गृहस्थ जीवन तो क्या मुनि-जीवन में भी कोई व्यक्ति एकेन्द्रिय जीवों के प्रति पूर्ण अहिंसक नहीं हो पाता है। अतः एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से बचने के नाम पर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना न तो उचित है और न नैतिक ही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकारात्मक अहिंसा और सामाजिक जीवन

सकारात्मक अहिंसा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि वह हमारे सामाजिक जीवन का आधार है। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' सामाजिक जीवन से अलग होकर उसके अस्तित्व की कल्पना ही दुष्कर है। सकारात्मक अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में हम समाज की कोई कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। समाज जब भी खड़ा होता है तब आत्मीयता, प्रेम, पारस्परिक सहयोग और दूसरे के लिए अपने हित-त्याग के आधार पर खड़ा होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है कि एक दूसरे का हित करना यह प्राणीय-जगत का नियम है (परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थसूत्र 5.21)। पाश्चात्य चिन्तकों की यह भ्रान्त अवधारणा है कि संघर्ष प्राणीय जगत् का नियम है। जीवन का नियम संघर्ष नहीं, सहकार है। जीवन सहयोग और सहकार की स्थिति में ही अस्तित्व में आता है और विकसित होता है। सहयोग और अपने हितों का दूसरे के हेतु उत्सर्ग समाज-जीवन का आधार है। दूसरे शब्दों में समाज सदैव ही सकारात्मक अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। निषेधात्मक अहिंसा चाहे वैयक्तिक साधना का आधार हो, किन्तु वह सामाजिक जीवन का आधार नहीं हो सकती। आज जिस अहिंसक समाज की रचना की बात कही जाती है, वह समाज जब भी खड़ा होगा सकारात्मक अहिंसा के आधार पर ही खड़ा होगा। जब तक समाज के सदस्यों में एक-दूसरे की पीड़ा को समझने और उसे दूर करने के प्रयत्न नहीं होंगे तब तक समाज अस्तित्व में ही नहीं आ पायेगा। सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हमें दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन हो और उनके प्रति आत्मीयता का भाव हो।

सामान्य रूप से इस आत्मीयता को रागात्मकता समझने की भूल की जाती है। किन्तु आत्मीयता एवं रागात्मकता में अन्तर है। रागात्मकता सकाम होती है, उसके मूल में स्वार्थ का तत्त्व विद्यमान होता है, वह प्रत्युपकार की अपेक्षा रखती है, जबकि आत्मीयता निष्काम होती है, उसमें मात्र परार्थ की वृत्ति होती है। यही कारण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था कि प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के जो विविध नाम दिये गये उसमें रति को भी स्थान दिया गया। यहाँ रति का अर्थ वासनात्मक प्रेम या द्वेषमूलक राग-भाव नहीं हैं, यह निष्काम प्रेम है। वस्तुतः जब आत्मीयता का भाव प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखता हो और वह सार्वभौम हो, तो आत्मीयता कहलाता है। वस्तुतः जब तक अन्य जीवों के साथ समानता की अनुभूति, उनके जीवन जीने के अधिकार के प्रति सम्मान-वृत्ति और उनकी पीड़ाओं का स्व-संवेदन नहीं होता तब तक अहिंसक चेतना का उद्भव भी नहीं होता। अहिंसक चेतना का मूल आधार आत्मीयता की अनुभूति है। वह सार्वभौमिक प्रेम है। वह ऐसा राग-भाव है जिसमें द्वेष का कोई अंश ही नहीं होता है। जिसमें संसार के समस्त प्राणी 'स्व' ही होते हैं, 'पर' कोई भी नहीं होता है। वस्तुतः ऐसा राग, राग ही नहीं होता है। राग सदैव द्वेष के सहारे जीवित रहता है। द्वेष, स्वार्थ और प्रत्युपकार की आकांक्षा से रहित जो राग-भाव है वह सार्वभौमिक प्रेम होता है। वही आत्मीयता है और यह आत्मीयता ही सामाजिकता का आधार है। घृणा, विद्वेष और आक्रामकता की वृत्तियाँ सदैव ही सामाजिकता की विरोधी होती हैं। वे हिंसा का ही दूसरा रूप हैं। ये वृत्तियाँ जब भी बलवती होंगीं, सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जाएगी, समाज ढह जावेगा। समाज जब भी खड़ा होगा तब वह न तो हिंसा के आधार पर खड़ा होगा और न मात्र निषेधमूलक निरपेक्ष अहिंसा के आधार पर। वह हमेशा सकारात्मक अहिंसा के आधार पर ही खड़ा होगा। यद्यपि हमें यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार सकारात्मक अहिंसा के सम्पादन में निरपेक्ष-अहिंसा या परिपालन सम्भव नहीं है, उसी प्रकार सामाजिक-जीवन में भी निरपेक्ष अहिंसा या पूर्ण अहिंसा का परिपालन सम्भव नहीं है।

समाज-जीवन का आधार जो सकारात्मक अहिंसा है, वह सापेक्ष अहिंसा या सापवादिक अहिंसा है। समाज-जीवन के लिए समाज के सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहां अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न होता है वहाँ निरपेक्ष अहिंसा सम्भव नहीं होती। समाज-जीवन में हितों में टकराहट स्वाभाविक है। अनेक बार एक हित, दूसरे के अहित पर ही निर्भर करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी स्थिति में समाज-जीवन में या संघीय जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार नहीं हो पाता है, उसमें अपवाद को मान्य करना ही होता है। जब वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों में संघर्ष की स्थिति हो तो हम पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर तटस्थ द्रष्टा नहीं बने रह सकते हैं। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों में संघर्ष हो तो हमें समाज हित में वैयक्तिक हितों का बलिदान करना ही होता है। फिर चाहे वे हित हमारे स्वयं के हों या किसी अन्य के। जब कोई समाज, राष्ट्र या उसका कोई सदस्य या वर्ग अपने क्षुद्र हितों की पूर्ति के लिए हिंसा अथवा अन्याय पर उतारू हो जाय, तो निश्चय ही पूर्ण अहिंसा की दुहाई देकर तटस्थ द्रष्टा बने रहने से कोई काम नहीं चलेगा। जब तक जैनाचार्यों द्वारा उद्घोषित सम्पूर्ण मानव समाज की एकता की कल्पना पूर्ण साकार नहीं होती है, जब तक सम्पूर्ण समाज अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता है, तब तक मानव समाज में पूर्ण अहिंसा या निरपेक्ष अहिंसा के परिपालन का दावा करना सम्भव नहीं है।

जैनधर्म जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करता है उसमें भी जब संघ की अथवा संघ के एक सदस्य की सुरक्षा का प्रश्न आया तो जैन आचार्यों ने सापेक्षिक या सापवादिक अहिंसा को ही स्वीकार किया। जैन साहित्य में आचार्य कालक और गणाधिपति चेटक के उदाहरण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। निशीथचूर्णि (गाथा 289) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब संघ की सुरक्षा अथवा किसी सती स्त्री के सतीत्व के रक्षण का प्रश्न हो तो गृहस्थ ही नहीं, मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसी स्थिति में बाह्य रूप से हिंसा की जो घटना घटित होती है, उसे चाहे द्रव्य हिंसा की दृष्टि से हिंसा कहा जाय, किन्तु यदि उसमें कर्त्ता की वृत्ति में निजी स्वार्थ और अपराधी के प्रति द्वेष भाव नहीं है, तो ऐसी हिंसा वस्तुतः अहिंसा ही है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक वृत्तियों में आस्था रखता हो, तब तक यह सोचना व्यर्थ है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। जो लोग सकारात्मक अहिंसा अर्थात् रक्षण, सेवा, सहकार आदि जीवन मूल्यों को केवल इस आधार पर अमान्य करते हैं कि उनसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरपेक्ष या पूर्ण अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है, उनकी यह अवधारणा उचित नहीं कही जा सकती है।

निशीथचूर्णि में अहिंसा के जिन अपवादों की चर्चा है उन्हें चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप में सीधे मान्य न करना चाहते हों किन्तु क्या यह नपुंसकता नहीं होगी कि जब किसी मुनिसंघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे पूर्ण अहिंसा के परिपालन की दुहाई देकर द्रष्टा बने रहें ? क्या उनका कोई सामाजिक दायित्व नहीं है ? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न निरा वैयक्तिक नहीं है। जब तक सम्पूर्ण मानव-समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा पूर्ण अहिंसा का उद्घोष कोई अर्थ नहीं रखता। अधिक क्या कहें, यदि सम्पूर्ण समाज षड्जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा के आदर्श के परिपालन की बात करने लगे तो क्या जैनमुनि संघ का भी कोई अस्तित्व रहेगा। अतः पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दुहाई देकर अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की अवहेलना कथमपि उचित नहीं मानी जा सकती। संरक्षणात्मक व सुरक्षात्मक प्रयासों में जो हिंसा की बाह्य घटनायें होती हैं वे सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य हैं।

अहिंसा में अपवाद मानने वालों को सकारात्मक अहिंसा-निषेध का अधिकार नहीं

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से तो आन्तरिक है। बाह्यरूप में हिंसा के होने पर भी राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठा अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है। जबकि बाह्यरूप में हिंसा न होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक ही है। एक ओर सकारात्मक अहिंसा को केवल इसलिए अस्वीकार करना कि उसमें कहीं न कहीं हिंसा का तत्त्व होता है, किन्तु दूसरी ओर अपने अथवा अपने संघ और समाज के अस्तित्व के लिए अपवादों की सर्जना करना न्यायिक दृष्टि से संगत नहीं है। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि किसी मुनि के वैयक्तिक जीवन अथवा मुनि संघ के अस्तित्व के लिए अहिंसा के क्षेत्र में कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं तो हमें यह भी स्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना होगा कि लोककल्याण या प्राणिकल्याण के लिए जो प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती हैं, उनमें भी अहिंसा के कुछ अपवाद मान्य किये जा सकते हैं।

पुनः जो गृहस्थ षड्जीव-निकाय की नवकोटिपूर्ण अहिंसा का व्रत ग्रहण नहीं करता है और जो न केवल अपने लिए, अपितु अपने परिजनों के लिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से पूर्णतः विरत नहीं है अथवा जो त्रस प्राणी की संकल्पजा हिंसा को छोड़कर आरम्भजा, उद्योगजा और विरोधजा हिंसा का पूर्ण त्यागी नहीं है, उसे दूसरे जीवों के रक्षण-पोषण और उनकी पीड़ा के निवारण के प्रयत्नों को केवल यह कहकर नकारने का कोई अधिकार नहीं है कि उनमें हिंसा होती है। इस हिंसा के भय से सकारात्मक अहिंसा की अवहेलना करना योग्य नहीं है। वह गृहस्थ के लिए एक कर्त्तव्य है और उसे निष्काम भाव से उसे करना है।

सकारात्मक अहिंसा में घटित हिंसा, हिंसा है

फिर भी यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जायेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी जैसे कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पमत करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकेंगे, साथ ही हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज में सेवा और सहयोग की गंगा भी बहा सकेगी।

साथ ही जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आंकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है--1. प्राणी का ऐन्द्रियक एवं आध्यात्मिक विकास और 2. उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। सम्भवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चींटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके, किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति हिंसा को सकारात्मक बनाना है।

सकारात्मक अहिंसा का महत्त्व

जैनधर्म में अहिंसा के सकारात्मक पक्ष का महत्त्व एवं स्थान प्राचीनकाल से ही रहा है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक कुछेक अपवादों को छोड़कर सभी जैनाचार्यों ने सकारात्मक अहिंसा के मूल्य और महत्त्व को स्वीकार किया है। वे सदैव ही गृहस्थ के लिए उसे आचरणीय मानते रहे हैं। आज चाहे भारत में जैनों की संख्या मात्र एक प्रतिशत हो, किन्तु उनके द्वारा संचालित चिकित्सालयों, पशु-पक्षी चिकित्सालयों, गोशालाओं, पांजरापोलों, विद्यालयों और महाविद्यालयों की संख्या कहीं अधिक है। आज देश में इस प्रकार की लोकमंगलकारी प्रवृत्तियों में जुड़ी हुई जो संस्थाएँ अथवा ट्रस्ट हैं, उनमें लगभग 30% जैनों के द्वारा संचालित हैं। अकालादि के अवसरों पर प्राणियों के रक्षार्थ जैन समाज का जो योगदान होता है, उसे कोई भी नहीं भुला पाता है। जब भी मानव-समाज ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों के भी जीवनरक्षण का प्रश्न आया है, जैन समाज ने सदैव ही उसमें आगे बढ़कर हिस्सा लिया है। जैन समाज में आज भी अनेक ऐसे मूक कार्यकर्त्ता हैं जो तन-मन-धन से लोककल्याणकारी प्रवृत्तियों में अपना योगदान देते हैं। इसके पीछे सदैव ही जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यों और मुनिजनों की प्रेरणा निहित रही है। जैनधर्म में अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष का कितना मूल्य और महत्त्व है इसके लिए हम अपनी ओर से कुछ न कह कर प्रश्न-व्याकरणसूत्र के ही निम्न वचन उद्धृत करना चाहेंगे—

एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाणं विव सरणं,
पक्खीणं विव गमणं,
तिसियाणं विव सलिलं,
खुहियाणं विव असणं,
समुद्दमज्झे व पोयवहणं,
चउप्पयाणं व आसमपयं,
दुहट्ठियाणं व ओसहिबलं,
अडवीमज्झे व सत्थगमणं,
एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीय-हरिय-जलयर-थलयर-खहयर-तस-थावर-सव्वभूय-खेमंकरी।

यह अहिंसा भगवती जो है, सो
(संसार के समस्त) भयभीत प्राणियों के लिए शरणभूत है,
पक्षियों के लिए आकाश में गमन करने—उड़ने के समान है,
यह अहिंसा प्यास से पीड़ित प्राणियों के लिए जल के समान है,
भूखों के लिए भोजन के समान है,
समुद्र के मध्य में डूबते हुए जीवों के लिए जहाज के समान है,
चतुष्पद—पशुओं के लिए आश्रम-स्थान के समान है,
दुःखों से पीड़ित—रोगीजनों के लिए औषध-बल के समान है,
भयानक जंगल में सहयोगियों के साथ गमन करने के समान है।

मात्र यही नहीं, भगवती अहिंसा तो इनसे भी अत्यन्त विशिष्ट है, यह त्रस और स्थावर सभी जीवों का क्षेम कुशल-मंगल करने वाली है।

यह लोक-मंगलकारी अहिंसा जन-जन के कल्याण में तभी सार्थक सिद्ध होगी, जब इसके सकारात्मक पक्ष को उभार कर जन-साधा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रण के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा और करुणा एवं सेवा की अन्तश्चेतना को जागृत किया जायेगा। मानव समाज में से हिंसा, संघर्ष और स्वार्थपरता के विष को तभी समाप्त किया जा सकेगा, जब हम दूसरों की पीड़ा का स्व-संवेदन करेंगे, उनकी पीड़ा हमारी पीड़ा बनेगी। इससे अहिंसा की जो धारा प्रवाहित होगी, वह सकारात्मक होगी और करुणा, मैत्री, सहयोग एवं सेवा के जीवन-मूल्यों को विश्व में स्थापित करेगी।

प्रस्तुत कृति में श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अहिंसा के इस सकारात्मक पक्ष को अधिक स्पष्टता और आगमिक प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा जैन-दर्शन के गम्भीर अध्येता हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत यह ग्रन्थ अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने में सफल होगा। कृति के प्रकाशक श्री देवेन्द्रराजजी मेहता रोगियों और समाज के उपेक्षित एवं प्रताड़ित वर्ग की सेवा के कार्य में प्रारम्भ से ही जुड़े हुए हैं, वे सकारात्मक अहिंसा की जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। प्रस्तुत कृति का प्रणयन भी उन्हीं की प्रेरणा से हुआ है। कृति के उत्तरार्द्ध में विभिन्न विचारकों के विचारों का संकलन किया गया है। इससे भी अहिंसा के सकारात्मक पक्ष की पुष्टि में सहयोग मिलेगा।

प्रस्तुत कृति के माध्यम से जन-जन में निष्काम प्रेम, करुणा और सेवा की भावना जागृत हो एक इसी आशा के साथ।

निदेशक
पार्श्वनाथ शोधपीठ
आई. टी. आई. रोड़, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम-खण्ड

(कन्हैयालाल लोढ़ा)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का सकारात्मक रूप

मानवजीवन की विशेषता

संसार को देखने से ऐसा विदित होता है कि जिस प्रकार पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वनस्पति आदि प्राणी जन्म लेते हैं, खाते-पीते हैं, भोग-भोगते हैं और अन्त में मर जाते हैं, इसी प्रकार मनुष्य भी जन्म लेता, खाता-पीता, भोग भोगता है और अंत में मर जाता है। फिर अन्य योनियों के जीवों से मनुष्य में क्या अंतर हुआ ? क्या विशेषता हुई ? इस जिज्ञासा पर गहराई से चिन्तन करने से यह तथ्य सामने आता है कि पशु का जीवन विषय-सुख, इन्द्रिय सुख के भोग भोगने तक ही सीमित होता है, वह इससे ऊपर नहीं उठ सकता है; वह भोग-योनि है। जबकि मनुष्य अपनी सुख-सामग्री का उपयोग दूसरों के दुःख दूर करने में, उन्हें प्रसन्न बनाने में कर सकता है, इस प्रकार विषय (भोग) सुख से ऊपर उठकर मनुष्य एक विलक्षण प्रकार की प्रसन्नता की, परमानन्द की उपलब्धि कर सकता है, जो पशु के लिए सहज संभव नहीं है। दूसरों के दुःख से करुणित हो उनके दुःख को दूर करने का भाव व प्रयास ही मानवता है। मानवता का ही दूसरा नाम दया या अहिंसा है।

मानवता से विशेष प्रकार की प्रसन्नता मिलती है। यह प्रसन्नता विषय-भोग या इन्द्रिय-सुख की अपेक्षा विलक्षण है। कारण कि इन्द्रियों के विषय-भोग से मिलने वाले सुख के साथ नश्वरता अनित्यता, क्षीणता, नीरसता, पराधीनता, शक्तिहीनता, जड़ता आदि असंख्य दोष व दुःख सदा लगे रहते हैं इसका विशेष विवेचन लेखक की "दुःख मुक्ति : सुख प्राप्ति" पुस्तक के प्रकरण 2, 3, 4 में किया गया है। इसके विपरीत मानवता से, करुणाभाव से, दूसरों के दुःख दूर करने से तथा दयाभाव से मिली हुई प्रसन्नता का सुख सदा सरस बना रहता है, क्षीण नहीं होता, अक्षय होता है। दूसरों को दुःख से बचाने व उनके दुःख दूर करने के उपाय या प्रयास को अहिंसा कहा जाता है। आगे इसी "अहिंसा" के संबंध में विचार किया जा रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का अर्थ

'अहिंसा' शब्द हिंसा शब्द के पूर्व 'अ' (न हिंसा इति अहिंसा) लगने से बना है। "अ" (नञ्) का प्रयोग अभाव, विरोध (विलोम-विपरीत) अल्प आदि अनेक अर्थों में होता है। जैसे 'अधर्म' शब्द को ही लें। अधर्म का अर्थ धर्म का अभाव तो है ही, साथ ही धर्म के विपरीत कार्य हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप करना भी अधर्म ही है। यदि कोई 'अधर्म' का अर्थ 'धर्म न करने' जैसा रूप ही ले और हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप प्रवृत्तियों को न ले तो 'अधर्म' शब्द का ऐसा अर्थ करना अधूरा, एकांगी एवं भ्रान्तियुक्त होगा। ऐसे ही उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 20 गाथा 37 के उत्तरार्द्ध में कहा है—

'अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ'

इस गाथा में सुप्रवृत्ति को आत्मा का मित्र और दुष्प्रवृत्ति को अमित्र कहा है। यहां अमित्र शब्द का अर्थ मित्र न होने तक ही सीमित नहीं है अपितु मित्र के विपरीत अर्थ वाचक 'शत्रु होने' के अर्थ में लिया गया है। इसी प्रकार अहिंसा शब्द का अर्थ हिंसा का अभाव तो है ही साथ ही हिंसा के विपरीत कार्य दया, दान, करुणा अनुकंपा, वात्सल्य, भ्रातृत्व, मैत्री, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियाँ या सद्गुण भी है। यदि कोई 'अहिंसा' का अर्थ केवल हिंसा न करने जैसा रूप ही ले और दया, दान आदि सद्प्रवृतियों को न ले तो अहिंसा का ऐसा अर्थ अधूरा, एकांगी (विकलांग) व भ्रान्तियुक्त होगा। परन्तु वर्तमान में जैन-धर्म के कुछ संप्रदायों ने 'अहिंसा' शब्द का अर्थ न केवल हिंसा न करने रूप निषेधात्मक अर्थ तक ही सीमित कर दिया है प्रत्युत वे दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृतियों व सद्गुणों रूप अहिंसा के सकारात्मक अर्थ के द्योतक कार्यों का निषेध व विरोध भी करते हैं और इसकी पुष्टि में कारण यह दिया जाता है कि सकारात्मक अहिंसा के दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सब रूप प्रवृत्तिपरक हैं और प्रवृत्ति में क्रिया होती है, क्रिया से कर्मबंध होता है। अतः दया, दान आदि से कर्मबंध होता है। कर्मबंध संसार के परिभ्रमण-रूप दुःख का कारण है, अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तिपरक होने से दया, दान आदि का अहिंसारूप धर्म में स्थान नहीं हो सकता तथा उनका मानना है कि ये दया, दान आदि सद्-प्रवृत्तियां सोने की बेड़ी व शूली के समान हैं जबकि हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तियां लोहे की बेड़ी व शूली के समान हैं। उनकी मान्यतानुसार सद्प्रवृत्तियों एवं दुष्प्रवृत्तियों में इतना ही अन्तर है। इस विचार-धारा का जैन-धर्मानुयायियों में कुछ दशाब्दी से संक्रामक रोग के रूप में बड़ी तेजी से प्रचार-प्रसार हुआ है व हो रहा है। इसका प्रभाव न्यूनाधिक रूप से जैन-धर्म के प्रायः सभी संप्रदायों पर पड़ा है इसके परिणामस्वरूप जीवन में से दया, दान, मैत्री, करुणा, अनुकंपा सेवा, वात्सल्यभाव, उदारता आदि सगुद्गों की उपेक्षा एवं लोप होने लगा है तथा निर्दयता, हृदयहीनता, निष्ठुरता, कठोरता, क्रूरता स्वार्थपरता, संकीर्णता आदि दुर्गुणों का पोषण होने लगा है। जिससे जीवन मानवता व कर्त्तव्यपरायणता से शून्य होता जा रहा है और ऊपर से तुर्रा यह है कि इसे उच्चस्तरीय अध्यात्म का रूप दिया जा रहा है।

उपर्युक्त बातों व इन्हीं से संबन्धित अन्य बातों को दृष्टिगत करके प्रस्तुत पुस्तक में जैनागम, कर्मसिद्धान्त, प्राचीन टीकाओं, मनो-विज्ञान, जीवन-व्यवहार आदि के परिप्रेक्ष्य में यह विवेचन किया जाएगा कि दया, दान आदि अहिंसा के जितने भी सकारात्मकरूप सद्गुण व सद्प्रवृत्तियां हैं वे सब की सब स्वभाव हैं अतः इनसे कर्मों का बंध नहीं होता अपितु कर्मों का क्षय अवश्य होता है। कर्मक्षय के हेतु होने से ये सब धर्म हैं। सद्प्रवृत्तियां, संयम, त्याग, तप आदि जितने भी धर्म हैं उन सबसे पुण्य का उपार्जन या सृजन होता है। पुण्य से आत्मा के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नहीं होता है, हानि नहीं होती है अपितु विशुद्धि होती है तथा पाप का क्षय होता है। अतः पुण्य किसी भी रूप में त्याज्य नहीं है। वस्तुतः पुण्य और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलू हैं व पर्यायवाची हैं आगे इन्हीं सब बातों पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

अहिंसा के दो रूप

गुण के दो रूप होते हैं—(1) नकारात्मक और (2) सकारात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरणार्थ सत्य महाव्रत को ही लें। सत्य का नकारात्मक रूप है—झूठ न बोलना और सकारात्मक रूप है सत्य बोलना। यदि हम सत्य के सकारात्मक रूप 'सत्य बोलने' का निषेध करदें तो सत्य का नकारात्मक रूप ही शेष रह जायेगा 'न बोलना', कारण कि बोलना दो ही प्रकार का होता है—झूठ बोलना और सत्य बोलना। जब दोनों प्रकार के बोलने का निषेध हो जाता है तो न बोलना शेष रह जाता है। यदि अब हम न बोलने को ही सत्य मानें तो जो जो जीव नहीं बोलते या इस समय नहीं बोल रहे हैं वे सब के सब सत्य गुण के धारी कहलायेंगे जैसे पेड़, पौधे, गूंगे व्यक्ति आदि। परन्तु ऐसा मानना भयंकर भूल है। 'कोई व्यक्ति नहीं बोल रहा है इसलिए सत्य गुण का पालन या अनुशीलन कर रहा है,ऐसा ज्ञानी की तो क्या कहें अज्ञानी से अज्ञानी भी नहीं मानता और उसका ऐसा न मानना उपयुक्त व उचित ही है। अतः 'सत्य' गुण में असत्य न बोलने के साथ सत्य बोलना भी जुड़ा हुआ है। उसी प्रकार अहिंसा गुण के भी ये दो रूप हैं। अहिंसा का नकारात्मक रूप है हिंसा न करना, किसी को न मारना, कष्ट न देना और सकारात्मक रूप है दया करना, रक्षा करना, कष्ट दूर करना आदि। यदि अहिंसा के सकारात्मक रूप का निषेध कर केवल निषेधात्मक रूप को ही माना जाय तो अहिंसा मात्र अभावरूप हो जायेगी। अभाव का अस्तित्व ही नहीं होता। जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसे गुण कैसे कहा जाय ?

अभिप्राय यह है कि गुण सद्भावात्मक होता है अभावात्मक नहीं। अतः गुण का प्रकटीकरण उसके विधेयात्मक रूप से ही संभव है। अभावात्मक रूप उस गुण के घातक एवं उसके विपरीत दोष का ही होता है, गुण का नहीं। अनुकंपा या करुणा गुण का प्रकटीकरण दया, दान आदि क्रियात्मक व विधेयात्मक रूप में होता है, किसी जीव को न मारने में या दुख न देने मात्र में नहीं। यदि किसी जीव को न मारने को ही दया या अहिंसा माना जाय तो इस प्रकरण को पढ़ते समय अर्थात् इस क्षण पाठक पशु, पक्षी, मनुष्य, वनस्पति आदि अनंत जीवों को नहीं मार रहे हैं तथा भयंकर से भयंकर हिंसक प्राणी भी हिंसा करते समय गिनती के कुछ जीवों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ही हिंसा करते हैं, शेष रहे अनंतानंत जीवों की हिंसा नहीं करते हैं। अतः वे सब भी अहिंसक ही कहलायेंगे। परन्तु ऐसा मन्तव्य उपयुक्त नहीं है। वास्तव में करुणा, अनुकंपा या दया का अर्थ किसी प्राणी को न मारने रूप अहिंसा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत इसके विधेयात्मक रूप दान, सेवा, सहयोग, वात्सल्यभाव, मैत्री आदि भी इसमें सम्मिलित हैं। इन विधेयात्मक रूपों को निकाल देने पर अहिंसा का केवल निषेधात्मक रूप रह जाता है।

वस्तुतः गुण का निषेधात्मक अर्थ वाला रूप दोष के निषेध या अभाव का द्योतक होता है। दोष का अभाव तो होना ही चाहिए। कारण कि इससे सद्गुण की अभिव्यक्ति की भूमिका तैयार होती है, पात्रता आती है। जिसके बिना गुण का विधेयात्मक रूप फलित या प्रकट हो ही नहीं सकता। अतः गुण का सद्भाव विधेयात्मक अर्थ में ही सन्निहित है, अभावात्मक अर्थ में नहीं। तात्पर्य यह निकला कि गुण सद्भावरूप होता है, अभावरूप नहीं। अतः अहिंसागुण दया या दानरूप होता है। दान आत्मा का निज गुण है। इसलिए वीतराग देव में अनंतदान माना गया है। आत्मा के निजगुणों में दान-रूप विधेयात्मक दया व अहिंसा को स्थान दिया गया है, केवल निषेधात्मक अहिंसा को नहीं। जैसे 'अज्ञान' शब्द का अर्थ ज्ञान की कमी का द्योतक तो है ही साथ ही विपरीत ज्ञान का भी द्योतक है। ऐसे ही अहिंसा शब्द हिंसा की कमी का द्योतक तो है ही साथ ही हिंसा के विपरीत दया, दान, सेवा आदि का भी द्योतक है।

विधिपरक अहिंसा से रहित यदि केवल निषेधपरक अहिंसा को ही अपनाया जायेगा तो निष्ठुरता, स्वार्थपरता, क्रूरता, रूखापन, निष्क्रियता, अकर्मण्यता, असामाजिकता, संकीर्णता, आदि अगणित भयंकर दोष उत्पन्न हो जायेंगे जो उस व्यक्ति, समाज और विश्व के लिए घोर घातक सिद्ध होंगे।

निषेधात्मक अहिंसा का अपना स्थान है। यदि अहिंसा हिंसा से विपरीत न हुई तो विधिपरक अहिंसा की लोक-कल्याण, समाज-सेवा, परोपकार आदि प्रवृत्तियों में हिंसा का समावेश हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जायेगा। इस प्रकार सेवा आदि सद्-प्रवृत्तियों में विकृति आ जायेगी, वे दूषित हो जायेगीं। अतः निवृत्ति-परक अहिंसा तो आवश्यक है ही, परन्तु उसे ही सम्पूर्ण अहिंसा मान लेना भ्रम है। अतः साधक के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों की समान आवश्यकता है। कहा भी है—

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाणं चारित्त ।।

आचार्य नेमिचन्द्र

अर्थात् हिंसादि अशुभ कार्यों से निवृत्ति व दया आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही चारित्र है।

वस्तुतः निष्क्रियता रूप अकर्मण्यता का नाम अहिंसा नहीं है। अहिंसा में विश्वबन्धुत्व, भ्रातृत्वभाव, मातृत्वभाव, वात्सल्यभाव, मैत्रीभाव, करुणाभाव, अनुकंपाभाव, सर्वहितकारी-भाव, सेवाभाव, आदि सन्निहित हैं। अहिंसा का क्षेत्र "जीओ और जीने दो" तक ही सीमित नहीं है अपितु दूसरों के प्रति करुणा कर उन्हें सहयोग देना भी अहिंसा है। इस विधेयात्मक अहिंसा के अभाव में निषेधात्मक अहिंसा का विशेष अर्थ नहीं रह जाता है। किसी का बुरा न करना अच्छी बात है, परन्तु इससे अधिक महत्त्व की बात है किसी का भला करना। किसी का बुरा न करना निषेधात्मक अहिंसा है और उसका भला करना विधेयात्मक अहिंसा है। यह सभी का अनुभव है कि जो भला करता है वही भला व्यक्ति है। भला करने की शक्ति व सामर्थ्य होने पर भी जो भला नहीं करता है तथा किसी जीव को दुःख पाते, तड़फते, बिलबिलाते देखता रहता है वह निष्ठुर व क्रूर है, अहिंसक नहीं।

निषेधात्मक अहिंसा के रूप हैं—किसी को न सताना, पीड़ा न पहुंचाना, न मारना, हृदय को आघात न पहुंचाना, किसी की हानि न करना, कटु वचन न बोलना, दास न बनाना, अधिक वजन न डालना, दुर्व्यवहार न करना, नकली दवाइयां न बनाना व न बेचना, खाद्य पदार्थों में अखाद्य पदार्थ की मिलावट न करना, धोखा न देना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठगी न करना, किसी का बुरा न चाहना, बुरा न कहना आदि। और विधेयात्मक अहिंसा के रूप हैं—दया, दान, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्यभाव, भ्रातृत्वभाव, मातृत्वभाव, मैत्रीभाव, सेवाभाव, उदारता, सहृदयता, संवेदनशीलता आदि। ये दोनों परस्पर पूरक हैं। जो निषेधात्मक अहिंसा को नहीं अपनाता वह दुष्ट है, दुर्जन है। जो निषेधात्मक अहिंसा को अपनाता है वह सज्जन है और जो विधेयात्मक अहिंसा को अपनाता है वह महाजन है, महापुरुष है, उदार है। दुर्जनता को त्यागना तथा सज्जनता व उदारता को अपनाना ही मानवता है। मानवता से मानव की शोभा है। मानवता रहित मानव, मानव की आकृति में दानव है। मानवता-युक्त मानव ही महापुरुष है।

इसी संदर्भ में यह विचारणीय है कि भगवान् महावीर कृतकृत्य सर्वज्ञ हो गये थे उन्हें कुछ भी करना व जानना शेष नहीं रहा था। उनको संसार के जीवों को प्रवचन देने की क्या आवश्यकता थी? प्रवचन देकर उन्हें कौनसा पुण्य या लाभ प्राप्त करना था? फिर भी उन्होंने संसार के समस्त जीवों की रक्षा व दया के लिए प्रवचन दिया। जैसा कि प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा है—

'सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं'

वीतराग सर्वज्ञ भगवान का सर्व जन हिताय प्रवचन देना, लोगों को व्यक्तिगत रूप से बोध देना विधेयात्मक अहिंसा का जीता जागता प्रमाण है।

यही नहीं स्वयं भगवान् महावीर ने संयम धारण करने के पश्चात् भी अपना देवप्रदत्त वस्त्र ब्राह्मण को दान दिया। तीन ज्ञान के धारी भगवान् महावीर ने तथा अन्य सब तीर्थंकर भगवान् ने दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक सब तरह के जीवों को बिना भेद-भाव के मुक्तहस्त से भरपूर दान दिया व आगे भी दान देते रहे। यदि दान देना संसार-भ्रमण का कारण, मुक्ति में बाधक व सोने की शूली या बेड़ी होता तो भगवान् यह भूल कभी न करते। यदि उनकी छद्मस्थ अवस्था के कारण से ऐसी भूल हो गयी होती तो केवल ज्ञान होने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् इसे अपनी भूल के रूप में प्रतिपादित करते और दान देने का निषेध करते तथा अन्य श्रावकों को ऐसी भूल न करने के लिए व्रत लेने का विधान करते, परन्तु आगम में ऐसा प्रतिपादन व विधान कहीं नहीं है, प्रत्युत दान देने का ही विधान है।

सारांश यह है कि प्रवृत्ति-रूप अहिंसा की शुद्धि के लिए निवृत्ति रूप अहिंसा अनिवार्य है, जैसे वृक्ष के लिए भूमि अनिवार्य है। निवृत्तिरूप अहिंसा की भूमिका में ही प्रवृत्तिरूपा अहिंसा का वृक्ष पनपता, फलता है। अर्थात् निषेधात्मक अहिंसा की धरती पर विधेयात्मक अहिंसा पनपती व पल्लवित होती है जिसके प्रेमरूप मधुर फल लगते हैं। भूमि के बिना वृक्ष नहीं लगता, वृक्षहीन भूमि निष्फल होती है। फलप्राप्ति के लिए भूमि और वृक्ष दोनों का होना आवश्यक है। इसी प्रकार मुक्ति-फल पाने के लिए निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों प्रकार की अहिंसा आवश्यक है।

दया

अहिंसा के प्रश्नव्याकरणसूत्र के संवरद्वार के प्रथम अध्ययन में गुणनिष्पन्न 60 नाम गिनाये हैं जो निम्नांकित है —

1. निर्वाण 2. चित्त की स्वस्थता 3. समाधि 4. शांति 5. कीर्ति 6. क्रान्ति 7. सुखद 8. विरक्ति 9. श्रुतज्ञान 10. तृप्ति 11. दया 12. विमुक्ति 13. क्षान्ति 14. सम्यक्त्व-आराधना 15. महती (बडी) 16. बोधि 17. बुद्धि 18. धृति-धैर्य 19. समृद्धि 20. ऋद्धि 21. वृद्धि 22. स्थिति 23. पुष्टि 24. आनन्द 25. भद्रा 26. विशुद्धि 27. लब्धि 28. विशिष्ट दृष्टि 29. कल्याण 30. मंगल 31. प्रमोद 32. विभूति 33. रक्षा 34. मोक्षवास 35. अनास्रव 36. कैवल्य स्थान 37. शिव-निरुपद्रव 38. समिति 39. शील 40. संयम 41. शीलधर 42. संवर 43. गुप्ति 44. व्यवसाय 45. उन्नतभाव 46. भावयज्ञ (परोपकार) 47. आयतन (आश्रय) 48. यतना 49. अप्रमाद 50. आश्वासन 51. विश्वास 52. अभय 53. सब जीवों को अनाघात 54. भलाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

55. पवित्रता 56. शुचिता 57. पूजत्व 58. विमलता 59. प्रभाषा और 60. निर्मलतर ।

इस प्रकार से ये निज आत्मा के गुण द्वारा निष्पन्न अहिंसा भगवती के पर्यायवाची 60 नाम हैं । इनमें दया, रक्षा, पुष्टि, प्रमोद, आदि अनेक नाम विधि रूप अहिंसा के हैं । यह अहिंसाद्वार संवर-द्वार है । अतः इसमें आए दया, रक्षा, प्रमोद आदि नाम संवररूप हैं । अतः कर्मबंध के कारण नहीं हैं । दया, रक्षा आदि से कर्मबंध मानना संवर को बंध मानना है जो आगमविरुद्ध है तथा तात्त्विक भूल है । संवर धर्म है । अतः दया, रक्षा, आदि अहिंसा के विधि-परक रूप धर्म हैं । इन्हें धर्म न मानना धर्म को अधर्म मानना है, धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है । जैसा कि स्थानांगसूत्र के ठाणा 10 में कहा है—

दस विहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तंजहा अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मा सण्णा.....सूत्र 993

अर्थात् दस प्रकार का मिथ्यात्व है यथा—1. अधर्म को धर्म श्रद्धे 2. धर्म को अधर्म श्रद्धे.....तो मिथ्यात्व है ।

दया धर्म है, यह सिद्धान्त प्राचीनकाल में सर्वमान्य रहा है यथा—दयाधम्मस्सखंतिए विप्पसीइज्ज मेहावी....उत्तराध्ययन सूत्र 5/30 अर्थात् मेधावी साधक अपने को दया, धर्म और क्षमा से प्रसन्न रखे ।

"सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी....." उत्तराध्ययन 21/13

साधु सब जीवों के प्रति दया एवं अनुकम्पा का व्यवहार करता है ।

धर्मो जीव दया—पद्मनंदि पंचविंशति १७—अर्थात् प्राणियों पर दयाभाव रखना, धर्म है ।

"धम्मोदया विसुद्धो" बोध पाहुड 25, दर्शन पाहुड 2-2-20 अर्थात् 'दया' विशुद्ध धर्म है ।

दया सर्वप्राणिविषया.....भगवती आराधना, 1836

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्व प्राणियों को दु:खी देखकर अंत:करण का आर्द्र होना दया है।

'जीवाणं रक्खाणं धम्मो' कार्तिकेय अनुप्रेक्षा 478, दर्शन पाहुड 9-8-5

"सब जीवों की रक्षा करना धर्म है।
"सो धम्मो जत्थ दया" (नियमसार-वृत्ति)
जहां दया है, वहां धर्म है।

"दयादु:खार्तजन्तुत्राणाभिलाष:, अनगारधर्मामृत, स्वोपज्ञ-टीका 4-1

दु:खी जीवों के त्राण (रक्षा) करने की अभिलाषा दया है।
"दयामूलो भवेद् धर्मो....." महापुराण 5-21
धर्म का मूल दया है।
"पढमं नाणं तओ दया" दशवैकालिक सूत्र 4-14
प्रथम ज्ञान पीछे दया अर्थात् ज्ञान का फल दया है।

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते चित्ते जीवदया नारित तेषां धर्म: कुतो भवेत्। मूलं क्षमतेराद्यं व्रतानां धाम संपदाम् गुणानां निधिरिति। दया कार्या विवेकिभि:-पद्मनंदिविंशति, 37 एवं 34

दयालुता रूप अमृत से परिपूर्ण जिन श्रावकों के हृदय में जिन भगवान् के उपदेश से प्राणी-दया आविर्भूत नही होती उनको धर्म कहाँ हो सकता है। जीवदया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में प्रधान व्रत है, ऐश्वर्य का घर है, और गुणों का भंडार है। इसलिए विवेकी जनों को जीव-दया अवश्य करनी चाहिए।

न तद्दानं न तद्ध्यानं न तज्ज्ञानं न तत्तप: ।
न सा दीक्षा न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ।।

जहां दया नहीं है, वहां न दान है, न वहां ध्यान है, न वह ज्ञान है, न वह तप है, न वह दीक्षा है और न वह भिक्षा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाएं भगवया सुकहियं—प्रश्नव्याकरण 2-2-22 अर्थात् भगवान् ने सब जीवों की रक्षा व दया के लिए प्रवचन फरमाया।

धर्मो दयामयः प्रोक्तः जिनेन्द्रैर्जितमृत्युभिः (वरांगचरित 15-10-7) जिनेन्द्रदेव ने धर्म को दयामय कहा है।

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं, कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
दशवै. अ. 9 उ. 1 गा. 13

कल्याणार्थी साधक के लिए लज्जा, दया, संयम, और ब्रह्मचर्य ये चारों विशुद्धि के स्थान हैं।

इस प्रकार दया धर्म है अतः कल्याणकारी है इसकी पुष्टि में अगणित सूत्र आगम व टीकाओं में भरे हैं, यहां तो मात्र संकेत के रूप में कुछ ही सूत्र उद्धृत किए गए हैं।

दया-रक्षा

इस प्रकरण के प्रारम्भ में प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के साठ नाम बताये हैं इनमें 'दया' और 'रक्षा' भी हैं। ये विधिपरक नाम हैं, निषेधपरक नहीं। अतः दया व रक्षा का अर्थ 'बचाना' व रक्षा करना है। केवल न मारने तक ही दया व रक्षा का अर्थ सीमित नहीं है। यह बात अवश्य है कि दया या रक्षा करने अथवा बचाने में 'न मारना' आ ही जाता है। इस प्रकार जो अहिंसा का अर्थ 'नहीं मारने' तक ही सीमित रखते हैं उसका भी समावेश दया में हो ही जाता है। अतः दया का क्षेत्र अहिंसा से अधिक व्यापक है। दया के दो पक्ष या रूप हुए। प्रथम पक्ष तो किसी जीव को न मारना और दूसरा मरते हुए जीव को बचाना।

उपर्युक्त दया या रक्षा के दोनों रूपों में से किसी जीव को न मारने रूप प्रथम पक्ष को स्वीकार करना और मरते हुए जीव को बचाने रूप दूसरे पक्ष को स्वीकार न करना, दया या रक्षा का अधूरा अर्थ स्वीकार करना है—जो उचित नहीं है। अतः दया का अर्थ मात्र "न मारना" स्वीकार करना सत्य को अधूरे रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार करना है। दया के दूसरे पक्ष "जीव को बचाने" का निषेध करना दया शब्द का, दया धर्म का निषेध करना है। प्रकारान्तर से कहें तो हिंसा का बचाव करना है, जो पाप या दोष का रूप है।

जैन-आगम में तीन योग और तीन करण से पाप के त्याग का विधान है। मन, वचन व काया ये तीन योग हैं तथा (1) करूं नहीं (2) कराऊं नहीं (3) करते हुए का अनुमोदन करूं नहीं, ये तीन करण हैं। अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, आदि पाप प्रवृत्तियां (दुष्प्रवृत्तियां) करना, कराना व अनुमोदन करना ये तीनों ही पाप हैं, बुरे कार्य हैं, दोष हैं। पाप-प्रवृत्ति को रोकना धर्म है। जिसे पाप प्रवृत्ति करने से रोका या बचाया जायेगा वह पाप से बचेगा। पाप करने से किसी को बचाने में धर्म ही है, अधर्म नहीं है। किसी जीव को न मारना तथा मरने से बचाना इन दोनों कार्यों का एक ही परिणाम आता है। जीव के प्राणों की रक्षा ही प्राणी की रक्षा है, दया है। रक्षा व दया अहिंसा-रूप धर्म है। धर्म को धर्म न कहना अधर्म है। धर्म को अधर्म मानने को जैन दर्शन में मिथ्यात्व कहा गया है जो सबसे भयंकर पाप है, घोर अमानवता है जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इसलिए दया धर्म की महत्ता बतलाते हुए कहा है—

दया सुखां री बेलड़ी, दया सुखां री खान।
अनंता जीव मुकते गया, दया तणे फल जाण॥

अर्थात् दया का फल सुख है, दया सुखों की खान है। दया के फलस्वरूप अनंत जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है। यहां यह स्पष्ट कहा है कि दया का फल मुक्ति या मोक्ष है। दया के द्वारा मुक्ति की ओर गति तभी संभव है, जब उसके दोनों पक्ष बराबर काम करें। जिस प्रकार पक्षी एक पक्ष(पंख) से या व्यक्ति एक चरण से गति करने में असमर्थ होता है इसी प्रकार दया के एक पक्ष अहिंसा से साधक मुक्ति की ओर गति करने में असमर्थ रहता है। कारण कि कोई प्राणी तड़फता रहे, छटपटाता रहे, मरता रहे और उसे देखकर हृदय करुणार्द्र न हो, अनुकंपित न हो, द्रवित न हो, हृदय में उसे बचाने का भाव न उठे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो यह घोर निर्दयता है, दया नहीं है। यदि इसे भी दया माना जाय तो फिर निर्दयता किसे माना जाय ? फिर निर्दयता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यही नहीं बचाने का भाव उठे और बचाने की सामर्थ्य होते हुए भी बचावे नहीं तो उस भावना का उठना निरर्थक है। वह भावना निर्जीव व निष्प्राण है, अर्थशून्य है, मूल्यहीन है।

किसी मरते हुए या दुःख पाते हुए जीव को मृत्यु व दुःख से बचाना दया है,केवल उसे देखते रहना दया नहीं है। यदि देखते रहने कोही दया माना जाय तो संसार के सभी मनुष्य सभी प्राणी प्रतिपल ही अगणित प्राणियों को दुःखी देख रहे हैं, वे सभी दयावान माने जायेंगे जो कि किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। अतः दया शब्द की सार्थकता बचाने व रक्षा करने रूप सक्रियता में है। दया सक्रियता की द्योतक है, निष्क्रियता या अकर्मण्यता की नहीं। अकर्मण्यता घोर प्रमाद है। यदि दया का अर्थ निष्क्रियता या अकर्मण्यता लिया जाये तो निद्रावस्था दया की सर्वोच्च अवस्था कही जायेगी। तात्पर्य यह है कि भाव या ज्ञान की सार्थकता उसके क्रियात्मकरूप में ही है। "पढ़मं नाणं तओ दया" के इस सूत्र से भी यह फलित होता है कि ज्ञान का फल या क्रियात्मकरूप दया है, ज्ञान का सार दया है। दया के बिना ज्ञान कार्यकारी नहीं होता। दयारहित ज्ञान से मुक्ति रूप इष्टसिद्धि नहीं मिल सकती।

काउंट लियो टालस्टॉय रूस के बहुत बड़े लेखक व विश्व के महान् विचारक थे। वे बड़े दयालु थे। उनसे उद्योगपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण देखा न गया। आर्थिक विषमता, गरीबी-अमीरी के भयंकर अंतर ने उनके हृदय को झकझोर दिया, उन्होंने साम्यवाद के विचारों का बीज वपन किया। उनके विचारों का प्रभाव महात्मा गांधी व विश्व के लाखों लोगों पर पड़ा। उनका हृदय कोमल था। पशु-वध उनसे देखा नहीं जाता था। उन्होंने मांसाहार का त्याग कर दिया था। उनके प्रभाव से पाश्चात्त्य देशों में लाखों की संख्या में लोग शाकाहारी हो गये थे।

एक बार टालस्टॉय की बहन उनसे मिलने आई। उसे मांसाहार प्रिय था। उसे भोजन कराना जरूरी था। घर की महिलाओं के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझ में नहीं आ रहा था कि उस बहिन का मन पसंद भोजन कैसे बनाया जाय, क्योंकि उनके घर में तो मांस पकता ही नहीं था। टालस्टॉय की पत्नी ने अपने पति के समक्ष अपनी यह कठिनाई रखी तो टालस्टॉय बोले—चिन्ता करने की कोई बात नहीं, मैं सब संभाल लूंगा।

टालस्टॉय जानते थे कि उनकी बहिन को मुर्गा पसंद है। टालस्टॉय ने एक बड़ा सा सुन्दर मुर्गा मंगवाया और उसे भोजन की मेज से बांध दिया तथा एक तेजधार वाला छुरा भोजन की मेज पर रख दिया।

टालस्टॉय की बहिन भोजन करने आई और उसने देखा कि एक मुर्गा मेज से बंधा हुआ है तो उसने विस्मित होकर टॉलस्टाय से पूछा कि भाई ! इस मुर्गे को इस मेज से क्यों बांध रखा है ?

टालस्टॉय ने कहा यह तो तुम्हारे भोजन की सामग्री है। हमारे यहां पर तो कोई मांस खाते नहीं हैं और न हम मांस को मानव के खाने योग्य भोजन मानते हैं, अतः हमारे में से तो कोई तुम्हारी पसंद का मुर्गे का आहार नहीं बना सकता। हमारा कर्त्तव्य तुम्हारा आतिथ्य सत्कार करना है। अतः यह मुर्गा और छुरा दोनों तुम्हारे सामने रख दिये हैं, आगे तुम्हारी जो इच्छा। यह सुनकर टालस्टॉय की बहिन विचार में पड़ गई। उसे सूझ नहीं पड़ रहा था कि वह क्या करे, कभी वह भोले-भाले सुन्दर, प्यारे मुर्गे की ओर देखती और कभी छुरे की तेज धार की ओर देखती। मुर्गे की आंखों की चमक व भोले भाले हाव-भाव से उसके हृदय में दया की लहरें उठने लगी। उसने कहा कि मैं इसे नहीं मार सकती। यह मुर्गा अपने रूप व हाव भाव से हृदय को प्रसन्न कर रहा है, मैं इसके प्राण नहीं ले सकती। उसके हृदय में कारुण्यभाव जगा और उसने सदा के लिए मांसाहार छोड़ दिया। इस प्रकार टालस्टॉय के कारुण्यभाव के प्रभाव के कारण लाखों लोग शाकाहारी बन गये। विदेशों में आज भी करोड़ों लोग शाकाहारी हैं और दिन प्रतिदिन पशु-पक्षियों के प्रति निर्दयता, क्रूरता के व्यवहार से उनके हृदय में संवेदनशीलता अधिकाधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जागती जा रही है। विदेशों में मांसाहार के प्रति घृणा और शाकाहार के प्रति झुकाव बड़ी तेजी से बढ रहा है जबकि आर्य देश कहलाने वाले भारत में इसके विपरीत हो रहा है। यह यहां के धर्मगुरुओं, राजनेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए विचारणीय विषय है। विश्व के प्रसिद्ध विचारक जार्ज बनार्ड शा व विश्व विख्यात वैज्ञानिक आइंस्टीन शाकाहारी ही थे।

जब गोशालक को भस्म करने के लिए उस पर वैश्यायन तापस ने तेजोलेश्या फेंकी थी उस समय भगवान् महावीर ने शीतलेश्या का प्रयोग कर उसे बचाया था। यदि भगवान् में करुणाभाव न होता तो उसकी रक्षा करने के लिए शीतलेश्या की प्रवृत्ति न करते। उनकी ओर से गोशालक मरे या बचे उन्हें उससे क्या लेना देना था? क्या आवश्यकता थी गोशालक की रक्षा करने की उन्हें?

भगवान् महावीर के जीवनकाल की एक घटना है कि मगध सम्राट् श्रेणिक को अपनी पत्नी महारानी चेलना के दुश्चरित्र होने का संदेह हो गया। यह संदेह इतना बढ़ गया कि समस्त रानियां व नारियां श्रेणिक को दुश्चरित्र प्रतीत होने लगी। उन्होंने अपने मंत्री अभयकुमार को अन्तःपुर जलाने का आदेश दिया जिससे सब रानियों के साथ चेलना भी जलकर राख हो जाय। इस बात की जानकारी महावीर को होते ही उन्होंने सम्राट् श्रेणिक को प्रतिबोध दिया कि चेटक महाराजा की सातों पुत्रियां जिनमें चेलना भी है सभी पतिव्रता हैं, निर्दोष हैं। संदेह को त्यागो, सत्य को स्वीकार करो। भगवान् महावीर के उपदेश से श्रेणिक का संदेह दूर हो गया और भयंकर हत्याकाण्ड बच गया।

क्या आवश्यकता थी चेलना को बचाने की, उन्होंने यह क्यों नहीं विचारा कि विश्व में अनंत प्राणी प्रतिक्षण मर रहे हैं। चेलना भी मरे, उन्हें क्या? परन्तु उन्होंने करुणा करके एक अति भयंकर अनर्थ होने से बचा लिया। यदि सभी रानियों को जला दिया जाता तो उनके पितृपक्ष (पीहर) के सब राजाओं के साथ बैर हो जाता और उनके साथ भयंकर युद्ध होते, जिनमें लाखों करोड़ों लोगों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हत्या होती। चेलना की हत्या की वह छोटी-सी चिनगारी सारे भारतवर्ष को युद्ध की ज्वाला में झोंक देती जिससे व्यर्थ ही करोड़ों निरपराध लोगों की हत्या हो जाती। जिस प्रकार कि आस्ट्रिया के एक व्यक्ति की हत्या की छोटी सी घटना ने द्वितीय महायुद्ध का रूप धारण कर विश्व में कोहराम मचा दिया था।

भगवान् महावीर को केवल-दर्शन था। सम्पूर्ण दर्शन था। दर्शन है स्वसंवेदन। भगवान् महावीर पूर्ण संवेदनशील थे। अतः उनका अंतःकरण प्राणी-मात्र के दुःख से द्रवित हो उठता था अतः जो भी उनके संपर्क में आता उसके दुःख से द्रवित हो उसके दुःखनिवारण के लिए वे प्रवृत्त हो उठते थे, उनका किसी प्रकार का अपना स्वार्थ या लाभ नहीं था। यही सच्ची दया का स्वरूप है। वीतराग प्रभु अनंत दयालु होते हैं वे अपना जीवन व सर्वस्व जगत् के हित के लिए अर्पण कर देते हैं, अर्थात् दान कर देते हैं इसलिए अनंतदानी व दयालु कहे जाते हैं। भगवान् महावीर ने सब जीवों की रक्षा के लिए व दया के लिए ही प्रवचन फरमाया है।

इसी प्रकार भगवान महावीर ने राजा चण्डप्रद्योत को धर्मदेशना देकर रानी मृगावती को छुटकारा दिलाया। वीतराग भगवान् महावीर के जीवन की ये घटनाएं और अन्य अनेक घटनाएं तथा उनके विहारस्थ प्रवचन आदि विधेयात्मक अहिंसा के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

इन सभी घटनाओं में विशेषता यह है कि इनमें पक्ष-विपक्ष में से किसी व्यक्ति का भी अहित नहीं हुआ, प्रत्युत सब का हित ही हुआ है। सच तो यह है कि दया रूप अहिंसा सबके लिए हितकारी होती है।

दया के द्योतक अनेक शब्द हैं —जैसे औपपातिकसूत्र निर्युक्ति में कहा है—'अनुकंपा कृपा दयेत्येकार्थाः' अर्थात् दया, कृपा और अनुकंपा एकार्थक हैं। निशीथसूत्रचूर्णि 130 में कहा है—अनुकम्पनमनुकंपा दयायाम्। अर्थात् दुःखियों के दुःख से अनुकंपन रूप अनुकंपा दया का ही रूप है। अतः दया के अनुकंपा, करुणा, सेवा आदि रूपों का आगे विस्तार से वर्णन किया जा रहा हैं। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणा और अनुकम्पा

अचेतन-सचेतन में कोई भिन्नता है, तो वह मुख्यतः दो ही बातों में है—1. संवेदन करना और 2. जानना। संवेदन करने को 'दर्शन' व जानने को 'ज्ञान' कहा जाता है। ज्ञान और दर्शन गुण चेतन के मुख्य लक्षण हैं। अचेतन में ये गुण नहीं होते हैं। ज्ञान भी दर्शन के बाद होता है। इसलिए ज्ञान से अधिक महत्त्व दर्शन का है। जिस प्राणी का जितना दर्शन-गुण विकसित है उस प्राणी की चेतना उतनी ही अधिक विकसित है। वस्तुतः संवेदन गुण ही चेतना का प्रतीक है। शरीर में भी जिस स्थल पर संवेदनशक्ति खो जाती है, उसे हम मूर्च्छित या अचेतन कहते हैं। प्राणी का जितना-जितना विकास होता जाता है, संवेदनशक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। इस संवेदनशक्ति का अधिक विकास होने पर प्राणी अपने से भिन्न व्यक्तियों में होने वाली संवेदना या वेदना का भी स्वयं संवेदन करने लगता है। जिससे दूसरों को होने वाले दुःख से वह करुणित व अनुकंपित होने लगता है। उनकी वेदना को वह स्वयं संवेदन के रूप में अनुभव करता है और उस वेदना या दुःख को मिटाने का प्रयास करता है इसे ही दया कहा जाता है। पर-पीड़ा का संवेदन 'करुणा' या 'अनुकम्पा' है, पर-पीड़ा को दूर करने के लिए अपना योगदान देना 'दया' है। 'दया' करुणा या अनुकम्पा का क्रियात्मक रूप है। पर-पीड़ा से करुणित व्यक्ति अपने दुःख से ऊपर उठ जाता है और अपनी सामर्थ्य का उपयोग दूसरों की सेवा में करता है। करुणा जितने ऊँचे स्तर की होगी, जितनी गहरी होगी, उतनी ही विभु होगी तथा चेतना उतनी ही ऊँचे स्तर की होगी, गहरी होगी व विभु होगी।

जो साधक पर-पीड़ा से संवेदनशील होते हैं, वे सहज ही अपनी सामर्थ्य व शक्ति का उपयोग प्राणी मात्र का दुःख दूर करने में करते हैं। उनका यह योगदान जैनागम में अनन्त दान कहा गया है। ऐसे व्यक्ति में अनन्त ऐश्वर्य, अनंत सौन्दर्य और अनंत सामर्थ्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी अभिव्यक्ति होती है। ऐश्वर्य तो इस प्रकार का है कि उसे लेशमात्र भी कमी नहीं रहती है, अपने लिए संसार और शरीर की अपेक्षा नहीं रहती है। कमी अनुभव न होना ही लाभ है। लेशमात्र भी कमी न होना ही अनंत लाभ है; अनंत ऐश्वर्य है। करुणार्द्र व्यक्ति को संसार के सारे प्राणी भले लगते हैं, बड़े सुन्दर लगते हैं, बड़े प्यारे लगते हैं, जिससे उसका हृदय सौन्दर्य से भर जाता है। उसके लिए अपना दुःख कुछ भी शेष नहीं रहता। वह नश्वर भोगों से ऊपर उठ जाता है। फिर वह अपने अन्दर से आने वाले निज रस का आस्वादन करता है। यह रस सदा बना रहने वाला होने से अन्तहीन होता है। अतः यह अनंत रस होता है। इस रस की क्षति कभी नहीं होती है। इसलिए इस निज रस का धनी अनंत भोग का स्वामी होता है। उस करुणावान् व्यक्ति को सभी अपने लगते हैं, वह व्यक्ति भी सभी को अपना लगता है। यह आत्मीयभाव माधुर्य को प्रकट करता है। उसका माधुर्य, आत्मीयभाव सब प्राणियों के प्रति सदैव बना रहता है। मधुरता का यह रस प्रतिक्षण नया बना रहता है। यह अनंत माधुर्य ही जैनागम की भाषा में अनंत उपभोग कहा गया है। अनन्त उपभोग की प्राप्ति के पश्चात् संसार और शरीर से कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है। उसे पर की अपेक्षा नहीं रहती है। जहां पर की अपेक्षा होती है, वहीं असमर्थता होती है। जिसकी प्राप्ति में पर की अपेक्षा नहीं है, पराधीनता नहीं है, जो स्वाधीन है, उसमें असमर्थता की गन्ध मात्र भी नहीं होती है। उसमें असमर्थता का अभाव हो जाता है। असमर्थता का अभाव हो जाने से वह अनंत सामर्थ्यवान् होता है। इसी को आगम की भाषा में अनंतवीर्य कहा है।

इस प्रकार जो समस्त प्राणियों की पीड़ा से करुणित है, वह अनंत दान, अनंत भोग, अनंत उपभोग और अनंत वीर्य का स्वामी होता है। मोह के कम होने से करुणाभाव में वृद्धि होती है तथा संवेदनशक्ति बढ़ जाती है। जड़ता मिटने से चेतना का विकास होता है। जो जितना विषय सुख में आबद्ध है उसकी चेतना उतनी ही मूर्च्छित व जड़तायुक्त है। वह अपने सुख में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना डूबा रहता है कि दूसरों को दुःख होने पर भी उसमें उनके प्रति करुणा नहीं जागती है। वह दूसरों को दुःखी करके भी अपना सुख भोगता रहता है। उसकी वह क्रूरता, करुणाहीनता, उसकी चेतना की मूर्च्छित अवस्था की ही द्योतक है। मोह के घटने पर ही स्वार्थभाव घटने लगता है। स्वार्थ-भाव के घटने पर ही करुणाभाव जागृत होता है। अतः करुणा-भाव मोह के घटने या मिटने का द्योतक है। मोह के मिटने से कामना मिटती है, कामना के मिटने पर कभी कमी का अनुभव नहीं होता है, सदैव ऐश्वर्य व लाभ की अनुभूति होती है। कामना मिटने से कामना पूर्ति से होने वाला राग और कामना-अपूर्ति में होने वाला द्वेष मिट जाता है। राग-द्वेष के मिटने से भेद-भिन्नता मिटकर उसमें सबके प्रति माधुर्य भाव पैदा हो जाता है जो उसे निज रस (सुख) से भर देता है। यह निज रस की अनुभूति भोगोपभोग की उपलब्धि है। वह निज रस में इतना निमग्न रहता है कि फिर उसे कुछ भी चाह नहीं रहती है। चाह नहीं रहने से कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। पाना शेष नहीं रहने से करना शेष नहीं रहता है। चाहना, पाना, करना शेष नहीं रहने पर जानना शेष नहीं रहता है। कुछ भी शेष नहीं रहने पर पराधीनता, असमर्थता शेष नहीं रहती है। असमर्थता का शेष न रहना ही वीर्य है। इस प्रकार मोह के मिटने से जड़ता, कामना, राग (ममता), द्वेष (भेद-भिन्नता) व असमर्थता का अन्त हो जाता है जिससे जीव को अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, और अनंत वीर्य की उपलब्धि होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि वीतराग के पास एक दाना भी नहीं होता है, तब फिर वह क्या दान देता है? वह अनंत दानी कैसे है? तो कहना होगा कि वीतरागी पुरुष संसार के समस्त प्राणियों को विषय-सुख की दासता के तथा पराधीनता के सुख में आबद्ध देखता है। उसका हृदय इस पराधीनता की पीड़ा से संवेदनशील होकर करुणित हो जाता है। सभी प्राणियों को पराधीनता की पीड़ा से छुड़ाने के लिए अर्थात् उन्हें मुक्ति प्राप्त कराने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान-दान करने में प्रयत्नशील रहता है। यही उसका अनंत दान है।

इस प्रकार वीतराग की सर्वदा सर्व कल्याणकारी भावना अनंत दान है। वीतराग को लेशमात्र भी कमी का अनुभव नहीं होता, यही उसका अनंत लाभ है। वीतराग को लेशमात्र भी नीरसता का अनुभव नहीं होता, यही उसका अनन्त भोग है। प्रतिक्षण उसे नवीन रस का अनुभव होता है, यही उसका अनन्त उपभोग है। वह कृतकृत्य होता है, उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता, अतः उसे लेशमात्र भी असमर्थता नहीं रहती, यही उसका अनन्त वीर्य है। ये पांचों उपलब्धियां मोह के सर्वथा क्षय होने पर संभव हैं। अतः मोहनीयकर्म के पूर्णतः क्षय होने से कैवल्य की उपलब्धि होने पर उनकी भी उपलब्धि होती है।

करुणा या अनुकम्पा का उद्गम-स्थल अन्तःकरण है। अन्तःकरण से अन्तःकरण का मिलना करुणा है। दूसरे के अन्तः-करण के अनुभव को अपनी अनुभूति बना लेना सहानुभूति है। जिस समय सहानुभूति या करुणाभाव होता है, उस समय राग की, काम-वासना की लहरें उठना कम हो जाती हैं, मस्तिष्क का तनाव घट जाता है, अन्तः प्रवेश होता है, वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है।

करुणा का प्रारम्भ निकटवर्ती व पंचेन्द्रिय आदि विकसित प्राणियों के प्रति उत्पन्न सहानुभूति से होता है। हम अपने निकटस्थ व परिचित व्यक्तियों के अन्तःकरण (हृदय) की दशा से परिचित होते हैं अतः उन पर करुणा आ जाती है। जिससे हमारा संबंध व परिचय नहीं है, उनके हृदय की दशा से हम अपरिचित होते हैं अतः उन पर करुणा नहीं आती है। जैसे जैसे आत्मीयता का विकास होता जाता है, करुणा का क्षेत्र बढ़ता जाता है। फिर क्रमशः मनुष्य मात्र पर, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, आदि हिलते चलते जीवों पर व वनस्पति आदि स्थावर जीवों पर भी करुणा आने लगती है और अन्त में प्राणिमात्र के प्रति करुणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का भाव जागृत हो जाता है। कारण कि संसार के सभी प्राणी विकारी हैं। विकार या दोष स्वयं दुःख रूप हैं तथा इनका फल भी दुःख रूप में अवश्य भोगना पड़ता है। इस दृष्टि से सब प्राणी दुःखी हैं, सब प्राणी करुणा के पात्र हैं। इस प्रकार संसार के अनंतानंत प्राणियों के दुःख का दर्शन करने से अनंत करुणाभाव जागृत होता है। ऐसी अनंत करुणा राग का आत्यन्तिक विनाश कर वीत-रागता का कारण बनती है, जो आत्मा के पूर्ण विकास की द्योतक है।

करुणा और मोह में अन्तर

करुणा व मोह में बड़ा अन्तर है। मोह का संबंध भोग से है। भोग-प्राप्ति के लिए की गई प्रवृत्ति कामना-वासना रूप होने के कारण मोहयुक्त होती है। दूसरे के दुःख को दूर करने के लिए की गई प्रवृत्ति सेवारूप होने के कारण करुणायुक्त होती है। करुणा या सेवा को मोह मानना भारी भूल है। इससे हृदय में कठोरता आती है। ऐसा व्यक्ति हृदयहीन हो जाता है, कर्त्तव्य-विमुख हो जाता है। अतः करुणा उपादेय है और करुणा का क्रियात्मक रूप सेवा ग्राह्य है तथा मोह हेय है और मोह का क्रियात्मक रूप 'भोग' त्याज्य है।

करुणा और मोह में रात-दिन का अन्तर है। मोह में दूसरों से सुख पाने की इच्छा होती है। करुणा में दूसरों के दुःख से द्रवित होकर निजी सुख सामग्री को समर्पित करने की भावना होती है। करुणा सब दुःखियों के प्रति समान होती है। उसमें जाति-पांति, धनी-निर्धन, छोटा-बड़ा, स्वजन-परजन, अपनापन-परायापन का भेद नहीं होता है।

करुणा आत्म-विकास का ही प्रतीक है। करुणा अन्तर्भाव से उत्पन्न होती है। करुणावान् दूसरों के लिए अपनी वस्तुओं का, तन-मन के सुखों का त्याग करता है, भोगी दूसरों से वस्तुओं व तन-मन के सुखों को पाने के लिए लालायित रहता है। वह रात-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिन इनकी भिक्षा मांगता रहता है। अतः भिखारी होता है। सेवक दाता है। वह सतत प्रसन्नता विकीर्ण करता रहता है।

करुणा से हृदय द्रवित होता है। उसके साथ ही हृदय में स्थित राग भी गल जाता है। जिस प्रकार ताप से ठोस पदार्थ द्रव में, द्रव पदार्थ गैस में परिवर्तित होकर अदृश्य हो जाता है इसी प्रकार करुणा अर्थात् संवेदनशीलता के ताप से प्रगाढ़ 'मोह' द्रवित होकर तरलता में, तरल मोह वाष्प के रूप में उड़कर अदृश्य हो जाता है।

हृदयहीन व्यक्ति हिंसक पशुतुल्य होता है। उदाहरणार्थ शेर, चीता, गिद्ध आदि पशु-पक्षी का हृदय तड़फते प्राणियों को खाने पर भी द्रवित नहीं होता है इसी प्रकार हृदयहीन व्यक्ति भी दूसरे मनुष्यों को बिलबिलाते, क्रन्दन करते, तड़फते देख कर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं, उनका हृदय नहीं पसीजता, यह पशु-प्रवृत्ति है।

जैन-धर्म में करुणा को सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है। षट्-खंडागम की पुस्तक 13 के पृष्ठ 362 पर धवला टीका में "करुणाए जीवसहावस्स" कहा गया है अर्थात् करुणा-भाव जीव का स्वभाव है। कारण कि करुणा कर्मजनित नहीं होती। स्वभाव को धर्म कहा है। जहां स्वभाव नहीं, वहां विभाव है। जहां विभाव है अर्थात् विकारीभाव है वहां धर्म नहीं है। जहां धर्म नहीं है वहां अधर्म है। आशय यह है कि करुणा के अभाव में धर्म नहीं है, अधर्म है।

करुणा एक भाव है। जो भाव होता है वह अभाव रूप नहीं होता है अर्थात् करुणावान् में दूसरों के दुःख दूर करने का भाव सदा बना रहता है। करुणा के विषय में कहा है :—

(1) "दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्"
(सर्वार्थसिद्धि 7-11) तत्त्वार्थवार्तिक 7-11

अर्थात् दीनों पर अनुग्रह-भाव रखना करुणा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) करुणाए कारणं कम्मं करुणेत्ति किं ण वुत्तं ? ण, करुणाए जीव-सहावस्स कम्मजणिदत्तविराहादो ।

(धवला पुस्तक 13 पृष्ठ 362)

प्रश्न : करुणा का कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, वह क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि करुणा जीव का स्वभाव है, अतः उसे कर्म-जनित मानने में विरोध आता है ।

(3) दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ।।

(हेमचन्द्र, योगशास्त्र, चतुर्थ प्रकरण–120)

अर्थात् जो गरीब हैं या दुख दर्द से संतप्त हैं, भयभीत हैं या प्राणों की भीख मांगते हैं ऐसे लोगों के कष्ट-निवारण की बुद्धि कारुण्य है ।

(4) कारुणिकत्वं च वैराग्याद् न भिद्यते (स्याद्वादमंजरी) अर्थात् वैराग्य से कारुण्य भिन्न नहीं है । जहां कारुण्य है वहां वैराग्य है अर्थात् राग का गलना है ।

जहाँ करुणा है वहाँ अनुकम्पा है । दुःखियों, पीड़ितों को देखकर जिसका हृदय प्रकंपित नही होता वह सहृदय न होकर निर्दय है । उसका हृदय पत्थर-हृदय है, उसमें जड़ता है, संवेदन-शीलता का अभाव है अर्थात् दर्शन–गुण पर भंयकर आवरण है । उसके चिन्मयगुण का विकास नहीं हुआ है । संवेदनशीलता ही जीव का लक्षण है । जिसमें जितनी संवेदनशीलता की कमी है उसमें उतनी ही जड़ता है वह उतना ही अधिक अविकसित निम्न-स्तर का प्राणी है । संवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है । जिस प्राणी के हृदय में जितनी अधिक संवेदनशीलता है उसके हृदय में उतनी ही अधिक अनुकम्पा होगी । अनुकंपा सम्यक्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का लक्षण है जहां अनुकंपा नहीं वहाँ सम्यक्त्व नहीं, अनुकंपा-हीन प्राणी कभी सम्यक्दृष्टि नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः साधक वही हो सकता है जो सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वही है जिसके हृदय में अनुकंपा है। जैसाकि कहा है—

प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्।
(धवला 1/1,1,4)

अर्थात् प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्वं कीदृशं भवति ? पञ्चेति, पंचभिः शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यरूपैर्लक्षणैः लिङ्गैर्लक्षितमुपलक्षितं भवति।
धर्म संग्रह, अधिकार 2

संवेगो चिअ उवसम निव्वेओ तहय होइ अणुकंपा अत्थिक्कं चिअ एए सम्मत्तो लक्खणा पंच। (बृहत्कल्पवृत्ति उ. 1, प्रकरण 2)

अर्थात् शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य इन पांच लक्षणों से युक्त सम्यक्त्व होता है।

संवेगः प्रशमः स्थैर्यम् असंमूढत्वमस्मयः आस्तिक्यमनुकम्पेतिज्ञेया सम्यक्त्वभावना (महापुराण 29/97)

संवेग, प्रशम, स्थिरता, अमूढ़ता, गर्व न करना, आस्तिक्य और अनुकंपा ये सात सम्यक्त्व की भावनाएं हैं।

अर्थात् 'अनुकंपा' सम्यग्दर्शन के पांच लक्षणों (शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा एवं आस्था) में से एक लक्षण है। सम्यग्दर्शन मुक्ति का मार्ग होने से धर्म है अतः अनुकंपा भी धर्म है।

अनुकंपा के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा है :—

1. तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेस, होदि अनुकंपा ।।
(पंचास्तिकाय 137)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दु:खी को देखकर जो मनुष्य स्वयं व्यथित होता हुआ उसके प्रति दया का व्यवहार करता है वह उसकी अनुकपा है ।

2. बाला य बुड्ढा य अपंगा य, लोगे विसेसे अणुकंपणिज्जा (बृहत्-कल्पभाष्य 4342)
बालक, वृद्ध और अपंग व्यक्ति विशेष अनुकंपा के योग्य होते हैं।

3. मा होह णिरणुकंपा होह दाणयरा ।
अनुकंपा रहित मत होओ, अपितु दान करो ।

4. सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकंपा (तत्वार्थवार्तिक 1,2,30)
समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव अनुकंपा है ।

5. त्रसस्थावरेषु दया अनुकंपा (तत्वार्थश्लोकवार्तिक 1,2,12)
त्रस एवं स्थावर प्राणियों पर दया करना अनुकंपा है ।

6. अनुकंपा दु:खितेषु कारुण्यम् (तत्त्वार्थभाष्य, हरिभद्रसूरि वृत्ति, 1,2)
दु:खी प्राणियों पर करुणा करना अनुकंपा है ।

7. अनुग्रहबुद्धयार्द्रीकृतचेतसः परपीड़ामात्मसंस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा (तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धसेनगणिवृत्ति 6,13)
उपकार बुद्धि से दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझ कर दयालु व्यक्ति का अनुकंपित होना अनुकम्पा है ।

8. धर्मस्य परमं मूलमनुकंपां प्रचक्षते (उपासकाध्ययन 230)
धर्म का परम मूल अनुकंपा है ।

9. अनुकंपा दु:खितेषु अपक्षपातेन दु:खप्रहाणेच्छा (योगशास्त्र, स्वोपज्ञविवरण 2,15)
बिना पक्षपात के दु:खियों का दु:ख दूर करने की इच्छा अनुकंपा है ।
क्लिश्यमानजन्तूद्धरणबुद्धिः अनुकंपा (भगवती आराधना मूला. टीका 1696)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दु:खी प्राणियों का उद्धार करने की बुद्धि अनुकंपा है ।
अनुकंपा दु:खितसत्त्वविषया कृपा (धर्मबिन्दु, मुनिचन्द्र-वृत्ति 3, 7) दु:खी प्राणियों पर कृपा अनुकंपा है ।

10. अनुकंपाखिलसत्त्वकृपा (अनगार धर्मामृत 2, 52)
अनुकंपा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रह: (लाटी संहिता 3-89, पंचाध्यायी 2-44-6)

सर्वेषु प्राणिषु चित्तस्य दयार्द्रत्वमनुकंपा (तत्त्वार्थवृत्ति) श्रुतसागरसूरि 1, 2)

समस्त प्राणियों पर चित्त की दयालुता अनुकंपा है ।
नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अनुकंपा का निषेध करने वालों को सावधान करते हुए कहा है—

अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइं पडिसिद्धं ।
(व्याख्याप्रज्ञप्ति 8.36 की टीका)

अर्थात् जिनेन्द्रदेवों ने अनुकंपा-दान का कभी निषेध नहीं किया है ।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा

जब हम विकास-क्रम की दृष्टि से प्राणी-जगत् को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि जिस प्राणी में जितनी अधिक पारस्परिक सहयोग की भावना है, वह उतना ही अधिक विकसित है, अर्थात् उसके शरीर, इन्द्रिय और मन उतने ही अधिक विकसित हैं। विकास का यह क्रम वृक्ष केंचुए, चींटी, मक्खी, पशु-पक्षी में स्पष्ट देखा जा सकता है। इनसे अधिक विकसित बन्दर हैं। उनमें सहयोग की इस भावना ने पारिवारिकता का रूप ले लिया है। वानर से नर अधिक विकसित हैं, अतः मनुष्य जाति में सहयोग की भावना परिवार से बढ़कर समाज व राष्ट्र के रूप में प्रकट होती है।

सहयोग की भावना का आधार है आत्मीयता का भाव। आत्मीयता का विकास होता है आत्मा के विकास से। जिस प्रकार चन्द्रिका का विकास चन्द्र के विकास का द्योतक है, इसी प्रकार आत्मीयता का विकास आत्मा के विकास का द्योतक है।

स्वार्थ की कमी आत्मीय-भाव के विकास की द्योतक होती है। जिसमें जितनी अधिक स्वार्थपरता की कमी होगी, वह उतना ही अधिक विकसित होगा। स्वार्थपरक वृत्ति के अनेक रूप हैं। जो अत्यन्त स्वार्थी होते हैं वे अपने शरीर को ही सब कुछ मानते हैं, उनमें अपने बाल-बच्चों व परिवार के प्रति भी प्रेम नहीं पैदा होता है, वे पत्थर हृदय हैं, जड़तुल्य हैं। प्राणी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुकूल प्रकृति (कुदरत) में जन्म लेता है। इस प्राकृतिक नियमानुसार ऐसे पत्थर-हृदय, जड़-प्रकृति के प्राणी स्थावर जगत् पृथ्वी, वनस्पति आदि में जन्म लें तो आश्चर्य की बात नहीं है।

जीवन में स्वार्थ-भावना जितनी घटती जाती है उतनी ही सहयोग की भावना बढ़ती जाती है। प्राथमिक स्थिति में सहयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अर्थ होता है स्वयं सुख पाने के लिए दूसरों को सुख पहुंचाना। इसमें प्रतिफल पाने की भावना रहती है अतः यह वणिक्-वृत्ति है। इसमें सौदा होता है, विनिमय होता है, परन्तु अपने ही शरीर तक सीमित अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थ-वृत्ति की अपेक्षा यह अधिक अच्छी वृत्ति है। जैसे-जैसे इस वृत्ति का विकास होता है, वैसे-वैसे सहयोग देने की भावना बढ़ती जाती है और प्रतिफल पाने की भावना घटती जाती है। फिर प्रतिफल की चाह के बिना भी सहयोग देने की भावना जागृत होती है।

सेवा का स्वरूप—प्रतिफल की चाह किये बिना दूसरों के हित के लिए कार्य करना या सहयोग देना ही सेवा है। सहयोग देने में प्रतिफल पाने की भावना जितनी कम होगी, वह सेवा उतनी अधिक शुद्ध व उच्चस्तर की होगी। प्रतिफल पाने की भावना स्वार्थपरता का ही एक रूप है अतः स्वार्थपरता सेवा का दोष है, विकार है जिसे दूर करना आवश्यक है।

सेवा के सुख का निरालापन—सेवा या आत्मीय-भाव का अपना एक रस है, एक सुख है। यह रस या सुख इन्द्रिय भोग के रस से या सुख से भिन्न प्रकार का है। हम किसी दुःखी प्राणी की सहायता करते हैं और उसका दुःख दूर हो जाता है तो हमारे हृदय में एक प्रकार का सुखानुभव होता है। यह सुख का अनुभव इन्द्रिय-भोग से प्राप्त होने वाले सुख के अनुभव से निराला, विशेष प्रकार का होता है। यही कारण है कि जैसे-जैसे सेवा के सुख का स्वाद आता है, इन्द्रिय भोग के सुख का स्वाद घटता जाता है, भोग-सुख छूटता जाता है।

इन्द्रिय व मन के भोग से उत्पन्न होने वाला सुख इन्द्रिय और मन के सक्रिय होने पर मिलता है। उसमें सुख का अनुभव इन्द्रियों की उत्तेजना पर निर्भर करता है। जब ज्वर में जिह्वा-इन्द्रिय की स्वाद ग्रन्थियां उत्तेजित नहीं होती, उस समय कितना भी स्वादिष्ट भोजन किया जाय भोजन के स्वाद का सुख नहीं आ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता। साथ ही भोग-जनित सुख क्षणिक होता है जो भोगते समय ही प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। हलुआ खाने के स्वाद का सुख जो पहले ग्रास में आता है, वह दूसरे ग्रास में नहीं आता और चालीस-पचास ग्रास खा लेने के बाद तो स्थिति यह बन जाती है कि वह सुख ही दुःख-रूप प्रतीत होने लगता है तथा भविष्य में हम हलुआ खाने की उस स्मृति को जागृत करके स्वाद का सुख नहीं पा सकते। परन्तु आत्मीय भाव या सेवा से प्राप्त सुख में यह दोष नहीं है, इस सुख की उपलब्धि किसी प्रकार की उत्तेजना से नहीं होती, परन्तु समता व शान्ति से होती है। इन्द्रिय सुख-भोग के समान सेवा का यह सुख न तो उबाने वाला होता है और न क्षीण ही होता है प्रत्युत् सेवा कितनी ही की जाय, सुखानुभूति बढ़ती ही जाती है और भविष्य में भी जब भी सेवा-कार्य की स्मृति होती है, हृदय में सरसता व प्रसन्नता की लहर दौड़ने लगती है।

भोगजन्य सुख का अन्त नीरसता में होता है। समय बीतने के साथ उस सुख का रस सूखता जाता है, परन्तु सेवा से उपलब्ध सुख सदा सरस रहता है। सेवा द्वारा जिस दुःखी व्यक्ति का दुःख दूर किया गया है, उस व्यक्ति के न रहने पर भी उसका दुःख दूर होने से हृदय में जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता नष्ट नहीं होती। सेवा के रस या सुख की क्षति, पूर्ति, तृप्ति या निवृत्ति कभी नहीं होती है। वह अक्षय होता है। यह बाहर से पैदा नहीं होता, अन्दर से उद्‌भूत होता है। अतः आध्यात्मिक सुख है, भौतिक नहीं। इस सुख की जड़ अन्तःकरण में होती है। अतः यह सदा सरस रहता है।

नीरसता ही कामना की जननी है। भोग-जनित व कामना-पूर्ति से प्राप्त सुख या रस का स्वभाव क्षीण होने का है, अतः वह नष्ट हो जाता है जिससे अन्तःकरण में नीरसता व रिक्तता आ जाती है। नीरसता व रिक्तता किसी को पसन्द नहीं है, अतः नीरसता व रिक्तता से उत्पन्न अनमनापन रूपी ऊब को मिटाने के लिए, सुख पाने के लिए नई कामना का जन्म होता है। क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी की मान्यता है कि सुख इन्द्रिय-भोगों में है, अतः वह कामना-पूर्ति का प्रयत्न करता है। कामना-पूर्ति होने पर जो भोग का सुख मिलता है, वह क्षीण होता हुआ नष्ट हो जाता है तथा पुनः वही नीरसता की स्थिति आ जाती है, इस प्रकार कामना पूर्ति व उत्पत्ति का दुष्चक्र चलता ही रहता है।

कामना-उत्पत्ति-पूर्ति का यह दुष्चक्र तभी टूट सकता है जब सुख की उपलब्धि कामना-पूर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से हो और साथ ही वह स्थायी भी हो। ऐसा स्थायी सुख बाहर के भोग्य पदार्थों से तो मिलना कभी भी संभव नहीं है, क्योंकि वे पदार्थ स्वयं ही अनित्य हैं तथा उनका वियोग अवश्यम्भावी है। अतः आवश्यकता है ऐसे सुख की जो सुख अन्तर आत्मा से ही उपलब्ध हो व स्थायी हो। सेवा से प्राप्त सुख ऐसा ही सुख है। वह अन्तर से स्वयं ही प्रकट होता है। अतः स्वाधीन भी है और स्थायी भी है। इस आंतरिक सुख के आस्वादन से कामना-पूर्ति व भोगजनित विषय सुख के पीछे दौड़ने की भावना में शिथिलता व गति में धीमापन आता जाता है, राग की तीव्रता घटती जाती है, राग गलता जाता है, और भोग-सुख छूटता जाता है। इस प्रकार सेवा राग व भोग-वासना को गलाने का क्रियात्मक रूप है, अर्थात् सेवा प्रवृत्ति-परक साधना है। राग के गलने तथा मंद होने से अन्तरात्मा में शान्ति का अनुभव होता है। यह शान्ति आंतरिक विश्रान्ति है। यह प्राकृतिक नियम है कि शान्ति या विश्रान्ति से शक्ति की वृद्धि होती है। अन्तःकरण की शक्ति ही चेतना की शक्ति है। चेतना-शक्ति का विकास चेतन प्राणी के विकास का द्योतक है। प्राणी की चेतना के विकास के प्रभाव से प्राणों का विकास होता है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, आयु आदि प्राणों की प्राप्ति होने व इनका प्राणबल बढ़ने के रूप में प्रकट होता है।

भोगजन्य सुख और सेवाजन्य सुख में एक अन्तर यह भी है कि भोगजन्य सुख जिन पदार्थों व परिस्थितियों से मिलता है, उनको सदैव बनाये रखने व वृद्धि करने की कामना निरन्तर बनी रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु, सेवाजनित सुख में इसके विपरीत होता है—इसमें जिन दुःखी व्यक्तियों की सेवा की है ऐसे दुःखी व्यक्तियों की संख्या अधिक हो, अथवा उनका अधिक दुःख हो ताकि अधिक सेवा का अवसर मिले, ऐसी भावना नहीं होती। वह चाहता है कि ऐसी स्थिति रहे जिसमें प्राणियों को दुःख ही न हो अथवा हो तो कम से कम दुःख हो तथा सेवा कराने की स्थिति ही उत्पन्न न हो।

सेवा व वैयावृत्त्य का महत्त्व बताते हुऐ आचार्य हरिभद्र 'आवश्यकसूत्र' की टीका में फरमाते हैं कि एक बार भगवान् महावीर से गौतम गणधर ने पूछा—"भगवन्! एक साधक अपना सर्वस्व आपको समर्पित कर आपके चरणों में रहकर आपकी सेवा करता है और दूसरा साधक आपके चरणों में, आपकी सेवा में उपस्थित नहीं रहता है, परन्तु ग्लान, रोगी एवं पीड़ित की सेवा करता है। इन दोनों में से कौन धन्य है?"

उत्तर में भगवान् ने फरमाया—"हे गौतम! मुझे अपनी पूजा, सेवा नहीं चाहिए। मैं तो पीड़ित-ग्लान की सेवा को अपनी सेवा समझता हूं। मेरी आज्ञा की आराधना करना, अनुपालन करना ही मेरी आराधना, दर्शन व सेवा है। जो व्यक्ति ग्लान, रोगी, पीड़ित, संतप्त व दुःखी की सेवा करता है वह धन्य है—जं गिलाणं पडिचरई, से धन्ने।"

जो सेवा सुश्रूषा दूसरे व्यक्ति के आत्म-विकार दूर करने एवं साधना में सहयोग देने के उद्देश्य से की जाती है, वह वैयावृत्य है, उच्च-कोटि की सेवा है। इसका उद्देश्य आत्म-विकारों का क्षय करना है, कर्मों की निर्जरा करना है और इसका फल कर्म-क्षय के रूप में मोक्ष की प्राप्ति है। जैसा कि कहा है—

पासंगिअभोगेणं वेयावच्चम्मि मोक्खफलमेव।
आणाआराहणओ अणुकंपदि विसयम्मि॥

अर्थात् भगवान् की आज्ञा का आराधक साधक प्रसंगानुसार प्राप्त भोग सामग्री को अनुकंपापूर्वक सेवा में लगाता है तथा उसके फल रूप में मोक्ष प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यही नहीं वैयावृत्य से सर्वांगीण विकास होता है। यथा—

1. वेयावच्चेणं तित्थयरणामगोयं कम्मं बंधइ। (उत्तरा० अ० 29) अर्थात् वैयावृत्य-सेवा से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म बंधता है।

2. आत्मप्रयोजनपर एव जायते स्वाध्यायमेव कुर्वन्। वैयावृत्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्येत (भगवती आराधना 329) अर्थात् स्वाध्याय करने वाला केवल अपनी ही उन्नति करता है जबकि वैयावृत्य (सेवा) करने वाला स्वयं की और अन्य की दोनों की उन्नति करता है।

3. सोउण वा गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खबेलाए।
जंति तुरियं ण गच्छति, लग्गति गुरूए स चउमासे॥
(निशीथसूत्र चूर्णी 10)

विहार करते हुए, गाँव में रहते हुए, भिक्षाचर्या करते हुए यदि सुन पाए कि कोई भी साधु-साध्वी रुग्ण है तो शीघ्र ही वहां पहुंचना चाहिए। जो साधु-साध्वी शीघ्र नहीं पहुंचता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

वैयावृत्य आभ्यन्तर तप है, उस तप के स्वरूप को विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से निरूपित किया गया है। यथा—

1. अद्धाण तेण सावद-रायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं उत्तं संगहसारक्खणो वेद।

जो मार्ग में चलने से थक गये है, चोर, हिंसक पशु, राजा द्वारा व्यथित, नदी की रूकावट, मरी (प्लेग) आदि रोग तथा दुर्भिक्ष से पीड़ित हैं उनकी सार संभाल व रक्षा करना वैयावृत्य तप है।

2. वेयावच्चं नियमं करेह, उत्तमगुणधरंताणं।
सच्चं किर पडिवाई, वेयावच्चं अपडिवाई॥

उत्तम गुणधारक मुनिराजों की नित्य वैयावृत्य (सेवा) करनी चाहिये, क्योंकि अन्य सभी गुण तो प्रतिपाती हैं, एक बार प्राप्त होने के बाद कदाचित् नष्ट हो जाते हैं, मगर वैयावृत्य अप्रतिपाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ।। रत्नकरंडश्रावकाचार, 117 वसुनंदी श्रावकाचार 2333, पद्मनंदी पंचविंशति 2/50,

अर्थात् चार ज्ञान के धारक गणधर आहारदान, औषधदान, उपकरणदान और आवासदान से चार प्रकार का वैयावृत्य करते हैं, और वैयावृत्य धर्म है

वैयावृत्य को निर्जरा के बारह भेदों में भी स्थान प्राप्त है। निर्जरा धर्म का अंग है। अतः वैयावृत्य अथवा सेवा भी धर्म है। कर्म-निर्जरा के लिए इनका बड़ा महत्त्व है।

अतः वैय्यावृत्य या सेवा वह राजमार्ग है जिस पर भौतिकता व आध्यात्मिकता की गाड़ियां उत्कर्ष की ओर अग्रसर होती हैं, जिसके इधर-उधर, आस-पास किसी प्रकार की खाई व खड्डे का कोई भी खतरा नहीं है। अतः जो साधक साधना के राजमार्ग पर चलना चाहता है उसके लिए सेवा उत्तम मार्ग है। सेवा संवर भी है और निर्जरा भी है। अन्न-जल, वस्त्र-पात्र, शिक्षा-चिकित्सा आदि से किसी को शान्ति पहुंचाना, सेवा का क्रियात्मक पक्ष है। सेवा आध्यात्मिक एवं भौतिक इन दोनों प्रकार की उन्नति का मार्ग है। सेवक भौतिक उन्नति से स्वर्ग का सुख एवं आध्यात्मिक उन्नति से अपवर्ग का आनंद पाता है। इसलिए सेवा-धर्म की महिमा में महर्षियों ने कहा है—"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः" अर्थात् सेवाधर्म अतिगहन है जिसकी महिमा का पार पाने में योगी भी असमर्थ हैं।

इस सूत्र में योगियों के लिए भी सेवा को गहन कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार योगी समदृष्टि होता है, शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, सुख-दुःख, अपमान-सम्मान, निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ आदि की अनुकूलता-प्रतिकूलता में समता से रहता है; उसी प्रकार सेवक भी शत्रु-मित्र के प्रति समता-भाव रखता है तथा सबका हित ही करता है। वह अपनी धन-संपति का त्याग भी करता है। अर्थात् योगी के सब गुण तो न्यूनाधिक रूप में उसमें होते ही हैं साथ ही अपनी वस्तु, सामर्थ्य व सुख का समपर्ण-भावना से त्याग करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसकी अपनी विशेषता है। इसीलिए सेवा-धर्म के पालन को योगियों के लिए भी गहन कहा है।

वस्तुतः सेवक को अपने मन पर विशेष संयम रखना पड़ता है, अपने सुख का विशेष त्याग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ रोगियों की सेवा को ही लें। सेवक को रोगी के मल-मूत्र, उल्टी-पीप आदि घृणित पदार्थ साफ़ करने होते हैं। उसे घृणा को जीतना होता है, रोगी की सुश्रुषा करने के लिए रात भर जागना होता है। क्षय, कोढ़, हैजा आदि संक्रामक रोग से ग्रस्त रोगियों के सम्पर्क में आना और स्वयं के रोग-ग्रस्त होने की सम्भावना का खतरा उठा कर सेवा करना कितना महान् कार्य है। इसका प्रत्यक्षीकरण मदर टेरेसा के सेवा-स्थलों में किया जा सकता है।

यह समझना कि सेवा वही कर सकता है जो धनी है, निर्धन सेवा नहीं कर सकता, समीचीन नहीं है। कारण कि जैन-धर्म में सेवा के नौ प्रकार बताये हैं यथा—1. अन्न, 2. जल, 3. वस्तु, 4. पात्र, 5. विश्राम, 6. मन से दूसरे का भला चिन्तन करना, 7. मुख से मधुर वचन बोलकर शान्ति देना, 8. काया से सुश्रुषा करना और 9. नम्रता का व्यवहार करना, अहंभाव का त्याग करना। इनमें से प्रथम पांच प्रकार की सेवा का सम्बन्ध वस्तुओं से है अतः इनमें भले ही कोई असमर्थ हो, परन्तु अन्तिम चार का सम्बन्ध स्वयं से है। अतः इनसे सेवा करने में प्रत्येक व्यक्ति समर्थ है। सेवा के इन रूपों का महत्व भी वस्तुओं द्वारा की जाने वाली सेवा से कम नहीं है। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सुविधा के अनुसार सेवा कर अपना व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन उन्नत बनाये।

वास्तविकता तो यह है कि भावात्मक सेवा असीम होती है और भावात्मक सेवा की अभिव्यक्ति क्रियात्मक सेवा में होती है। दोनों प्रकार की सेवाएं परस्पर पूरक हैं। भावात्मक सेवा प्राण और क्रियात्मक सेवा शरीर के समान मानव-जीवन के भिन्न अंग हैं। सेवा ही मानव-जीवन की विशेषता है, सेवा रहित जीवन पशु जीवन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा का भाव उसी में उत्पन्न होता है, जो अपनी प्रसन्नता के लिये वस्तु अवस्था एवं परिस्थिति की खोज नहीं करता है। क्योंकि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से सुख चाहना अर्थात् उनका दास हो जाना सेवा नहीं होने देता है। भोगी संसार के पीछे दौड़ता है और सेवक के पीछे संसार दौड़ता है तथा उसे अपना प्यार प्रदान करत है। प्यार के आदान-प्रदान में ही सच्चा सुख है। संसार में सच्चा प्यार सेवक को ही मिलता है। भोगी संसार को प्यार करता है और सेवक को संसार प्यार करता है। सेवक को संसार की ओर से मिलने वाले प्यार के लिये लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। वह प्यार स्वतः आता है और स्वतः आने पर भी सेवक को बांध नहीं पाता है। परन्तु, सेवा सरिता के प्रवाह के समान सहज ही सेव्य की ओर बहती रहती है। सेवक पर किसी भी परिस्थिति का किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ता है। सेवक के हृदय से क्रियाजन्य रस की आसक्ति स्वतः निवृत्त हो जाती है जिस निवृत्ति को योगी योग से, ज्ञानवान् विवेक से प्राप्त करता है, सेवक उसी को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग रूप सेवा से प्राप्त कर लेता है।

सेवा का भगवद्रूप—निर्धन, दीन, दरिद्र भी चेतनायुक्त होने से चिदानन्द प्रभु के, नारायण के ही रूप हैं। सेवा की आवश्यकता व अपेक्षा दरिद्र, दीन एवं दुःखी को ही होती है, सम्पन्न व सुखी को नहीं। अतः दरिद्र-नारायण की सेवा ही प्रभु की सेवा है। प्रभु की भक्ति के नौ प्रकार प्रसिद्ध हैं, यथाः—1. अर्चना 2. वंदना 3. स्मरण 4. पाद-सेवन 5. श्रवण 6. कीर्त्तन 7. दासभाव 8. सख्यभाव और 9. आत्मभाव।

दरिद्र-नारायण अर्थात् गरीबों को आवश्यक वस्तुएं समर्पण करना अर्चना है। उनके प्रति विनम्र व्यवहार करना, आदर-सत्कार करना वन्दना है। दुःख-निवारणार्थ उनका स्मरण करना स्मरण है। अपने आचरण द्वारा उनकी सेवा करना चरण-सेवा या पाद-सेवन है। दुःख-दर्द को ध्यान से सुनना श्रवण है। दुःखियों के सद्गुणों की प्रशंसा करना कीर्त्तन है। दुःखियों के दास बनकर सेवा करना दास्यभाव व मित्र के समान सेवा करना सखाभाव है तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीन-दुःखियों के प्रति आत्मीयता का व्यवहार करना आत्म-भाव भक्ति है। इस प्रकार दरिद्रनारायण की भक्ति भगवान् की नवधा भक्ति है।

जो दरिद्रों या दीनों की बन्धु के समान सेवा करता है वह दीनबन्धु है, पतितों का उत्थान करता है वह पतितपावन है, दीनों पर दया करता है वह दीनदयाल तथा जो दीनों का दुःख हरता है वह दुःखहारी है। दीनबन्धु, दीनदयाल, दुःखहारी, पतितपावन ये सब प्रभु के पर्यायवाची शब्द हैं, परमात्मा के नाम हैं, अतः जो दीन-दरिद्र की सेवा करता है, वह प्रभु-तुल्य बन जाता है, कारण कि उसमें प्रभु की विशेषताएं आ जाती हैं। संसार में जितने भी प्रभु के अवतार हुए हैं, वे सेवक ही हुए हैं। उनका सेवा का क्षेत्र मानव तक ही सीमित न होकर पशुओं तक व इससे भी अधिक व्यापक रहा है, यथा—श्रीकृष्ण गोसेवक थे। ईसामसीह भेड़-पालक, मोहम्मद साहब बकरी-पालक थे। ये सभी महापुरुष अवतार की कोटि में गिने जाते हैं।

भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने सेवा द्वारा जन-कल्याण किया इसलिए महान् कहलाये। संसार में महान् पद व सम्मान के अधिकारी या पात्र सदैव सेवक ही हुए हैं। वस्तुतः सेवक भगवान् के अवतार ही हैं। सेवक में जितनी भावना विभु होती जाती है उतनी ही निर्दोषता बढ़ती जाती है। निर्दोषता या निर्विकारता प्रभु का ही गुण है। इस प्रकार सेवा प्रभु-प्राप्ति का उपाय है।

निर्दोषता—सेवक जब अन्य की सेवा करता है तो उसकी स्वयं की सेवा स्वतः होती रहती है। सेवा से राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ-भाव आदि दोष दूर होते हैं। इन दोषों के दूर होने से शान्ति, मुक्ति एवं प्रसन्नता मिलती है जो उसकी अपनी सेवा है। कारण कि सुख-भोग की लालसा से रहित होने पर ही सेवा-भाव पैदा होता है। सेवा-भाव राग-द्वेष से रहित है। अतः सेवा-भाव से किया गया कार्य या प्रवृत्ति रागनिवृत्ति का साधन है, रागवृद्धि का नहीं।

सम्मान, कीर्त्ति आदि सुख-भोग के प्रलोभन से की गई सेवा, सेवा नहीं, सेवा के रूप में भोग है। सेवा के रूप में किया गया भोग दोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। सेवक को इस दोष से बचना चाहिए। सेवा में जितना अंश त्याग का होगा वह उतनी ही निर्दोष होगी और सेवा में जितना अंश भोग का होगा वह उतनी ही दोषमय होगी।

उदारता—सेवा का एक फल यह भी होता है कि जिसकी सेवा की जाती है उसमें स्वतः सेवा का भाव व उदारता जागृत होती है। सेवक में त्याग एवं उदारता दोनों होती है जो सेव्य में भी इनका बीजारोपण करती है। वस्तुतः दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना और अपने अधिकारों का त्याग ही सेवा का स्वरूप है।

जो उदार होता है वह किसी का बुरा नहीं चाहता। जो किसी का बुरा नहीं चाहता वह सुखियों देखकर को प्रसन्न तथा दुःखियों को देखकर करुणित होता है। सुखियों को देखकर प्रसन्न होने से सुख-भोग की कामना क्षीण होती है। इस प्रकार सेवा, वासना-कामना के त्याग में सहायक होती है। सेवा वही कर सकता है जो दूसरों के दुःखों की अनुभूति स्वयं करता हो, अतः सेवा द्वारा दूसरों के दुःखों को दूर करना अपने ही दुःखों को दूर करना है। दूसरों को प्रसन्न करना अपने ही को प्रसन्न करना है।

सेवा सदैव अपने से अधिक दुःखियों की ही होती है। यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि अपने से अधिक दुःखियों को देखने पर अपने दुःख को सहन करने की क्षमता आती है, दुःख क्षीण होता है और भोग-वासना भी क्षीण होती है। हमारी सेवा रूप उदारता का प्रभाव जिसकी हम सेवा करते हैं, उस पर भी पड़ता है और वह ऐसा अनुभव करता है कि दूसरों को सहयोग देने का भी एक सुख है, दूसरों की सेवा करना अच्छा कार्य है। इससे उसमें उदारता की भावना तथा सेवा की प्रवृत्ति जागती है जिससे उसका भोगभाव एवं स्वार्थभाव गलता है। अर्थात् सेवा से सेवक एवं सेव्य दोनों को लाभ होता है। दोनों में उदारता की भावना जागती है तथा दोनों अपने दोषों को दूर करने में संलग्न होकर तुच्छ स्वार्थभाव को छोड़ देते हैं।

उदात्तीकरण—आधुनिक मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण देन है—"उदात्तीकरण का सिद्धांत। हीन-वृत्तियों का महान् वृत्तियों में,दोष का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण में, बुराई का भलाई में रूपान्तरण करना ही उदात्तीकरण कहा जाता है। उदात्तीकरण का सर्वोत्तम उपाय है अपने आपको लोकोपकारी सेवा-कार्यों में लगाना। उदाहरण के लिए काम-शक्ति को ही लें। कामशक्ति तीन रूप में प्रकट होती है—1. काम-क्रीड़ाओं में, 2. प्रेमी के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में और 3. वात्सल्य या सेवाभाव में। पहला रूप शारीरिक है, दूसरा मानसिक और तीसरा आध्यात्मिक। पहला रूप प्रगाढ़ मोह का है, दूसरा उससे कम मोह का और तीसरा मोह-नाश का। उदाहरणार्थ जो बाल-विधवा हो जाती है उसे लघु शिशु पालनार्थ दे दिया जाता है, जिससे उसकी कामवासना का उदात्तीकरण होकर वात्सल्य में रूपान्तरण हो जाता है। अर्थात् जो व्यक्ति अपना समय जितना अधिक सेवा में लगाता है उसकी काम-वासना उतनी ही कम होती है। यदि वह सेवा रोगियों के प्रति की जाती है तो इससे एक और लाभ होता है। शरीर की अनित्यता और उससे होने वाले कष्टों पर बार-बार ध्यान जाने से शरीर के प्रति मोह घटता है जिससे काम-वासना भी शिथिल हो जाती है। साथ ही रोगियों की सेवा से हृदय में द्वेष-भावनाओं की शक्ति भी क्षीण होती है। इस प्रकार सेवा राग-द्वेष को पतला करती है एवं उन्हें मैत्री, वात्सल्य आदि में रूपान्तरित कर देती है।

अपने को दूसरे की सेवा में लगा देने से व्यक्ति अपने दु:खों को भूल जाता है। अपने दु:खों पर विचार करने से दु:ख गहरे होते हैं। जो व्यक्ति अपने दु:खों को जितना अधिक याद करता है वह उन्हें उतना ही बढ़ाता है और जो उनको जितना भुलाता है वह उन्हें उतना ही कम करता है। रोग के विषय में भी यही तथ्य लागू होता है। रोग से मुक्त होने का एक उपाय यह भी है कि वह उसी प्रकार के रोग से पीड़ित लोगों की सेवा करे।

यह तथ्य है कि सेवक किसी से कुछ भी प्रतिफल पाने की चाह नहीं करता है। परन्तु, प्रतिफल न चाहने पर भी उसे निसर्गतः ही ही फल मिलता है। कारण कि यह प्राकृतिक नियम है कि बोया गया बीज करोड़ो-सैकड़ों गुना फल देता है। नीम के बोये गये कड़वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीज से करोड़ों कड़वी निम्बोलियां और आम के बोये गये बीज से हजारों मधुर आम के फल लगते हैं। इसी प्रकार सेवक की सेवा के लिए समस्त विश्व उद्यत रहता है, सच्चे सेवक को विश्व में शारीरिक आवश्यकता-पूर्ति के सिवाय किसी से भी कुछ नहीं चाहिये। दूसरे शब्दों में कहें तो सेवक का जीवन सारे विश्व का जीवन होता है। जीवन का विस्तार विश्व के रूप में हो जाना ही जीवन का पूर्ण विकास है। इससे बढ़कर कोई जीवन नहीं हो सकता है। इस प्रकार सेवक को उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्त्ति से सैकड़ों गुना अधिक सब कुछ मिलता है। उसके जीवन में कभी अभाव का अनुभव अर्थात् द्रारिद्रय का दुःख नहीं होता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। आवश्यकता की पूर्ति हो जाना और लेश मात्र भी अभाव न रहना ही सच्ची संपन्नता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सेवक से बढ़कर विश्व में कोई अधिक संपन्न नहीं होता। आशय यह है कि सेवा से दारिद्रय का संपन्नता में रूपान्तरण हो जाता है।

जिस राग या दोष के उदय को विवेक या ज्ञान के बल से न मिटाया जा सके उस राग का रूपान्तरण सर्व हितकारी प्रवृत्ति रूप सेवा से प्रीति में हो जाता है। जैसे किसी को बोलने का राग है तो वह दूसरों के लिये हितकारी वचन बोलकर अपने राग को प्रीति में बदल सकता है। खाने के राग का दूसरों को खिलाने में, भोगासक्ति का भगवद्भक्ति में, तोड़-फोड़ आदि विध्वंसात्मक प्रवृत्ति का रचनात्मक कार्य में उदात्तीकरण किया जा सकता हैं।

सेवा में अपना सुख बांटा जाता है और दूसरों का दुःख बंटाया जाता है। अपना सुख बांटने से सुख का राग गलता है और दूसरों का दुःख बंटाने से अपना दुःख मिटता है। साथ ही विषय-भोग-जन्य सुख का, प्रीति के अक्षय सुख में रूपान्तरण हो जाता है तथा जिसकी सेवा की जाती है, उससे सेव्य को जो प्रसन्नता होती है, उससे सेवक का हृदय भी प्रसन्नता से भर जाता है जिससे प्रेम उमड़ता है। प्रेम का रस विषय-सुख से भिन्न होता है, निराला होता है। वह रस अक्षय होता है। जब भी उसकी स्मृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आती है, प्रेम का वह रस हृदय को प्रफुल्लित कर देता है और विषयों के क्षणिक सुख को खा जाता है। इस प्रकार नीरसता का सरसता में रूपान्तरण हो जाता है। कोई भी प्राणी रसरहित, नीरस जीवन नहीं जी सकता, कोई न कोई रस तो उसे जीवन में चाहिये ही। यह नियम है कि जब तक जीवन में निःस्वार्थ प्रेम का रस नहीं उमड़ेगा तब तक जीवन में नीरसता आयेगी ही और नीरसता की भूमि में वासना की उत्पत्ति होगी ही। अतः कामना-उत्पत्ति-रूप अशान्ति के दुःख से छुटकारा पाना है, विषय के क्षणिक पराधीन सुख से मुक्ति पाना है तो इसका उपाय है, राग के रस का प्रेम के रस में रूपान्तरण करना।

प्रेम का क्रियात्मक रूप सर्वहितकारी प्रवृत्ति है, जिसे सेवा कहा जाता है। सेवा से हृदय का विषयरूप विष धुलता है, विषय का विष प्रेमरूप अमृत में रूपान्तरित हो जाता है। सेवा उदयमान राग रूपी रोग को प्रेम में रूपान्तरण करने की क्रियात्मक साधना है। साधु के लिये यद्यपि संयम और तपरूप निवृत्तिपरक साधना ही प्रमुख है फिर भी सर्वहितकारी, सर्व कल्याणकारी प्रवृत्ति के प्रेम से, उसका हृदय भी ओत-प्रोत रहता है। सेवा से जैसे-जैसे राग-द्वेष आदि दोष घटते जाते हैं वैसे-वैसे साधक का हृदय करुणा व प्रेम से अधिकाधिक भरता जाता है और वीतराग हो जाने पर अनंत करुणा, अनंत दान, अनंत प्रेम (अक्षय रस) अनंत ऐश्वर्य आदि उपलब्धियां प्राप्त हो जाती हैं।

मानवता—विषय-सुख जड़ता पैदा करता है अतः विषय-सुख के भोगी जीव में जड़ता अधिक होती है। वह अपने विषय में इतना आबद्ध होता है कि अपने सुख की प्राप्ति के लिए दूसरों की कितनी ही हानि हो, कितना ही दुःख हो, उसका हृदय नहीं पसीजता है। उसे अपने विषय-सुख की पूर्ति के लिये दूसरों का शोषण, अपहरण, हिंसा आदि करने में संकोच नहीं होता है। वह हृदयहीन होता है, उसका हृदय प्रस्तरवत् होता है। वह आकृति से भले ही मानव हो, उसमें मानवता नहीं होती। उसका मानव-जीवन पशु व पाषाण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुल्य ही बीतता है। वह मानवता के, मानव-धर्म के असीम रस के आस्वादन के अनुभव से वंचित रह जाता है।

मानवता की भूमि में ही संवर, निर्जरा व पुण्यरूप साधनाएँ पनपती एवं फलती-फूलती हैं। जहां मानवता ही नहीं वहां जीवन नहीं जड़ता है, धर्म नहीं धिक्कारता है। मानवता का भावात्मक-रूप करुणा है और क्रियात्मक रूप उदारता व सेवा है। जिस जीवन में करुणा और सेवा नहीं वह मानव-धर्म से विमुख है। सेवा, गृहस्थ साधक के लिये भी सहज और सुगम साधना है, जो उसके रागादि दोषों को कम करती हुई, गलाती हुई, उसे त्याग और संयम की ओर, मुक्ति की ओर आगे बढ़ाती है। वही गृहस्थ श्रेष्ठी या सेठ कहलाता है जो सेवाभावी हो, उदारमना हो, धन होने से कोई सेठ नहीं होता है। धन तो वेश्या और कसाई के पास भी होता है परन्तु वे श्रेष्ठ या सेठ नहीं कहे जाते और आदर के पात्र भी नहीं होते हैं।

कल्याण सेवा करने में है, सेवा लेने में नहीं—सेवा करना अच्छा है, परन्तु किसी से सेवा लेना अर्थात् सेवा का सुख भोगना विषय-भोग ही है जो लगता तो बड़ा ही मधुर है, परन्तु भयंकर विष है। कारण कि जिससे सेवा का सुख भोगा जाता है उस व्यक्ति के प्रति राग-भाव जागृत होता है एवं उसका ऋण-भार आ जाता है। उस ऋण से छुटकारा पाने का उपाय है, सेवा करना। किसी के अहसान का बदला सेवा से ही चुकाया जा सकता है। यही कारण है कि माता-पिता, पुत्र, पौत्र पति-पत्नी आदि की बीमारी अवस्था में जितनी सेवा की जाती है, उनके मरने पर उतनी ही मोहजन्य वेदना कम होती है, पछतावा कम होता है, स्मृति शीघ्र धूमिल हो जाती है। और जो उनकी सेवा करने से वंचित रहता है, उसका मोह बना रहता है, बार-बार स्मृति आती है, हृदय कचोटता है। इस प्रकार कर्त्तव्यरूप सेवा भी मोह गलाने में कारण बनती है। जहाँ तक हो, साधक को चाहिए कि वह सेवा लेने से बचे। इसलिए जैनधर्म में साधु को गृहस्थ से भार उठाना वस्तु मंगवाना आदि से वालेने का निषेध किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा लेने का संकल्प करना, सेवा लेने का सुख भोगना बंधनकारी है, परन्तु यदि कोई अपनी प्रसन्नता के लिए सेवा करता है तो उसके संकल्प को पूरा करने के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए साधक सेवा को स्वीकार कर सकता है। यह सेवा लेना सेवा करना है। कारण कि यह सेवा अपने सुख के लिए नहीं दूसरों को प्रसन्नता देने के लिए है। ऐसी सेवा लेना बंधनकारी व ऋणरूप नहीं होती क्योंकि उसमें सेवा लेने का भाव नहीं रहता और न सेवा के सुख भोगने का ही भाव रहता है। उस सेवा में न कर्तृत्व-भाव है और न भोक्तृत्व-भाव। परन्तु, ऐसी सेवा लेने में भी यह खतरा तो बना ही रहता है कि साधक अपने मन को मिथ्या ही संतोष देता रहे कि वह दूसरों की संकल्पपूर्त्ति के लिए ही उसे सेवा का अवसर दे रहा है और भीतर ही भीतर वह सेवा का सुख भोगता रहे। इसलिए जहां तक बन सके साधक अपने को दूसरों से सेवा लेने से बचावे।

मुक्ति-प्राप्ति—मुक्ति है बंधन से छुटकारा पाना। बंधन है पराधीन होना और पराधीनता वहाँ होती है जहां मोह और आसक्ति होती है। मोह और आसक्ति मिटने पर पराधीनता मिट जाती है और स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है, यही मुक्ति है। स्वाधीनता की अनुभूति तब ही संभव है जब हमारा सुख पराश्रित न रहे। पराश्रय से छुटकारे के दो मार्ग हैं। प्रथम निवृत्तिपरक एवं द्वितीय प्रवृत्तिपरक। निवृत्ति का अर्थ है कुछ न करना। साधक जब इस सत्य को समझ लेता है कि करते-करते अब तक का सारा जीवन बीत गया, परन्तु करने से जो फल मिला उससे न तो करने का अंत हुआ और न सुख की वृद्धि ही हुई और अब भी करना ज्यों का त्यों शेष है और जीवन में अभाव का दुःख भी विद्यमान है। अतः करना कुछ अर्थ रखता ही नहीं है। जो व्यक्ति इस सत्य अर्थात् विवेक को स्वीकार कर लेता है वह साधक सहज निवृत्ति को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है।

संसारी प्राणी रागयुक्त होने के कारण बिना प्रवृत्ति के रह नहीं सकता अतः उसको मुक्ति का प्रवृत्तिपरक मार्ग अपनाना पड़ता है। प्रवृत्तिपरक मार्ग में सेवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो सेवा-रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्ति करता है वह नवीन राग से नहीं बंधता है और उदयमान राग से रहित हो जाता है इसलिए प्रवृत्ति की सार्थकता सेवा में है। इस सेवा से ही पराश्रय का अंत संभव है।

अतः प्रवृत्तिमार्गी को पराश्रय या पराधीनता का अंत करने एवं स्वाधीनता प्राप्ति के लिए पराश्रय से सुख भोगने की भावना को पर-सेवा की सद्भावना में परिवर्तित करना होगा क्योंकि जिस वस्तु का उपयोग किसी व्यक्ति की सेवा में किया जाता है उस वस्तु की आसक्ति मिट जाती है और जिस व्यक्ति की सेवा की जाती है उसके प्रति मोह मिट जाता है। जिसके प्रति आसक्ति व मोह नहीं रहता उससे संबंधविच्छेद हो जाता है अतः सेवारूप प्रवृत्ति हमें पराश्रय-पराधीनता से मुक्त करने में समर्थ है। यही सच्ची मुक्ति है।

सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण

व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है। अतः जैसे व्यक्ति होते हैं, वैसा ही समाज का निर्माण होता है अर्थात् जो गुण-दोष व्यक्तियों में होते हैं वे ही गुण-दोष उनसे निर्मित समाज में आ जाते हैं। समस्त सामाजिक बुराइयों व दोषों की जड़ समाज के व्यक्तियों की स्वार्थपरक संकीर्ण प्रवृत्तियां हैं तथा समाज की समस्त अच्छाइयों की जड़ समाज के लोगों की सेवावृत्ति है। वस्तुतः समाज का प्राण या मूल तत्त्व पारस्परिक स्नेह व सेवाभाव है। सेवाभाव के अभाव में समाज सुन्दर नहीं रहता, वह स्वार्थी व्यक्तियों का समुदाय मात्र रह जाता है। इसलिए सेवा सुन्दर समाज का अनिवार्य तत्त्व है।

सुन्दर एवं चारित्रनिष्ठ समाज वह है जिसमें सबके अधिकार सुरक्षित हों। यह तभी संभव है जब समाज में कर्तव्यनिष्ठता हो, उदारता हो तथा सद्भावना हो। जिस समाज के व्यक्तियों में ये गुण पाए जाते हैं वही स्वस्थ, चारित्रनिष्ठ एवं सुन्दर समाज है। जिस समाज में सद्भाव है, वह ही स्वस्थ व सुन्दर समाज है। सद्भाव का भावात्मकरूप सर्वहितकारी भावना या सर्वात्मभाव है तथा सद्भाव का क्रियात्मकरूप सद्व्यवहार या सेवा है।

सुन्दर व्यक्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है। कारण कि सद्भावना वाला व्यक्ति अपने संपर्क में आने वाले समाज के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्तियों के साथ सद्-व्यवहार करता है। उसके सद्-व्यवहार से उन व्यक्तियों के हृदय में उसके प्रति सद्भाव स्वतः प्रकट होता है फिर यह सद्भाव का बीज पनपता है, पल्लवित होता है तथा उस पर प्रेम के मधुर तथा सुन्दर फल लगते हैं। इस प्रकार सुन्दर व्यक्तियों के समुदाय से सुन्दर एवं स्वस्थ समाज का निर्माण होता है।

व्यक्ति और समाज के बीच वही संबंध है जो माली और वाटिका के बीच में है। व्यक्ति माली है और समाज वाटिका है। जिस प्रकार वाटिका का माली वाटिका पर निर्भर करता है और उसका कर्त्तव्य है कि वह वाटिका की सेवा करे। इसी प्रकार व्यक्ति का जीवन समाज पर निर्भर है और उसका कर्त्तव्य है कि वह समाज की सेवा करे। यदि माली वाटिका की सेवा नहीं करता है तो प्रकारान्तर से अपनी ही हानि करता है। इसी प्रकार व्यक्ति संसार में प्राप्त सामग्री से समाज की सेवा नहीं करता है तो वह प्रकारान्तर से अपनी ही हानि करता है।

सेवा रूपी सिक्के के दो पहलू हैं—1. सर्वहितकारी प्रवृत्ति से सुन्दर समाज का निर्माण करना और 2. प्राप्त वस्तु आदि की ममता व भोगवासना का त्याग कर अपना कल्याण करना। कारण कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति का अंत सहज निवृत्ति में होता है। सहज निवृत्ति से अपना कल्याण होता है। यही नहीं सहज निवृत्ति से सर्व-हितकारी प्रवृत्तिरूप सेवा की सामर्थ्य आती है। इस प्रकार सेवा से सुन्दर व्यक्तित्व और सुन्दर समाज दोनों का निर्माण होता है। सेवा के ये दोनों ही पहलू महत्त्वपूर्ण हैं।

जिस प्रकार एक दाना बोने से फलरूप में कई दाने मिलते हैं, उसी प्रकार हम दूसरों का जो कुछ बुरा-भला करते हैं वह कितने ही गुना अधिक होकर हम ही को मिलता है। यह प्राकृतिक विधान है। अतः हम सेवा करके पहले स्वयं में सुन्दरता का बीज-वपन करेंगे तो हमारी सुन्दरता स्वयं हमारे साथियों को पुष्प की तरह सुगंधित व सुन्दर बनाने में सहायक होगी। हमारी कर्तव्यपरायणता, उदारता, प्रियता, हमारे साथियों में भी कर्तव्यनिष्ठा, उदारता व निःस्वार्थता का भाव पैदाकर उन्हें सुन्दर बना देगी। साथियों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुदाय समाज का ही अंग होता है। इस प्रकार हमारी कर्तव्य-परायणता, उदारता, प्रियतापूर्वक की गई सेवा-प्रवृत्ति समाज में कर्तव्यपरायणता, उदारता एवं प्रियता उत्पन्न कर सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक सिद्ध होगी। सच्चा सेवक सामग्री के सुख-भोग का त्यागी होता है अतः वह उसका उपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति में करता है जिससे स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। पर-पीड़ा से पीड़ित सेवकों ने ही भौतिक उन्नति एवं आदर्श समाज का निर्माण किया है। भोगी व स्वार्थी व्यक्तियों ने तो संघर्ष, संहार व संकट को ही जन्म दिया है।

जहां केवल स्वार्थपरता है वहां समाज का निर्माण नहीं होता। यही कारण है कि पशुओं का कोई अपना समाज या संस्था नहीं होती। मानव सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता का आधार ही पारस्परिक सहयोग अर्थात् सेवा है। मानव-समाज की सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि पारस्परिक सहयोग या सेवा-कार्य पर ही निर्भर है। मानव-समाज में जितनी मानवता या सेवा-परायणता की वृद्धि होगी, उतनी सुख व समृद्धि में भी वृद्धि होगी, सुन्दर समाज का निर्माण होगा। अतः मानव मात्र का कर्तव्य है कि वह अपने को प्राप्त तन, मन, धन आदि समस्त सामग्रियों का उपयोग सेवा में करे। इसी में मानव का व मानव-समाज का हित निहित है।

सेवा आध्यात्मिक दृष्टि से राग-निवारण का और भौतिक दृष्टि से सुन्दर समाज के निर्माण का हेतु है। सुन्दर समाज के निर्माण में ही, मानव-समाज से सम्बन्धित विश्व की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्त समस्याओं का अंत निहित है। समस्याओं के अन्त होने से समाज में सुख-शांति का प्रसार व वास्तविक उन्नति संभव है। जीवन के उन्नतशिखर पर चढ़ने के लिए सेवा सोपान है। इससे जीवन का सर्वाङ्गीण विकास होता है।

सेवा सर्वदा सर्वत्र कल्याणकारी है—वस्तुएं साधक के लिए साधन सामग्री है, भोगी के लिए भोग-सामग्री है। धर्म, दोषों के त्याग में है। वस्तु का त्याग तो दोष के त्याग का प्रतीक है। दोष का त्याग नहीं किया और वस्तु का त्याग कर दिया तो कोई हित नहीं। हित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्प्रवृत्ति के साथ रहे हुए त्याग में हैं, जिससे व्यक्ति के दोष गलते हैं। सम्मान के लिए दिया गया दान, दाता के लिए मान कषाय की वृद्धि का हेतु होने से उतना हितकर नहीं है, जितना निष्काम भाव से करुणार्द्र होकर दिया गया दान। परन्तु, जिसे दान दिया जा रहा है उसके लिए तो वह हितकर है। इस प्रकार एक पक्ष के लिए हितकर होने से भी यह अच्छा है। भोगी व्यक्ति के लिए किसी वस्तु का दान देना या न देना दोनों ही बंध के कारण हैं। वस्तु का दान न देने पर तो वस्तु के प्रति रही हुई उसकी ममता व भोग की कामना उसके बंधन का कारण बन ही रही है अतः दान न देने में अहित ही है। बंध का कारण भोगेच्छा है,वस्तु नहीं। फिर भी दान न देने से तो अपना व जगत् इन दोनों में से किसी का भी हित नहीं है। जबकि सम्मान के लिए दान देने में भी जगत् का हित संभव है तथा उस दान से दाता के हृदय में प्रेम, करुणा, अनुकम्पा-भाव जागृत होने की सम्भावना है। अतः वह दाता के अपने हित में भी निमित्त बन सकता है। इस प्रकार सम्मान के लिए दान देना, दान न देने की अपेक्षा हितकर है। दूसरी बात यह है कि दाता के कषाय की वृद्धि या कर्मबंध का कारण प्रदत्त वस्तु नहीं है, प्रत्युत उसका मान कषाय है। अतः सम्मान के लिए दिया गया दान भी अहितकर नहीं है। स्मरण रहे दान के साथ रहा हुआ कषाय बुरा है, दान नहीं। सेवा का एक लाभ यह है कि क्रियात्मक सेवा करने से भावनात्मक सेवा की स्फुरणा होती है। दूसरों की प्रसन्नता से उसे निर्विकार प्रसन्नता का रस मिलता है। जिससे उसमें उदारता का भाव जगता है जो सेवक के लिए कल्याणकारी है। साथ ही साथ जिसकी सेवा की जाती है उसमें भी सेवक के प्रति आत्मीयता का, मैत्री का, प्रेम का भाव जगता है वह उसके लिए हितकारी है। तात्पर्य यह है कि सेवा न करने के बजाय सेवा किसी भी रूप में करना अच्छा है। इससे हानि तो कुछ है नहीं लाभ ही लाभ है और करुणार्द्र होकर प्रतिफल की इच्छा रहित सेवा करना इससे भी लाख गुणा अच्छा है। अर्थात् सम्मान आदि भौतिक लाभ के लिए भी सेवा करना अच्छा ही है। परन्तु, उससे अधिक अच्छा है निष्काम भाव से सेवा करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान

सेवा का ही दूसरा रूप दान है। दान का लक्षण बताते हुए वाचक श्री उमास्वाति ने कहा है—

"अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" तत्त्वार्थसूत्र 7-33 अर्थात् अनुग्रह के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना दान है। अनुग्रह की व्याख्या करते हुए कहा है "स्वपरोपकारो अनुग्रहः" अर्थात् अपना और दूसरों का उपकार 'भला' करना अनुग्रह है। स्वार्थसिद्धि-टीका में कहा है "परानुग्रबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानम्" अर्थात् दूसरे का उपकार हो, इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है। त्याग को जैनागम में धर्म कहा है अतः 'दान' धर्म है। धर्म होने से मुक्ति का मार्ग है, यथा—

दुर्गतिप्रपतज्जन्तुधारणाद् धर्म उच्यते।
दानशीलतपोभावभेदात् स तु चतुर्विधः॥
(त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् 2–1)

अर्थात् दुर्गति में पड़ते हुए जीव को बचावे, आधार दे वह धर्म है। 'धर्म' दान, शील, तप और भाव के भेद से चार प्रकार का है। यही तथ्य सप्ततिशतस्थान प्रकरण में भी प्रस्तुत किया है, यथा—

दान के दो मूल तत्त्व हैं—1. त्याग और 2. उपकार। 'त्याग' दान का प्राण या आत्मा है और परोपकार शरीर। त्याग अपनी वस्तु के प्रति ममत्वभाव के नाश का द्योतक है। ममत्व का नाश भोगभाव के नाश का, स्वार्थपरक भाव के नाश का द्योतक है। स्वार्थपरता के नाश से उदारता आती है और उदारता का क्रियात्मकरूप ही उपकार या सर्वहितकारी प्रवृत्ति है। यह दान का दूसरा मूल तत्त्व है।

दाणं सीलं च तवोभावो, एवं चउव्विहो धम्मो।
सव्व जिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुअचरितेहिं॥[1]

---

1. द्रष्टव्य, सप्ततिशतस्थानप्रकरण, गाथा 96

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सर्व तीर्थंकरों ने दान, शील, तप और भाव-रूप चार प्रकार का धर्म कहा है तथा इसे ही श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप में दो प्रकार का भी कहा है। चार प्रकार के धर्मों में भी सर्व प्रथम स्थान दान का है।

यह सर्व विदित है कि भोगी व्यक्ति स्वार्थी होता है, वह अपने सुख को ही सब कुछ समझता है, भले ही उसकी स्वार्थपूर्ति से दूसरों को कितना ही कष्ट पहुंचता हो या उनका अहित होता हो। इसके विपरीत त्यागी व्यक्ति उदार होता है, उसे अपने सुख व सुख-सामग्री का वितरण कर दूसरों के दुःख को दूर करने, उन्हें प्रसन्न देखने में प्रसन्नता होती है। भोगी व्यक्ति इन्द्रियों का दास होता है। इन्द्रियों की दासता पशुता की द्योतक है। इन्द्रियों का दास स्वार्थी होता है। अतः स्वार्थपरता पशुता की सूचक है। स्वार्थी व्यक्ति हृदयहीन होता है। उसमें जड़ता होती है, संवेदनशीलता, सहयोग व परोपकार की भावना नहीं होती। जड़ व चेतन में अन्तर है तो वह संवेदनशीलता का ही है। जिसमें संवेदनशीलता नहीं है वह जड़ है, जिसमें संवेदनशीलता है वह चेतन है। संवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है। संवेदनशील व्यक्ति में ही परोपकार या दान की भावना जगती है। अतः परोपकार या दानभावना की जागृति व वृद्धि चेतना के विकास की वृद्धि की द्योतक है। करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, भ्रातृत्व, मैत्री आदि भाव संवेदनशीलता के ही परिचायक हैं, इन्हीं का क्रियात्मक-रूप परोपकार, दान या सेवा है। वात्सल्यभाव सम्यक्त्व का अंग या आचार है और सम्यक्त्व धर्म है। अतः अनुकम्पा और वात्सल्य भी धर्म ही है। करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्री आदि भाव किसी कर्म का फल या उदय नहीं है अपितु स्वतः सहज जागृत होते हैं अतः स्वभाव है। जो स्वभाव-रूप होता है वह धर्म है। अतः ये स्वभाव धर्मरूप हैं। धर्म कर्मबन्ध का कारण कदापि नहीं होता है प्रत्युत कर्म-क्षय का कारण होता है। अतः करुणा आदि भावों को कर्म-क्षय का कारण न मानना और कर्म-बंध का कारण मानना भूल है जैसा कि आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किञ्च दानेन भोगाप्तिस्ततो भवपरम्परा ।
धर्माधर्मक्षयात् मुक्तिर्मुमुक्षोर्नेष्टमित्यदः ।।
नैव यत्पुण्यबन्धोऽपि धर्महेतुः शुभोदयः ।
वह्नेर्दाह्यं विनाश्येव नश्वरत्वात् स्वतो मतः ।।

प्रथम द्वात्रिंशिका, 7

जिज्ञासा—दान से भोग की प्राप्ति होती है अतः इससे भव-परम्परा बढ़ती है जबकि मुक्ति की प्राप्ति धर्म और अधर्म के क्षय से होती है । अतः मुमुक्षु के लिये दान इष्ट नहीं है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है क्योंकि पुण्यबंध भी धर्म का हेतु होता है तथा शुभ परिणाम (उदय) वाला होता है । जिस प्रकार अग्नि दाह्य वस्तु लकड़ी कंडे आदि को जलाकर स्वयं नष्ट हो जाती उसी प्रकार पुण्य भी पाप को नष्ट कर स्वयं नष्ट हो जाता है, अर्थात् पुण्यरूप दान से भव-परंपरा नष्ट होती है, बढ़ती नहीं । यथार्थता तो यह है कि जैसे-जैसे साधक आगे बढ़ता है उसमें वस्तुओं के प्रति ममत्व घटता जाता है जिससे वह उपलब्ध वस्तुओं का उपयोग परहित में करने लगता है और उससे उदारभाव विकसित होने लगता है, यह उदारभाव ही दान का द्योतक है । अतः साधक जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है उसकी उदारता व दान गुण भी उतना ही विकसित होता जाता है, यह उदारता का भाव 'दान' गुण चेतना का निजगुण या स्वभाव है । स्वभाव होने से धर्म है । यही कारण है कि जब ममत्व पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है और वीतराग अवस्था आ जाती है तब किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व या अपने-पन का भाव व स्वामित्वभाव नहीं रहता, तब शरीर, इन्द्रिय, मन आदि जो कुछ भी अपने पास हैं वे अपने लिये नहीं रहते, क्योंकि उसे अपने लिए संसार की वस्तुओं से कुछ भी सुख पाना शेष नहीं रहता । अतः उसकी सारी वस्तुएं व प्रवृत्तियां सर्वहितकारी हो जाती हैं । उसमें अनन्त उदारता का भाव प्रकट होता है इसलिये वीतराग केवली को अनन्तदानी कहा जाता है । यदि उदारभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या दान कर्मबन्ध का कारण होता तो साधक जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है उसके अधिक से अधिक कर्मबंध होता जाता है और अनन्त-दानी वीतराग केवली के अनन्त कर्मबंध होता है। यदि दान जीव के लिये किसी भी गुण का घात करने वाला होता अर्थात् घातक होता तो साधक को वीतराग नहीं होने देता, वीतरागता में बाधक होता।

पशु और मानव में अन्तर है तो उदारता का ही है। जहाँ उदारता है वहाँ मानवता है। उदारता व मानवता रहित मानव आकृति से भले ही मनुष्य हो, प्रकृति से पशु ही है। अतः जहाँ मानवता नहीं, वह मानव ही नहीं है। जो मानव नहीं है, वह मुक्ति का अधिकारी ही नहीं है। मुक्ति का अधिकारी वही है जो मानव है। कारण कि मानवता के अभाव में शील, संयम, तप, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, एव सम्यक्चारित्र संभव ही नहीं है। जैसे भूमि के अभाव में बीज पनप नहीं सकता उसी प्रकार मानवता-उदारता रूप दान के अभाव में धर्म का पौधा पनप नहीं सकता। इसलिये दान को मुक्ति के मार्ग में प्रथम स्थान दिया है।

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी है कि शील, तप, संयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अन्य साधनाओं का लाभ तो साधक को स्वयं को ही मिलता है, परन्तु दान का लाभ स्व को, पर को, विश्व को व सबको मिलता है। विशेषतः दीन, दुःखी, अनाथ, रोगी, अपंग, दरिद्र आदि जीव दान से ही उपकृत होते हैं। दानी व्यक्तियों से ही सुन्दर परिवार व समाज का निर्माण होता है। जिस परिवार में ऐसे स्वार्थी व्यक्ति होते हैं जो परिवार के सदस्यों के हित का ध्यान नहीं रखते हैं, अपनी स्वार्थपूर्त्ति व सुख-सुविधा में लगे रहते हैं, उस परिवार में रात दिन कलह, संघर्ष, द्वन्द्व व तनावमय वातावरण रहता है, वह घर नरक बन जाता है। इसके विपरीत जिस परिवार में उदारचेता व्यक्ति होते हैं जो स्वयं दुःख उठाकर भी परिवार के सदस्यों के लाभ व सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं उस घर में प्रेम की गंगा बहती है जिसकी सरसता से सारा परिवार रस में सराबोर हो जाता है। वहां स्वर्गीय वातावरण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार दानी व उदार व्यक्तियों से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है। ऐसे व्यक्तियों से समाज की शोभा बढ़ती है। वे समाज-भूषण होते हैं। उनसे समाज विकसित होता है। मानव-समाज व मानव का विकास दान या परोपकार पर ही निर्भर है।

'त्यागो दानम्' (तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धिः) अर्थात् परोपकार के लिये अपनी भोग्य सामग्री का त्याग करना दान है। दान से आत्मा पवित्र होती है। जिससे आत्मा पवित्र हो उसे पुण्य कहा जाता है और उसे ही धर्म कहा जाता है। इसीलिये प्राचीन ग्रन्थों में पुण्य और धर्म पर्यायवाची ही रहे हैं। नव पुण्यों में अन्न, जल, वस्त्र, पात्र आदि के दान को पुण्य कहा ही है, यह सारा दान 'दयाभाव' से होता है, दया धर्म है यह सर्वमान्य है। अतः दान पुण्य व धर्म-रूप है। ख्याति प्राप्त आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर ने पूर्वोक्त प्रथम द्वात्रिंशिका के सातवें श्लोक में 'धर्माधर्म क्षयात् मुक्तिः' कहा है। जिसका अर्थ है धर्म और अधर्म के क्षय से मुक्ति प्राप्त होती है। इस कथन में अधर्म शब्द पाप का व धर्म शब्द स्पष्टतः पुण्य का ही द्योतक है। यही नहीं कर्मसिद्धान्त में यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि पुण्य से पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग का क्षय होता है। अतः कर्म क्षय का हेतु होने से 'दान' धर्म-रूप ही है इसलिये वर्तमान में प्रचलित यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण तथा निर्मूल है कि दान पुण्य ही है व कर्मबंध का कारण होने से धर्म नहीं है।

वीतराग केवली तो अनन्तदानी होते ही हैं, साधु भी दानी होता है क्योंकि वह ज्ञानदान करता ही रहता है। परन्तु, गृहस्थ के लिए भी दान का महत्त्व कम नहीं है जैसा कि पद्मनन्दिपंचविंशतिका में कहा है :—

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जै,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि ।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदापि ।
प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ।। 2.13 ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जगत् में अति विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रेम-पूर्वक सुपात्र के लिये दिया गया दान जितना उन्नत फल देता है उतना घर की अनेक बाधाओं व पापपुञ्ज से कुबड़े हुए अर्थात् शक्तिहीन हुए गृहस्थ के व्रतों से उन्नत फल नहीं मिलता है। अर्थात् गृहस्थ के लिये 'दान' श्रेष्ठ धर्म है तथा उत्तम फल देने वाला है।

दान में वस्तु का महत्त्व उतना नहीं है जितना भावना का है। चित्त की जिस प्रकार की चेतना है, सद्भाव की जैसी न्यूना-धिकता से दान दिया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। कहा भी है "यादृशी भावना यस्य तादृशी सिद्धिर्जायते" अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है उसे वैसी ही सिद्धि मिलती है।

दान धर्म समस्त सद्गुणों का मूल है, अतः पारमार्थिक दृष्टि से इसका विकास अन्य सद्गुणों के उत्कर्ष का बीज है और व्यावहारिक दृष्टि से मानवीय जीवन-व्यवस्था के सामंजस्य का आधार है।

दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दोवि गच्छंति सोग्गइं॥
दशवैकालिकसूत्र—अ. 5 उ. 1 गा. 100

अर्थात् निष्काम भाव से दान देने वाला व निष्काम भाव से दान लेने वाला ये दोनों ही दुर्लभ हैं। निष्काम भाव से दान देने वाला व लेने वाला दोनों सद्गति को जाते हैं।

दान से, दान देने वाले तथा दान स्वीकार करने वाले दोनों का हित होता है। देने वाले का हित तो उस देय वस्तु से राग, सुखासक्ति व ममता का क्षयरूप त्याग है। इससे उदारता रूप महान् गुण प्रकट होता है। दान स्वीकारकर्ता का हित यह है कि इसमें दाता को उदारता के प्रतिप्रियता का उदय होता है, उसके हृदय में उदारता की महिमा व रुचि जागृत होती है जिससे उसमें समस्त सद्गुणों का विकास होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतराग केवली अनन्तदानी होते हैं। "दान" करुणा रूप स्वभाव का ही क्रियात्मक रूप है। केवली सभी को उपदेश देते हैं, उसमें अभव्य जीव भी होते हैं और उसमें कुपात्र-सुपात्र का कोई भेद नहीं होता है। अतः दाता की दृष्टि में दान में कुपात्रता-सुपात्रता का भेद होता ही नहीं है। यदि कुपात्रता-सुपात्रता का भेद होता तो केवली के प्रवचन में से अभव्य जीवों को निकाल दिया जाता, परन्तु ऐसा होता नहीं है। कुपात्रता-सुपात्रता तो दान ग्रहण करने वाले व्यक्ति में अपनी व्यक्तिगत होती है। कोई दाता किसी को हितकारी अच्छी वस्तु दान में दे और वह उसका दुरुपयोग करे इसमें दाता का कोई दोष नहीं है। दाता तो दान सामने वाले के हित के लिए ही देता है। दाता का यह दान स्व पर हितकारी व सर्व-कल्याणकारी होता है। दान मुक्ति का कारण होने से धर्मरूप ही है। दिगंबर विद्वान् जिनेन्द्रकुमार वर्णी एवं युगलकिशोरजी मुख्तार ने प्रस्तुत पुस्तक में दिए गए अपने लेख में सेवा को धर्म लिखा है सो उपयुक्त ही है। धर्म के साथ पुण्य वैसे ही लगा हुआ है जैसे काया के साथ छाया।

वीतराग के अनन्तदानी होने का अभिप्राय यह भी है कि वीतराग के पास शरीर, इन्द्रिय, मन आदि जो कुछ भी हैं वे सब विश्व-हित के लिए ही हैं, अपने लिए नहीं। उन्हें अपने लिए विश्व में कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। वीतराग को अपने सुख के लिए कुछ भी वस्तु संसार से लेने की इच्छा लेश मात्र भी नहीं रहती है।

अनन्तदानी केवली की दानप्रवृत्ति को परहित के लिए न मानें तो उसे निष्प्रयोजन मानना होगा। पूर्णज्ञानी वीतराग प्रभु निष्प्रयोजन कोई प्रवृत्ति करें यह सम्भव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वीतराग महापुरुष की जो भी प्रवृत्ति होती है वह सर्वजनहिताय होती है, दानरूप ही होती है। इसलिए वे अनन्तदानी कहलाते हैं। दान की प्रवृत्ति विधेयात्मक अहिंसा ही है। यदि वीतराग में देने का भाव न होता तो उनके लिए अनन्तदानी शब्द का विशेषण न लगता, अनन्तदानी के स्थान में अनन्त त्यागी शब्द का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोग होता। परन्तु, त्याग के साथ दान भी अभीष्ट है। इसलिए वीतराग भगवान् "अनन्तदानी" गुण से विभूषित हैं।

जहां राग होता है, वहां भोग होता है, स्वार्थ होता है। जिस वस्तु से राग है उस वस्तु से ममता होती है, उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है, उसके साथ फलासक्ति होती है अतः वह वस्तु दी नहीं जा सकती है। फलतः रागयुक्त मानव पूर्ण त्यागी नहीं हो सकता, पूर्ण दानी भी नहीं हो सकता। वह राग की पूर्ति करने वाली वस्तु को बचा कर रखेगा, परन्तु वीतराग को लेश मात्र भी राग नहीं होता है। अतः उसे अपने लिए कोई भी वस्तु तन, मन, इन्द्रिय, वचन आदि नहीं चाहिए। उससे इन सबकी प्रवृत्ति जगत्हित के लिए होती है। यही अनन्तदान है। यही विधेयात्मक अहिंसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।

जैनागम स्थानांगसूत्र के दशवें स्थान में दान के दश स्थान गिनाये हैं, जिनमें अनुकम्पा और करुणा को भी दान में स्थान दिया गया है। आगमों में दान के अनेक उदाहरण आते हैं, यथा–सभी तीर्थंकर अपनी दीक्षा के पूर्व एक वर्ष तक मुक्त हस्त से दान देते हैं। श्रावक परदेशी राजा ने दानशाला खुलवायी, श्राविका रेवती ने भगवान् महावीर को बिजोरापाक का दान देकर व श्रेयांसकुमार ने भगवान् ऋषभदेवको इक्षुरस का दान देकर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को दान देकर अपना जीवन धन्य बनाया।

जैनधर्म में नव प्रकार के पुण्य कहे गये हैं, यथा—अन्न, जल, आवास, शय्या, वस्त्र, मन, वचन, काया और नमस्कार। इन नव प्रकार के पुण्य या पावन कार्यों के वर्तमान में विशेष और अतिमहत्वपूर्ण रूप भी सामने आये हैं, जैसे—कायपुण्य में पहले काया की क्रिया द्वारा दूसरों की सेवा करना ही सम्मिलित होता था। आज तो काया का अंग या अंश भी दान में दिया जा सकता है, जैसे—रक्तदान, नेत्रदान, गुर्दादान आदि। रक्तदान से व्यक्ति मृत्यु से बच जाता है। अतः यह जीवनदान है, मानव को जीवन देना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रक्तदान से रक्तदाता को निर्बलता नहीं आती है तथा अन्य किसी भी प्रकार की कोई क्षति भी नही होती। इस प्रकार रक्तदाता अपनी किसी भी प्रकार की हानि किए बिना अभयदान कर सकता है। यह रक्तदान कोई भी स्वस्थ, किशोर व युवा व्यक्ति दे सकता है।

नेत्रदान का भी कम महत्त्व नहीं है। कहावत भी है कि "आंख के बिना संसार में अन्धकार है।" अर्थात् नेत्र के बिना जीवन अधूरा है। रात को बिजली का प्रकाश चले जाने पर हमें अन्धकार में कुछ घण्टे भी काम करना पडे तो कितनी कठिनाई अनुभव होती है और जिसे पूरा जीवन ही ऐसा बिताना पड़े उसके दुःख का तो पारावार ही नहीं है। मरणोपरान्त नेत्र का देह के साथ जलकर एक दो ग्राम राख बनने के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता जबकि वही नेत्र किसी के लग जायें और वह अन्धकार के नारकीय जीवन से प्रकाश जगत् में आ जाय तो उसकी प्रसन्नता का सीमांत ही न रहे। अतः नेत्रदान भी जीवनदान ही है, अभयदान ही है। जीवनदान महान् दान होता है।

इस प्रकार नेत्रदान और रक्तदान दोनों दानों में अपनी गांठ से कुछ नहीं देना पड़ता है और महान् उपकार होता है। अर्थात् "हल्दी लगे न फिटकरी, रंग चौखा आ जावे" यह कहावत पूर्ण चरितार्थ होती है। आहार-दान, औषधि-दान, वस्त्रदान आदि से तो लाभ कुछ समय तक ही होता है, परन्तु रक्तदान और नेत्रदान, जीवनदान है। अतः इनसे जीवन भर लाभ होता है। ऐसे सहज मिलने वाले महान् लाभ को प्राप्त करना हम सबका कर्त्तव्य है।

इसी प्रकार ज्ञानदान, विद्यादान, औषधदान, भूदान, श्रमदान, सम्पत्तिदान पैरदान(कृत्रिम पैर प्रदान करना) समाज-सुधार, लोक-सेवा, मातृ-पितृ सेवा आदि दान के विविध रूप हैं।

यहां विविध दानों के विषय में संकेत देने का आशय यह है कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह धनी हो या निर्धन, विद्वान् हो या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनपढ़, युवा हो या वृद्ध, नर हो या नारी, दान देकर अपने को प्रसन्न बना सकता है।

अभयदान का महत्त्व बताते हुए सूत्रकृतांगसूत्र—1-6-23 में कहा है "दाणाणं सेट्ठमभयप्पयाणं" अर्थात् दानों में सर्व श्रेष्ठ दान जीव को अभय प्रदान करना है, उसे दुःख के भय से मुक्त करना है। व्याधि से बचाकर मृत्यु के भय से, अन्न देकर भूख के भय से, औषध देकर रोग के भय से, इसी प्रकार अन्य भयों से छुटकारा दिलाना भी अभयदान में आता है। इस प्रकार अभयदान में सब दान समाहित हो जाते हैं।

जैनधर्म में गृहस्थ के दान को अतिथि संविभाग व्रत रूप संवरधर्म माना है। अतः श्रावक का कर्त्तव्य है कि अपनी प्राप्त व उपयोग में आने वाली सामग्री का एक भाग अतिथि के लिए निकाल कर गृहस्थ-धर्म का पालन करे। इस पर यहां तक जोर देकर कहा गया है कि "असंविभागी ण हुतो मोक्खो" अर्थात् असंविभागी को मोक्ष नहीं हो सकता।

जैन-धर्म में दान का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है, यथा—

1. त्यागो दानम् तत्त्रिविधम् आहारमभयदानं ज्ञानदानञ्चेति।
सर्वार्थसिद्धि 6-24

अर्थात् त्याग ही दान है। वह दान तीन प्रकार का है। 1. आहार दान 2. अभयदान और 3. ज्ञान दान।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः—रत्नकरंडश्रावकाचार 117, वसुनंदिश्रावकाचार 233

अर्थात् चार ज्ञान के धारक गणधर (1) आहार (2) औषध (3) उपकरण और (4) आवास इन चार प्रकार के दानों को वैयावृत्य कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान के सम्बन्ध में अनेक पोषक कथन मिलते हैं यथा—

1. सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया । चिकित्साशालवद्-दुष्येन्नेज्जायै वाटिकाद्यपि ।। सागारधर्मामृत 2/40

पाक्षिक श्रावक औषधालय की तरह दुःखी प्राणियों के उपकारार्थ अन्न-जल वितरणों के स्थान, वाटिकाएं, सरोवर आदि बनायें तो कोई हर्ज नहीं है ।

2. अइबुड्ड-बालमूकन्ध-बहिर-देसंतरीय-रोगाणं । जह जोग्गं दायव्वं करुणादाणंतिभणिऊण (235) उपवास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण । पत्थं सरीर-जोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ।। वसुनन्दि श्रावकाचार, 239 ।

अर्थात् अतिवृद्ध, बालक, मूक (गूंगा), अन्ध, बधिर, परदेशी और रोगी जीवों को यथायोग्य आहार आदि का दान देना करुणा-दान है । उपवास, व्याधि, परिश्रम से थकित और क्लेश से पीड़ित जीव को शरीर के योग्य औषध दान देना चाहिये ।

3. मितं भुङ्क्ते सविभज्याश्रितेभ्यो,
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन्,
तमात्मवन्तं विजहत्यनर्थाः ।। [महाभारत]

जो अपने आश्रितों को बांटकर स्वयं थोड़ा ही खा लेता है, अधिक काम करके थोड़ा ही आराम करता है और मांगने पर शत्रु को भी दान देता है उस आत्मज्ञानी को अनर्थ स्पर्श नहीं करते हैं ।

4. गीता प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों से निवृत्ति को भिन्न मानती है । प्रवृत्ति को रजोगुण मानती है, अप्रवृत्ति को तमोगुण मानती है । धर्म को सद्प्रवृत्ति समझती है । इन तीनों से निवृत्ति भिन्न है । यह ध्यान न आने के कारण निवृत्ति का अर्थ भारत में प्रायः अप्रवृत्ति हो गया है । ['विनोबा भावे' आश्रम दिग्दर्शन]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. जे एणं पडिसेहति वित्तिच्छेयं करतिते (सूत्रकृतांग), जो अनुकंपा दान का प्रतिषेध करता है वह असहायों की वृत्ति का छेदन करता है।

6. जे पुणलच्छिं संचति ण य देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचिदि मणुयत्तंणिप्फलं तस्स ।।

जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करता है, दान नहीं देता वह अपनी आत्मा की वंचना करता है, उसका मनुष्य-जन्म लेना वृथा है।

7. दानेन सत्त्वानि वशीभवन्ति।
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमपैति दानात्
तस्माद्धि दानं सततं प्रदेयम् (धर्मरत्नप्रकरण-सटीक)

दान से प्राणी वशीभूत होते हैं। दान से वैर नाश को प्राप्त होता है। पराया व्यक्ति भी दान से बन्धुता को प्राप्त होता है। इसलिए सतत दान देना चाहिए।

8. कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया अतिरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति। —परमात्मप्रकाश-टीका 2/111

प्रश्न होता है कि श्रावकों का दानादिक ही परमधर्म कैसे है? तो उत्तर में कहना होगा कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के आधीन हैं, इससे उनके आर्त्त-रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण निश्चय रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके कोई ठिकाना ही नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि कषायभाव की कमी के लिए दान भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वात्सल्य

'वात्सल्य' शब्द माता का पुत्र के प्रति निःस्वार्थ हित करने के भाव का द्योतक है। तत्वार्थराजवार्त्तिक 6.24 में वत्स के प्रति गाय के अकृत्रिम अर्थात् निःस्वार्थ स्नेह को वात्सल्य कहा है, यथा 'धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति।' माता पुत्र के कष्ट को सहन नहीं कर सकती, पुत्र का कष्ट दूर करने में सदा तत्पर रहती है। यही वात्सल्यभाव है, यही माता का मातृत्व है। जिस माता में यह मातृत्व या वात्सल्य नहीं है वह माता कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो सकती, जन्मजात लघु-पुत्र, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी रोग, पीड़ा आदि से तड़फता रहे, रुदन करता रहे और माता निरपेक्ष भाव से उसे देखती हुई अपने सुख व मौज में डूबी रहे, उसके कष्ट को दूर करने का प्रयत्न न करे तो वह माता, माता नहीं, चुड़ैल ही कहलाती है। वस्तुतः वात्सल्य में निःस्वार्थभाव से वत्स को खिलाने, पिलाने उसके कष्टों को दूर करने, उसे स्नेह देने, सहायता पहुंचाने का भाव विद्यमान रहता ही है।

जिस प्रकार माँ से संतान का दुःख नहीं देखा जा सकता, सहा नहीं जा सकता, संतान का कष्ट दूर करना उसका सहज स्वभाव होता है इसी प्रकार पूर्ण अहिंसक वीतराग में सर्वजगत् के जीवों का हित करने रूप वात्सल्य सहज स्वभाव होता है। इसलिए वे जगत्वत्सल कहे जाते हैं।

वत्सलता में राग नहीं होता है। राग वहीं है जहां विषय सुख पाने की, विषय-भोग भोगने की इच्छा होती है। वात्सल्य में पुत्र से सुख पाने की इच्छा नहीं होती है। गाय अपने वत्स (बछड़े) की रक्षा के लिए प्राण तक दे देती है। बछड़ा बड़ा होकर गाय की किसी प्रकार की सेवा या सहायता नहीं करता है। गाय को बछड़े से प्रतिफल पाने की कोई आकांक्षा नहीं होती है, कारण कि जहाँ प्रतिफल-रूप विषय सुख पाने की इच्छा होती है वहाँ राग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, मोह होता है, वत्सलता नहीं। अतः वत्सलता निःस्वार्थ प्रेम की ही द्योतक है।

वत्स माता के संयोग या सेवा के बिना एक दिन भी नहीं जी सकता, पुत्र पैदा हुआ और पैदा होते ही उसे दूध चाहिये। यदि माता उसे दूध न पिलाये तो वह जिन्दा नहीं रह सकता। माता का उसे दूध पिलाना अनिवार्य है। दूध पिलाना ही नहीं हर प्रकार की सहायता करना माता का कर्त्तव्य है। जो माता ऐसा नहीं करती वह वात्सल्यधर्म नहीं निभाती है अतः "वात्सल्य" शब्द सक्रिय सहायता का ही द्योतक है। यही अहिंसा का विधिपरक रूप है। तीर्थंकर भगवान् तीन करण तीन योग से अहिंसा के पालक होते हैं। आगम में उनके लिए वात्सल्य विशेषण का प्रयोग विशेष रूप से किया है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् सर्वहितकारी प्रवृत्ति करते ही थे, जैसा कि प्रश्नव्याकरणसूत्र संवर-द्वार एक में कहा है—'ऐसा भगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सील-गुण-विणय-तव संजम-नायकेहिं तित्थंकरेहिं सव्वजगवच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं जिणचंदेहिं सुट्ठुदिट्ठा' अर्थात् अपरिमित ज्ञान-दर्शन धारण करने वाले, शील, विनय, तप, संयम के नायक तीर्थंकर, सर्वसंसार के जीवों के प्रति वात्सल्यकारक, तीनों लोकों में पूजनीय, वीतराग देव अहिंसा के विशिष्ट रूप में ज्ञाता द्रष्टा भी हैं। वीत-राग भगवान् जगत्वत्सल हैं, इस प्रकार का उल्लेख आगमों में अन्यत्र भी मिलता है।

वात्सल्यभाव अहिंसा का विधेयात्मक रूप है। इसे अनुराग भी कहते हैं। राग का शोधन या परिष्कार अनुराग है। राग आत्मा के पतन का कारण है। यही राग जब अनुराग का रूप धारण कर लेता है तो आत्मा के उत्थान का कारण बन जाता है। राग हमेशा स्थूल या भौतिक पदार्थों के प्रति होता है और अनुराग प्राणी के आत्मगुणों के प्रति होता है। राग जड़-पदार्थों से सम्बन्ध जोड़ता है अतः जड़ता पैदा करता है। अनुराग चैतन्य से सम्बंध जोड़ता है, अतः चिन्मयता का विकास करता है। अनुराग का अन्त विराग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। विराग की चरमसीमा वीतराग अवस्था है। सेवा या परोपकार की प्रवृति का क्रियात्मक रूप विराग है। तात्पर्य यह है कि सेवा या वात्सल्यभाव की उपयोगिता का महत्त्व जीवन के विकास क्रम में आदि से अन्त तक है।

मोह-भाव और वात्सल्य-भाव में बहुत अन्तर है। मोह में दूसरों से सुख पाने की भावना रहती है, वात्सल्य में दूसरों को सुख पहुंचाने की, उनका दुःख दूर करने की भावना रहती है और उनसे प्रतिफल में सुख मिले यह भावना नहीं रहती। मोह में सुख के आदान-प्रदान की भावना रहती है और वात्सल्य में अपने को प्राप्त सुख के साधनों को दूसरों के हित में वितरण करने की भावना रहती है, जो ऐन्द्रिक सुख की दासता से मुक्ति दिलाने में सहायक होती है। मोह में स्वार्थपरता होती है और वात्सल्य में उदारता होती है। उदारता या आत्मीयता की भावना से जिसके साथ उदारता का व्यवहार किया जाता है, उसमें भी उदारता एवं आत्मीयभाव की जागृति होती है, जो उसके आत्म-विकास में सहायक होती है।

वात्सल्य का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही राग पतला होगा। जिस प्रकार रबर का गुब्बारा जितना फैलता जाता है उतना ही पतला होता जाता है और चरम सीमा पर फैलने पर फूट जाता है, इसी प्रकार जिसका मोह या राग जितना-जितना पतला होता जाता है आत्मीयभाव उतना ही उतना विस्तृत होता जाता है और फैलता जाता है। उसका आत्मीयभाव परिवार से पड़ौस में पड़ौस से समाज में, समाज से सम्पूर्ण मानव जाति में, मानव जाति से पशु पक्षियों में, कीट-पंतगों में, वनस्पति आदि स्थावर जीवों में फैलता हुआ प्राणी मात्र तक फैल जाता है और सर्वहितकारी-भाव का रूप ले लेता है। अन्त में मोह और राग का क्षय होकर क्षीणमोह या वीतराग अवस्था प्राप्त हो जाती है।

वात्सल्य या आत्मीयभाव का क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा को शास्त्रीय भाषा में वैयावृत्य कहा गया है।। वैयावृत्य (सेवा) को आभ्यन्तर तप में स्थान दिया गया है। आभ्यन्तर तप का कर्म क्षय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या निर्जरा में सबसे अधिक महत्त्व है। फलितार्थ यह है कि सेवा रूप वात्सल्यभाव का कर्मों को क्षय करने में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए सम्यक्त्व के आठ अंगों में वात्सल्यभाव को भी अंग माना है।

जिस प्रकार वात्सल्यभाव में माता अपने पुत्रों की समान भाव से सेवा करती है, उसके हृदय में किसी पुत्र के प्रति भेदभाव नहीं होता है फिर भी वह जानती है कि जो पुत्र अधिक दुःखी है उसे अधिक सहायता की अपेक्षा है, वह अन्य पुत्रों से प्रथम व अधिक सहायता पाने का पात्र है। अतः वह अपने पुत्रों में जो अधिक कमजोर है, दुःखी है उसकी सेवा को प्राथमिकता देती है; इसी प्रकार समाज में जो सबसे अन्तिम स्तर पर निर्बल हैं, दरिद्र हैं वे अधिक सहायता के पात्र हैं। अतः इस अंतिम स्तर के वर्ग की सेवा करके उसे ऊँचा उठाना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। अन्त्योदय में यही वात्सल्य-भावना काम करती है।

किसी जीव को बचाने में वात्सल्यभाव होता है। वात्सल्य भगवद्गुण है। भगवान् जगत्वत्सल होते हैं। जैसे माता में अपने वत्सों के प्रति हित की भावना होती है तथा उसका प्रत्येक कार्य अपने पुत्रों के हित के लिए होता है, उसी प्रकार जगत्वत्सल प्रभु में सर्वहित की भावना होती है। यदि माता के दो पुत्र परस्पर लड़ते हैं, एक दूसरे को मारते हैं या कष्ट पहुंचाते हैं तो वह उन्हें रोकती है, उन्हें अवाछनीय घटना से बचाती है। इसमें माता का एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे पुत्र के प्रति द्वेष हो, सो नही है। उसे सब पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। वह सभी का हित चाहती है। उसका यह कार्य श्रेष्ठ है, राग द्वेष रूप पाप कार्य नहीं है, क्योंकि यह कार्य उसकी सुखासक्ति अर्थात् राग को गलाने वाला है। इसी-लिए वात्सल्य को कल्याणकारी-मंगलकारी कहा है। बचाने वाले के हृदय में जिसको बचाया जाता है उसके प्रति और जिससे बचाया जाता है उसके प्रति अर्थात् सबके प्रति वात्सल्यभाव होता है जो भगवद्गुण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य और अन्य प्राणियों में एक बहुत बड़ा अंतर है। अन्य प्राणियों को उनकी माता जन्म देती है, परन्तु उनको इतना वात्सल्य नहीं दे सकती जितना मानव की माता। इसका एक मुख्य कारण यह है कि मानेवतर प्राणियों की माता को अपना भोजन स्वयं जुटाना पड़ता है जिसके लिए अपने बच्चों को छोड़कर इधर-उधर भागदौड़ करनी पड़ती है। उसे अपने शरीर की रक्षा के लिए ही अपनी सारी शक्ति, श्रम व समय लगाना होता है। दूसरा कारण भाषा, भावाभिव्यक्ति के साधन, बुद्धि आदि भी उसके पास इतने अधिक व उच्चस्तर के नहीं होते हैं जितने मानव के पास। इन कारणों से मानवेतर प्राणियों की माता के वात्सल्य-भाव से मानव की माता का वात्सल्यभाव श्रेष्ठ है। यही माता की श्रेष्ठतम शक्ति है और सम्पत्ति भी है। यदि मानव की माता में वात्सल्य-भाव नहीं होता तो वह पशुकोटि का प्राणी होती। मानव को वात्सल्यभाव की यह जन्म-घुट्टी उसे अपनी माता के स्तनपान के साथ ही मिलती है। इस वात्सल्यभाव का ही दूसरा नाम मानवता है। वात्सल्य का विकास ही मानवता का विकास है। वात्सल्य या मानवता के अभाव में 'मानव' मानव नहीं रह जाता है और न पशु ही रह जाता है अपितु राक्षस बन जाता है जो पशुता की तुलना में असंख्य गुणा अधिक भंयकर बुरा है, क्योंकि पशु अपनी ओर से किसी को हानि पहुंचाने का संकल्प नहीं करता है वह सुरक्षा का खतरा उत्पन्न होने पर या भूख लगने पर ही दूसरों पर आक्रमण करता है, संग्रह के लिए नहीं जबकि स्वार्थी मनुष्य संग्रह के लिए विश्व का शोषण करने व हानि पहुंचाने की तैयारी करता ही रहता है। उसका हृदय अत्यन्त कठोर व महाक्रूर होता है।

वात्सल्यभाव में प्रेम होता है। प्रेम स्वयंभू होता है, वह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होता है। जो किसी से किसी अपेक्षा को लेकर पैदा होता है वह स्वार्थ है, प्रेम नहीं। प्रेम में किसी भी प्रकार की कोई भी अपेक्षा नहीं होती है। प्रेम सर्वथा निःस्वार्थ होता है। प्रेम व्यापक होता है, सबके प्रति समान होता है, प्रेम में न्यूनाधिकता नहीं होती। जहां प्रेम में न्यूनाधिकता है वहां द्वेष है। जहां द्वेष का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव होता है वहां प्रेम नहीं होता है। प्रेम तो जाति-पाँति, संप्रदाय धर्म, वर्ग, समाज, वाद, मत, आदि के भेद के बिना सबके प्रति समान होता है। माता का भी सपूत-कपूत का भेद किए बिना पुत्र के प्रति अपार प्यार उमड़ता है। वह उसका दुःख दूर करने के लिए अपना सर्वस्व तक अर्पण करने को तैयार रहती है। गाय अपने बछड़े की रक्षा के लिए सिंह से मुकाबला कर अपने प्राण भी न्यौछावर कर देती है। ऐसा वात्सल्यभाव समस्त प्राणियों के प्रति जागृत हो जाना ही ईश्वरीय प्रेम है। जितना-जितना राग घटता जाता है उतनी ही प्रेम की अभिव्यक्ति स्वतः होती जाती है। राग ही प्रेम का घातक और बाधक है। अतः राग के त्याग में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। जितनी राग, मोह या विषय-भोग में कमी होती जाती है उतनी ही चेतना का भोग-उपभोग गुण प्रकट होता जाता है। इसे ही जैन-दर्शन में भोगान्तराय व उपभोगान्तराय का क्षयोपशम कहा है।

वात्सल्य के इसी महत्त्व के कारण उसे सम्यग्दर्शन का अंग भी कहा गया है, यथा—

निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहथिरीकरणे वच्छलपभावणे अट्ठ॥

(उत्तराध्ययनसूत्र-8-31)

अर्थात् निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं। मूलाचार (अ. 20), सर्वार्थसिद्धि (6-24), राजवार्त्तिक (6.24), पंचाध्यायी (479-80) आदि में भी इनका उल्लेख है। समयसार (177) एवं वसुनन्दिश्रावकाचार (49) में संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा वात्सल्य ये आठ गुण सम्यक्त्व युक्त जीव के बताए गए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'वात्सल्य' व 'अनुकंपा' ये दोनों सम्यग्दर्शन के अंग या आचार हैं। सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष-मार्ग का साधन होने से धर्म है। अतः वात्सल्यभाव भी धर्म ही है। वात्सल्यभाव प्रवृत्तिपरक है अतः कुछ लोग इसे धर्म न मानकर केवल पुण्य ही मानते हैं। परन्तु, सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अंग को धर्म न माना जाय तो फिर सम्यग्दर्शन के अन्य अंग निःशंकित निःकांक्षित आदि को भी धर्म नहीं मानना होगा, जो आगम-विरुद्ध है। अतः वात्सल्यभाव धर्म है। वात्सल्य का ही एक रूप आत्मीयता है।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मीयता और सहानुभूति

जैसे चन्द्रिका का विकास चन्द्र के विकास का द्योतक है उसी प्रकार आत्मीयता का विकास आत्मा के विकास का द्योतक है। जैसे-जैसे आत्मा का विकास होता जाता है वैसे-वैसे आत्मीयता का विकास होता जाता है। आत्मीयता का क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा के विविध रूप हैं—दान, दया, वत्सलभाव, मैत्रीभाव आदि। अर्थात् अहिंसा के जितने भी सकारात्मक रूप हैं, उन सबका प्राण या हार्द आत्मीयता ही है। जैसे हम स्वयं अपने आपको प्यारे लगते हैं वैसे ही सभी प्राणियों का हमें प्यारा लगना आत्मीयता है। आत्मीयता चेतन प्राणियों के प्रति होती है, जड़ या पुद्गल के प्रति नहीं होती। आत्मीयता आत्मा या परमात्मा का गुण है। आत्मीयता को ही प्रेम कहा जाता है। आत्मीयता का क्रियात्मक रूप ही मानवता है।

जिसमें मानवता नहीं वह आकृति से भले ही मानव हो, प्रकृति से तो पशु ही है। जो अपने ही भोग में रत रहता है, अपने इन्द्रिय सुख को ही सब कुछ समझता है, वह पशु है। पशुयोनि भोग-योनि है। मानव मानवता के कारण पशु से उच्च व श्रेष्ठ होता है। मानवता है स्वयं दुःख सहन करके भी दूसरों के दुःख को बंटाना, अपने को उपलब्ध सुख की सामग्री का स्वयं भोग न कर दूसरों की सहायता में लगाना, सब प्राणियों को अपने समान समझ कर अपनत्व से उनकी सहायता करना तथा उनकी प्रसन्नता को बढ़ाना एवं स्वयं प्रसन्न होना। यही सबके प्रति अपनत्वभाव या आत्मीयता है। मानवता तथा आत्मीयता का क्रियात्मक रूप ही अहिंसा का क्रियात्मक रूप है। मानवता, आत्मीयता, उदारता, बंधुता, मित्रता, वत्सलता ये सब समानार्थक शब्द हैं एवं अहिंसा के सकारात्मक रूप हैं।

अहिंसा के सकारात्मक रूपों के विकास ही में प्राणी का वास्तविक विकास है। इसी से सच्चा सुख, अक्षय सुख मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह, राग, विषय-भोग, कामनापूर्ति, काम, क्रोध, मद, लोभ से मिलने वाला सुख क्षणिक सुख है। उसके साथ नश्वरता, पराधीनता, जड़ता, शक्तिहीनता, नीरसता, अभाव आदि सुख ऐसे ही लगे रहते हैं, जैसे काया के साथ छाया। ऐसे दुःखगर्भित सुख को पाने का ध्येय अविकसित प्राणी ही बनाते हैं, विकसित प्राणी तो अक्षय, अखंड, सनातन, शाश्वत, अनंत सुख पाने को अपने जीवन का ध्येय बनाते हैं तथा उसकी उपलब्धि के लिए खोज व पुरुषार्थ करते हैं, ऐसा सुख आत्मीयता या प्रेम के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं संभव नहीं है।

आत्मीयता में ही सच्चा सुख है। इस तथ्य को भारत के तत्त्वद्रष्टा ऋषि महर्षियों ने अति प्राचीनकाल में ही खोज लिया था। उन्होंने इसे क्रियात्मक रूप देने के लिए अपने निकटवर्ती लोगों में इसका प्रसार प्रारम्भ किया जो क्रमशः परिवार, समाज, संघ, राष्ट्र आदि के रूप में प्रकट हुआ। व्यक्ति के सबसे निकट उसके परिवार के लोग रहते हैं अतः उनके प्रति आत्मीयभाव रखकर स्वयं दुःख पाकर भी उनका भरण-पोषण करे, उनके दुःख को दूर करे, उन्हें सुख पहुंचाने के लिए सदैव तत्पर रहे, इसे ही उसका कर्त्तव्य भी कहा गया है। जिस परिवार के सब सदस्यों में यह आत्मीयभाव है, उस घर में प्रेम के रस की सरिता बहती है। उस घर में दिव्य आनंद के पयोधर उमड़े रहते हैं। उसमें देवता निवास करते हैं, वह घर वस्तुतः स्वर्ग है। आत्मीयता का रस अक्षय एवं अविनाशी रस है, अतः यह अमरत्व रूप है और अमरलोक ही स्वर्ग-लोक है।

परिवार के सब लोगों के पारस्परिक आत्मीयभाव से रहने को सभ्य कहा जाता है। जहां सभ्यता है वहाँ ही सच्ची सम्पन्नता, सम्पदा है। किसी को धन कितना ही मिल जाय उससे इन्द्रियों का क्षणिक सुख ही मिल सकता है, जो प्रतिक्षण क्षीण होकर कुछ ही समय में नष्ट हो जाता है, नीरसता में बदल जाता है, परंतु उसे अक्षय सुख नहीं मिल सकता। यही कारण है कि किसी घर में धन व सुख की सामग्री कितनी ही बढ़े उससे शान्ति व प्रसन्नता नहीं बढ़ती है। जीवन में नीरसता ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमेरिका के वृद्धाश्रमों में जाकर देखा जा सकता है। वहां पर अनेक करोड़पति रहते हैं। उन करोड़पतियों से जब कोई भारतीय मिलता है और उन्हें भारत के पारिवारिक जीवन का परिचय देता है कि भारत में वृद्ध माता-पिता की संतान उनकी पूर्ण सेवा करती है, उन्हें प्रसन्न रखने का हर संभव प्रयत्न करती है और वृद्धजन भी अपने पुत्रों, पौत्रों, पौत्रियों के साथ आत्मीयता से, प्रेम से अपना जीवन सरसतापूर्वक बिताते हैं। यह परिचय जब वे वृद्धजन सुनते हैं तो उनका हृदय विह्वल हो जाता है और आंखों से आंसू टपकने लगते हैं क्योंकि उनकी संतान कई दिनों में आकर औपचारिक रूप से कुछ मिनट तक मिल लेती है, परन्तु भारतीयों की भाँति उनमें आत्मीयता की भावना नहीं होती है। इससे यह फलित होता है कि धन भले ही अरबों-खरबों का हो उससे सरसता नहीं आती।

सरसता तो आत्मीयता से ही आती है। आत्मीयता के अभाव में जीवन में नीरसता ही रहती है। नीरसता से हीनता की भावना पैदा होती है। नीरसता और हीनता से बढ़कर अन्य कोई दुःख नहीं है। इस प्रकार अमेरिको लोगों का जीवन दुःखभरा है। भारत के लोगों की स्थिति इसके विपरीत है। भारत में लगभग आधे मनुष्य गरीबी की रेखा से निम्न स्तर पर जी रहे हैं। उन्हें न भरपेट खाने को मिलता है और न तन पर पूरे कपड़े हैं। पैरों में जूतें नहीं, धूप से बचने के लिए छाता नहीं, ऐसी दीनहीन स्थिति में जेठ माह की भयंकर धूप व गर्मी में तथा झुलसा देने वाली लू के मध्य में, नंगे पैर औरतें जंगल में से लकड़ी काटती हैं फिर लकड़ी का भार अपने सिर पर रखकर जिस प्रसन्नता के साथ गाना गाती आती हैं, वह दृश्य देखते ही बनता है। इतनी गरीबी में भी इतनी प्रसन्नता का कारण है उनके निजी व पारिवारिक जीवन में आत्मीयता का होना। पारस्परिक आत्मीयता से उन्हें यह विश्वास होता है कि रोग, शोक, भूख-प्यास आदि दुःखों के समय पूरा परिवार उनके साथ है। परिवार के एक व्यक्ति को कुछ भी मिलेगा तो वह पूरे परिवार को मिलेगा। घर का मुखिया तो पहले परिवार के सब सदस्यों को खिलाकर पीछे खाता है। भारत में दाम्पत्य जीवन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो इतना प्रेम और विश्वास है कि पति कमाकर जो भी लाता है वह सबका सब पत्नी के सुपुर्द कर देता है तथा पत्नी में पति व पूरे परिवार के प्रति इतनी आत्मीयता होती है कि भोजन स्वयं बनाती है, परन्तु पूरे परिवार को खिलाकर जो बचा-खुचा, ठंडा-बासी भोजन होता है उसे वह खाती है। इन सबकी प्रसन्नता की जड़ है परिवार के सदस्यों में पारस्परिक प्रेम, आत्मीयता एवं विश्वास। इसके विपरीत अमेरिका, यूरोप आदि देश धन से सम्पन्न होकर भी मन से विपन्न हैं, दरिद्र हैं। फलतः नीरसता में जीवन जीते हैं। नीरसता को दबाये व भुलाये रखने के लिए मद्य पीते हैं अथवा विभिन्न प्रकार के नये-नये इन्द्रिय भोगों में लिप्त रहते हैं फिर भी नीरसता उनका पीछा नहीं छोड़ती। कितनी दयनीय स्थिति है धन से संपन्न परन्तु मन से दरिद्र इन लोगों की ? जबकि भारतवासी धन से निर्धन परन्तु मन से सम्पन्न होने से सदैव प्रसन्नता में रहते हैं। उन्हें वृद्धावस्था बिताने के लिए वृद्धाश्रम (Old House) नहीं ढूंढ़ने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मीयता से परिवार में वास्तविक संपन्नता, सरसता व प्रसन्नता आती है। यही परिवार की सच्ची समृद्धि भी है। आज से पचास वर्ष पहले जिस घर में परिवार के अधिक सदस्य मिलकर रहते थे उसे ही सम्पन्न व श्रेष्ठ परिवार समझा जाता था।

जिसमें आत्मीयता का विकास होता है वह सबको अपने समान समझता है, सब में निज स्वरूप का अनुभव करता है। निज स्वरूप का अनुभव करने से उनके प्रति प्रियता जागृत होती है। जिसके प्रति प्रियता होती है तो व्यक्ति को उसकी प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता का अनुभव होता है। उससे प्रिय का दुःख सहा नहीं जाता। उसमें सर्वभूतात्मभाव आ जाता है। जैसा कि ईशोपनिषद् में कहा है :—

यस्य सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

अर्थात् जिसमें आत्मीयभाव है वह सब प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है और सब प्राणियों में अपने को ही देखता है, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी से घृणा नहीं करता है, सब उसे अपने ही लगते हैं। उसकी दृष्टि में पराया कोई रहता ही नहीं है, स्वपर का भेद मिट जाता है। वह अपना सर्वस्व सबको समर्पित कर देता है। जहां किसी से किसी भी प्रकार का सुख पाने की अपेक्षा है वहाँ ममत्वभाव है और जहां अपना सुख समर्पण करने में प्रसन्नता है वहाँ आत्मत्व-भाव है। आत्मत्वभाव में ममत्वभाव नहीं रहता।

सहानुभूति

आत्मीयता के विकास का मापन है संवेदनशीलता। जिस हृदय में दूसरे के दुःख को देखकर उस दुःख की अनुभूति होने लगती है वह संवेदनशील हृदय है। संवेदनशील हृदय में ही सहानु-भूति होती है। सहानुभूति करने वाला व्यक्ति दूसरे की वेदना सहन नहीं कर सकता, उसे दूर किए बिना उसे चैन नहीं पड़ता, अपने समक्ष आये पीड़ित व्यक्ति की पीड़ा का अनुभव कर वह उसे दूर करने में यथासम्भव सहयोग देता है।

आगमों में कहा है कि जिस जीव का दर्शनगुण जितना विकसित है उसमें उतनी ही संवेदनशीलता है। संवेदनशीलता उसके विकास की द्योतक है। सहानुभूति संवेदनशीलता की द्योतक है। इस प्रकार सहानुभूति आत्मा के विकास की द्योतक है। जहां सहानुभूति नहीं वहां चेतनता नहीं, जड़ता, मूर्च्छा या मोह है। वस्तुतः संवेदनशीलता का विकास ही चेतना का विकास है। पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय की चेतना अर्थात् संवेदनशीलता अधिक विकसित है। इसी प्रकार एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की संवेदनशीलता क्रमशः अनंतगुणी विकसित है। अर्थात् ये अपने सम्पर्क में आने वाले अपने सजातीय जीवों के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं, अधिक सहानुभूति दिखाते हैं। चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी बहुत अधिक संवेदन-शील होते हैं। वे अपनी सन्तान की रक्षा के लिए प्राण तक दे देते हैं। सिंह का आक्रमण होता है तो पशुओं में भगदड़ मच जाती है। सब अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भागते हैं। परन्तु, हरिणी अपने लघु शिशु को बचाने के लिए उसे छोड़कर नहीं जाती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और सिंह का सामना करने को उद्यत हो जाती है। बन्दरों, मधुमक्खियों आदि में पारिवारिक भाव देखा जाता है। मानव में यह भाव अत्यधिक विकसित होता है। उसकी प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति होती है। यदि उसकी सहानुभूति परिवार तक ही सीमित है तो उसे नर न समझकर वानर ही समझना चाहिये उसका विकास वानर तक ही हुआ है। जो मानव परिवार के प्रति भी सहानुभूति नहीं रखता है वह मानव वानर से भी गया बीता है, वानर से भी कम विकसित है। चेतना के विकास की द्योतक सहानुभूति या संवेदनशीलता है, भौतिक सम्पत्ति नहीं। भौतिक सम्पत्ति कितनी ही हो, किन्तु हृदय में संवेदनशीलता या सहानुभूति न हो, उद्योग आदि में दूसरों का शोषण करने, कष्ट देने में जिसे संकोच न हो, अपने पास पड़ौस के लोगों को भूखा-नंगा देखकर भी कार में गुलछर्रे उड़ाता फिरे ऐसे कठोर हृदय वाला व्यक्ति मानवाकृति में पशु ही है। वह चाहे फिर उद्योगपति, खरबपति, नरपति, राष्ट्रपति, नेता, विद्वान्, लेखक, वक्ता, प्रवचनकार ही हो वह मानवाकृति में पशुता और दानवता का प्रतीक है। उसे मानव कहना मानवता को लज्जित करना है, मानव जाति का अपमान करना है।

धर्म वह है जिससे आत्म-विकास हो। आत्म-विकास वहाँ है जहां संवेदनशीलता है। जहां संवेदनशीलता है वहां आत्मीयता है। इस प्रकार जहां आत्मीयता है वहां धर्म है।

जो अपनी देह और इन्द्रियों के भोग में तत्पर रहता है, वह पशु है। भोग पशुता का ही प्रतीक है। जो अपनी देह व इन्द्रिय भोग के सुख को ही जीवन मानता है वह घोर स्वार्थी होता है। वह अपने विषय सुख में इतना गृद्ध होता है कि उसे अन्य की तो क्या कहें, अपने परिवार के लोगों के कष्ट की भी परवाह नहीं होती। उसका आत्म-विकास अपनी देह तक ही सीमित होता है, उसकी वृत्तियां व विचार अपने ही व्यक्तिगत सुख तक सिमटे होते हैं। ऐसा संकीर्ण हृदय वाला व्यक्ति इन्द्रिय विषयों के क्षणिक व नश्वर सुख में ही अपना जीवन खो देता है। वह परमात्मा के परमानन्द रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्षय-अखण्ड-अनन्तसुख का रसास्वादन नहीं कर पाता है। वह अभाव-ग्रस्त तथा नीरसता, शुष्कता, क्षुद्रता, संकीर्णता व पराधीनता में ही अपना जीवन बिता देता है। अक्षय, अखण्ड, अनन्तसुख से वंचित ही रह जाता है। रोता आया, रोता रहा और रोता ही मर जाता है, या यों कहें कि रोता पैदा हुआ, जिन्दगी भर विषय सुख पाने के लिए रोता रहा, और मरा तब भी रोता हुआ ही मरा। मानव की यह दशा घोर दयनीय है, दुःखद है, हृदय को कम्पित करने वाली है।

सहानुभूति, संवेदनशीलता और आत्मीयता जहां है वहां ही सज्जनता है। सज्जन का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है। जैसे मक्खन थोड़े से ताप से ही पिघल जाता है उसी प्रकार सज्जन का हृदय दूसरे के थोड़े से संताप से ही पिघल जाता है, द्रवित हो जाता है। करुणा की धार बहने लगती है। उससे दूसरे का दुःख सहा नहीं जाता। सन्त तुलसीदास ने भी कहा है—'सन्त हृदय नवनीत समाना।'

दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने वाले, सज्जनों एवं सन्तों के अगणित उदाहरण भरे पड़े हैं। उनमें से यहां कुछ प्रस्तुत हैं—

(1) श्री रामकृष्ण परमहंस ने एक कुत्ते को पिटते हुए देखा तो उनकी सहानुभूति अत्यन्त तीव्र हुई उन्हें भी वैसी ही संवेदना का अनुभव हुआ फलस्वरूप उनकी पीठ पर बेंत से पिटाई के तीन निशान हो गए एवं वह वेदना कई दिनों तक सहन करनी पड़ी।

(2) सन्त तुकाराम ने भोजन के लिए थाली में रोटी रखी ही थी कि एक कुत्ता आया और रोटी लेकर भाग गया। सन्त तुकाराम भी घी की कटोरी लेकर उसके पीछे भागे कि मैं घी से बिना चुपड़ी रोटी नहीं खाता हूं तो तुम बिना घी के रोटी कैसे खाओगे, अतः इसे घी से चुपड़ने दो।

(3) वाल्मीकि के बाण से क्रौंच पक्षी के बिंधने के कारण उसके साथी पक्षी ने विलाप किया। विरह की वेदना से बार-बार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुदन किया। उसे देखकर वाल्मीकि का हृदय संवेदना से भर गया, करुणा से द्रवित हो गया। उसी दिन से उनका हृदय परिवर्तन हो गया और वे डाकू से कवि बन गए।

(4) महात्मा गांधी ने एक वृद्ध स्त्री को अपनी फटी व मैली साड़ी को बदलने के लिए कहा तो उस स्त्री ने उत्तर दिया कि 'मैं कैसे बदलूँ, मेरे पास तो केवल यही साड़ी है, जो मैं पहने हुए हूं'। वृद्धा की यह बात सुनकर गांधीजी का हृदय दया से द्रवित हो गया उनके हृदय पर इस देश की गरीबी का बड़ा प्रभाव हुआ। उसी दिन से उन्होंने पूरे वस्त्र पहनना छोड़ दिया। आधी धोती पहनने और आधी से तन ढकने का निश्चय कर लिया।

(5) श्रीकृष्ण हाथी पर बैठकर भगवान् नेमीनाथ के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग में एक वृद्ध पुरुष गिरता पड़ता ईंटों के बहुत बड़े ढेर में से एक-एक ईंट उठा कर घर में रख रहा था। ईंट का वजन उससे सहा नहीं जा रहा था। श्रीकृष्ण से उसका दुःख सहा नहीं गया, उनके हृदय में करुणा उमड़ी और उन्होंने एक ईंट को उठाकर वृद्ध पुरुष के घर में रख दिया। जुलूस में चल रहे सारे लोगों ने श्रीकृष्ण का अनुकरण किया। फलस्वरूप देखते ही देखते ईंट का ढेर वृद्ध के घर में पहुँच गया। श्रीकृष्ण वासुदेव बड़े राजा थे। उनका सब काम उनके सेवक एवं दास करते थे। अपने हाथ से कोई काम नहीं करना ही उनके गौरव, सम्मान व अहंभाव का द्योतक था, परन्तु श्रीकृष्ण करुणाभाव से अपने सम्मान व अहंभाव को भूल गये। करुणा व सहानुभूति से उनका अहंभाव गल गया। उन्होंने सम्मान-अपमान का, अपने कष्ट का कोई विचार न कर वृद्ध की करुणाभाव से सेवा कर उसकी वेदना दूर कर दी। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकारात्मक अहिंसा धर्म है

सामान्य जन तो दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म ही मानते हैं, परन्तु कुछ बुद्धिवादी व्यक्ति यह युक्ति देते हैं कि दया, रक्षा, वात्सल्य, सेवा आदि अहिंसा की विधिपरक सद्प्रवृत्तियाँ कर्मबंध की हेतु होने से संसार में भ्रमण कराने वाली हैं। अतः मुक्ति में बाधक होने से धर्म रूप नहीं है। धर्म तो निवृत्ति रूप ही होता है। परन्तु, उनकी यह मान्यता न तो आगम-सम्मत है और न युक्तियुक्त। इसी पर आगे विचार किया जा रहा है।

प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं :—(1) दुष्प्रवृत्ति और (2) सद्प्रवृत्ति। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोग आदि दुष्प्रवृत्तियों को पाप कहा जाता है जो उपयुक्त ही है। ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ दुःख देने वाली व भव-भ्रमण कराने वाली होने से सर्वथा त्याज्य हैं। दया, दान, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद्प्रवृत्तियाँ आत्मा के विकारों को दूर करने वाली, आत्मा को पवित्र करने वाली तथा कर्मों का क्षय करने वाली हैं अतः इन्हें धर्म कहा जाता है।

दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ गुण रूप हैं और हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तियाँ दोष रूप हैं, गुण और दोष दोनों परस्पर में विरोधी हैं। गुण स्वभाव रूप होते हैं और दोष विभाव रूप। स्वभाव कभी भी कर्मबंध का कारण नहीं होता है, कर्म-बंध का कारण विभाव ही होता है। स्वभाव को धर्म और विभाव को पाप कहा जाता है। अतः गुणरूप दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ धर्म हैं और हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तियां अधर्म या पाप हैं। दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों से कर्मों का क्षय होता है। कर्मों का क्षय मुक्ति में हेतु है। मुक्ति प्राप्ति में हेतु होने से दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ या गुण धर्म हैं। इन्हें कर्मबन्ध का व संसार-भ्रमण का कारण मानना, इनको अधर्म मानना है। धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागमों में दया, दान, वात्सल्य, मैत्री, वैयावृत्य (सेवा,) प्रमोद, मृदुता, ऋजुता, नम्रता आदि सद्प्रवृत्तियों को शुभ योग कहा है और शुभ योग को संवर कहा है। इन्हें संवर कहने का कारण यह है कि इनसे कर्मबंध नहीं होता, लेकिन वास्तविकता यह है कि इनसे कर्म-क्षय भी होता है। अतः ये प्रवृत्तियां संवर और निर्जरारूप हैं। संवर और निर्जरा धर्म है। उदाहरणार्थ—(1) नम्रता के द्योतक नमस्कारमंत्र को ही लें। इसमें स्पष्ट कहा है कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँचों को नमस्कार करने रूप शुभयोग या सद्प्रवृत्ति सब पापों का नाश करने वाली है, अर्थात् धर्म है क्योंकि नमस्कार रूप नम्रता से अहंभाव गलता है। अहंभाव गलने से सब कर्मों का क्षय होता है। (2) वात्सल्य को लें—वात्सल्य सम्यग्दर्शन का अंग व आचार है, सम्यग्दर्शन कर्म-क्षय में हेतु है, धर्म है अतः वात्सल्य धर्म है। (3) मैत्री, प्रमोद, करुणा-भाव रूप सद्प्रवृत्तियों को तत्त्वार्थसूत्र में संवररूप धर्म में स्थान दिया गया है (4) आर्जव—सरलता, मार्दव-मृदुता (हृदय की कोमलता), लाघव (विनम्रता) आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म के दस भेदों में स्थान दिया गया है (5) अनुकम्पा को सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा गया है। सम्यगदर्शन संवर रूप धर्म है। अतः अनुकम्पा संवर है। (6) वीतराग केवली को अनंतदानी कहा है अतः दान वीतराग धर्म का ही अंग है।

सद्प्रवृत्तियों एवं शुभ योग से कर्मबन्ध नहीं होता है वरन् कर्मक्षय होता है, यह मान्यता जैन-धर्म की मौलिक मान्यता है और प्राचीन काल से परम्परा के रूप में अविच्छिन्न धारा में चली आ रही है। 'शुभयोग संवर है' यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में वर्तमान में यह सर्वमान्य नहीं रही है। आज दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ अनुयायी इसे मानें अथवा न मानें परन्तु प्राचीन काल में तो दिगम्बर सम्प्रदाय में भी यह मान्यता सर्वमान्य ही रही है। इसके अनेक प्रमाण ख्यातिप्राप्त दिगम्बराचार्य श्री वीरसेन स्वामी रचित प्रसिद्ध धवला टीका एवं जयधवला टीका में देखे जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जा सकते हैं। इन्हीं में से कषाय पाहुड़ की जयधवला-टीका से एक प्रमाण यहां उद्धृत किया जा रहा है—

'सुह-सुद्ध परिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो उत्तं-

ओदइया बन्धयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणामिओ करणोभयवज्जिओ होइ ॥

जयधवला पुस्तक, 1 (पृष्ठ 5)

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। कहा भी है—

'औदयिक भावों से कर्म-बन्ध होता है। औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों से मोक्ष होता है तथा पारिणामिकभाव बन्ध और मोक्ष इन दोनों के कारण नहीं है।'

उपर्युक्त उदाहरण में टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने जोर देकर स्पष्ट शब्दों में कहा है कि क्षायोपशमिक-भाव (शुभयोग) मोक्ष का हेतु है। इससे कर्म क्षय होते हैं, कर्मबन्ध नहीं होते हैं। कर्मबन्ध का कारण तो एक मात्र उदयभाव ही है।

उपर्युक्त मान्यता पर इस जयधवला के मान्यवर सम्पादक श्री फूलचन्दजी शास्त्री ने इस गाथा पर 'विशेषार्थ' के रूप में अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते हैं, क्षयोपशम आदि से नहीं, इसलिए जबकि औदयिक-भाव कर्मबन्ध के कारण हैं, तो शुभ परिणामों से कर्मबन्ध ही होना चाहिये, क्षय नहीं।

'शुभभाव' कषाय के उदय से होते हैं। सम्पादक महोदय की उपर्युक्त यह मान्यता केवल एक सम्पादक महोदय की ही हो सो नहीं है। यह मान्यता कुछ शताब्दियों से जैन-धर्मानुयायियों के अनेक सम्प्रदायों में घर कर गई है। कारण कि शुभभावों की उत्पत्ति का कारण यदि कषाय के उदय को न माना जाय तो 'शुभभाव से कर्म-बन्ध होता है' यह उनको मान्यता पुष्ट नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहां प्रथम यह विचार करना है कि शुभभाव की उत्पत्ति का कारण कषाय का उदय अर्थात् औदयिकभाव है या नहीं इस सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य चिन्तनीय है—

कषाय अशुभभाव हैं। अशुभ भावों के उदय से शुभ परिणामों की उत्पत्ति मानना मूलतः ही भूल है। यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कटु नीम का बीज (निम्बोली) बोये और उसके फल के रूप में मधुर आमों का उपलब्ध होना मानें। नियम यह है कि जैसा बीज होता है वैसा ही फल आता है, अतः कषाय रूप अशुभ परिणामों के उदय के फलस्वरूप शुभ परिणामों की उत्पत्ति मानना भूल है।

यदि शुभभावों की उत्पत्ति का कारण कषाय के उदय को माना जाय तो अशुभभावों की उत्पत्ति का कारण किसे माना जाय? फिर तो अशुभभावों की उत्पत्ति का कारण शुभभावों को मानना होगा, जो युक्तियुक्त नहीं है। यदि शुभभाव और अशुभ-भाव इन दोनों भावों की उत्पत्ति का कारण कषाय के उदय को माना जाय तो एक ही कारण से दो विरोधी कार्यों की उत्पत्ति या दो विरोधी फलों की प्राप्ति माननी पड़ेगी जो उचित नहीं है तथा युक्तियुक्त भी नहीं है।

यदि केवल शुद्धभाव को ही कर्मक्षय का कारण माना जाय और शुभभावों से कर्मक्षय न माना जाय तो वीतराग के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मक्षय कर नहीं सकता। कारण कि वीतराग को छोड़कर अन्य किसी के शुद्धभाव सम्भव ही नहीं है क्योंकि वीतराग के अतिरिक्त शेष सब प्राणियों के नियम से कषाय का उदय रहता ही है। जहां तक कषाय का उदय है वहां तक शुद्धभाव नहीं हो सकते और शुद्धभाव के अभाव में कर्मों का क्षय नहीं हो सकता। इस प्रकार दसवें गुणस्थान तक कर्मक्षय का कोई उपाय ही शेष न रहेगा। कर्मक्षय के अभाव में तप, संयम, निर्जरा के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा जिससे साधना के मार्ग का ही लोप हो जायगा जो आगमविरुद्ध है। इस आपत्ति का निवारण शुभभाव को कर्मक्षय का कारण मानने से ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य कोई समाधान नहीं है अत: 'शुभभाव से कर्मबन्ध होता है' यह मान्यता आगम व युक्ति से विरुद्ध है।

यदि आंशिक शुद्धता को भी शुद्धभाव माना जाय तो सभी प्राणियों के सदैव शुद्धभाव मानना होगा। कारण कि कोई भी प्राणी पूर्णरूप से अशुद्ध हो ही नहीं सकता। कोई भी प्राणी यदि पूर्ण अशुद्ध हो जाय तो उसका चैतन्य स्वभाव नष्ट हो जायगा और वह जड़ हो जायगा। जैसा कि 'कषाय पाहुड' पुस्तक, । पृष्ठ 55 में कहा है—"ण च कम्मेहि णाणस्स दंसणस्स वा णिम्मूलविणासो कीरइ, जाव दव्वभाविगुणाभावे जीवाभावप्पसंगादो।" अर्थात् यदि कहा जाय कि कर्म ज्ञान और दर्शन का निर्मूल विनाश कर देते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर यावत् जीव-द्रव्य के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा, सो उपयुक्त नहीं है।

तात्पर्य यह है कि कोई भी प्राणी कभी भी पूर्ण अशुद्ध हो ही नहीं सकता, आंशिक अशुद्ध ही होता है। यह आंशिक अशुद्धि प्रथम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक रहती है और यह नियम है कि अशुद्धि या अशुद्ध भाव से कर्मक्षय कदापि सम्भव नहीं है। इससे यह मानना पड़ेगा कि वीतराग के अतिरिक्त अन्य कोई कर्मक्षय कर ही नहीं सकता, जो मूल भूल है। अत: छद्मस्थ के कर्मक्षय का उपाय शुभभाव ही हो सकता है। शुभभाव से ही कर्मक्षय होकर सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। औपशमिक और क्षायिक भावों की उत्पत्ति में शुभभाव ही सहयोगी होते हैं, संक्लिष्ट भावों की विद्यमानता में औपशमिक और क्षायिक भावों की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है।

'शुभभाव' कषाय के उदय से नहीं, कषाय की कमी या मंदता से होते हैं, कारण कि कषाय का उदय, बन्ध, सत्ता सब अशुभ या पाप हैं। कषाय के उदय रूप अशुभभाव को शुभभाव मानना पाप को पुण्य मानना है। पाप को पुण्य समझना तात्त्विक भ्रान्ति व मिथ्यात्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभभाव कषाय में कमी होने से होता है। कषाय की कमी कर्मबन्ध का कारण नहीं है, प्रत्युत कर्मक्षय का कारण है। वास्तविकता तो यह है कि शुभभावों की विद्यमानता में जो कर्मबन्ध होते हैं वे शुभभावों के साथ रहते हुए कषाय के उदय रूप अशुभ भावों के कारण से होते हैं, न कि शुभभावों से। कषाय से ही स्थिति बन्ध होता है। स्थिति-बन्ध के अभाव में कर्मबन्ध का कोई अर्थ ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि कर्मों की स्थिति-बन्ध का कारण कषाय रूप औदयिक भाव है न कि शुभभाव। अतः शुभभाव या क्षायोपशमिक भाव को कर्मबन्ध का कारण मानना युक्तियुक्त नहीं है, अपितु भ्रान्तिपूर्ण है।

आगम व कर्म-सिद्धान्त में घाती कर्मों की किसी भी प्रकृति को शुभ नहीं कहा है, समस्त प्रकृतियों को अशुभ कहा है। अतः कषाय-भाव का उदय कभी कहीं पर भी शुभ माना ही नहीं गया है। इसके विपरीत कषाय में कमी होने को शुभ माना गया है और इसी को क्षयोपशम भाव भी माना है। इससे स्पष्ट है कि शुभभाव या क्षायोपशमिक भाव कषायों की या पाप-प्रकृतियों की कमी होने से होते हैं उदय से नहीं। अतः शुभभाव की उत्पत्ति कषाय के उदय से या किसी भी अशुभ कर्मोदय से मानना आगम-विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि शुभभावों के साथ जो कषाय का उदय रहता है वह कषाय रूप अशुभभाव का उदय, शुभभाव की उत्पत्ति में निमित्त, उपादान या अन्य किसी भी प्रकार का कारण नहीं है।

शुभभाव या क्षायोपशिमक भाव आत्म-विशुद्धि रूप होते हैं। वे आत्मिक पवित्रता के द्योतक हैं, अतः पुण्य रूप हैं। वे कर्मक्षय के कारण हैं अतः धर्मरूप हैं। शुभभाव किसी भी अंश में किसी भी आत्मिकगुण का लेश मात्र भी घात नहीं करते हैं। अतः आत्मा के लिए किंचित् भी घातक नहीं हैं और न किसी भी रूप में हेय ही हैं। तात्पर्य यह है कि छद्मस्थ के शुभभाव व शुभयोग कषाय के उदय से नहीं प्रत्युत कषाय की कमी व क्षय से होता है।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि शुभभाव में प्रशस्त राग होता है, जो बन्ध का कारण है। परन्तु, उनकी यह मान्यता आगमानुकूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है कारण कि राग का उदय मोहनीय-कर्म से होता है और मोहनीयकर्म व इसकी किसी भी प्रकृति को कर्मग्रन्थ व आगम में कहीं पर भी शुभ नहीं कहा गया है अतः 'राग शुभ या प्रशस्त भी होता है' यह मान्यता कर्म-सिद्धान्त व जैनागम से मेल नहीं खाती है। वीतराग देव, गुरु, धर्म, व गुणीजनों के प्रति जो अनुराग होता है वह राग नहीं प्रमोद है, प्रमोद संवर है। गुणीजनों के स्मरण व सान्निध्य से जो प्रसन्नता होती है वह भोग नहीं स्वभाव है। राग व भोग विकार हैं और प्रेम, प्रमोद व प्रसन्नता का भाव सहज स्वभाव है। प्रेम, प्रमोदभाव, प्रसन्नता व अनुराग को राग मानना भूल है। राग त्याज्य होता है, अनुराग नहीं। राग में आकर्षण और भोग होता है, अनुराग में प्रमोद व प्रसन्नता होती है।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ (तटस्थता) ये चारों ही भावनाएँ या भाव 'शुभभाव' हैं। शुभभाव होने से स्वभाव हैं, विभाव या दोष नहीं। स्वभाव गुणरूप होता है, दोषरूप नहीं और विभाव दोष रूप होता है, गुणरूप नहीं। मैत्री, प्रमोद करुणा आदि भाव गुण हैं, दोष नहीं। दोष नहीं होने से ये विकार या विभाव रूप नहीं हैं। विकार या दोष कभी शुभ नहीं हो सकता। इसी प्रकार शुभ कभी दोषरूप नहीं हो सकता। अतः शुभत्व 'गुण' का द्योतक है, दोष का नहीं। दोष से ही कर्मबंध होते हैं, गुण से नहीं। अतः शुभभाव रूप मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्य आदि भावों से या गुणों से कर्म-बंध व संसार-भ्रमण मानना भूल है। इस भूल के रहते मानवता का जागरण ही संभव नहीं है।

जहाँ मानवता का ही अभाव है वहाँ संयम, तप, संवर-निर्जरा रूप धर्म व मोक्ष कदापि संभव नहीं है। वहाँ तो पशुता व दानवता है जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। अतः जो मैत्री, प्रमोद, करुणा, वात्सल्य सेवा आदि शुभ भावों व सद्-गुणों को कर्मबंध व संसार-भ्रमण का कारण मानते हैं वे गुण को दोष, स्वभाव को विभाव, निर्जरा या मोक्ष के मार्ग को संसार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग मानते हैं। वे मिथ्यात्वी हैं तथा धर्म के, सत्य के व मानवता के विरोधी हैं।

अब विचार यह करना है कि शुभभाव से कर्म-क्षय होने की प्रक्रिया क्या है ? इस पर विचारने के लिए हमें प्राचीन कर्मग्रंथों व उनकी टीकाओं पर ध्यान देना होगा। प्राचीन कर्मग्रंथों व उनकी टीकाओं में शुभभाव व शुभयोग के स्थान पर 'विशुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिससे आत्मा विशुद्ध हो वही 'विशुद्धि' है। आत्मा की शुद्धि होती है कषायों में कमी होने से। अर्थात् वर्तमान में जितने अंशों में कषाय का उदय है उन कषायांशों में कमी होना विशुद्धि है। यही आत्मा का पवित्र होना भी है। इसलिए विशुद्धि को धर्म व पुण्य भी कहा गया है। इसके विपरीत वर्तमान में जितने कषायांश हैं उनमें वृद्धि होने को संक्लेश कहा गया है। संक्लेश से आत्मा का अधःपतन होता है जो पाप का द्योतक है। अतः जैन-ग्रन्थों व टीकाओं में संक्लेश (कषाय-वृद्धि) को पाप कहा है।

कषाय-युक्त प्रवृत्ति ही मोह है। अतः कषाय की कमी या वृद्धि होना मोह (मोहनीयकर्म) की कमी या वृद्धि होना है। कषाय या मोह की कमी होना ही भावों की विशुद्धि है। यही भावों की विशुद्धि शुभभाव है। शुभभाव का क्रियात्मक रूप शुभ-प्रवृत्ति या शुभयोग या सद्प्रवृत्ति है। यह सब आत्मशुद्धि का प्रतीक होने से धर्म रूप है। इस रूप में शुभभाव, शुभयोग, धर्म और पुण्य पर्यायवाची हैं, विरोधी नहीं हैं। आचार्य अकलंक तथा पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र अ. 1 सूत्र 10 की टीका में कहा है कि विशुद्धि से प्रीति का उदय, उपेक्षाभाव की जागृति तथा अज्ञान का नाश होता है। ये तीनों ही मुक्ति प्राप्ति में सहायक हैं अर्थात् शुभभाव रूप सद्प्रवृत्तियां मुक्ति-प्राप्ति में हेतु हैं। दया, दान, करुणा, वात्सल्य व मैत्री रूप भावों की विशुद्धि के प्रभाव से कर्मक्षय कैसे होते हैं यहां इसी पर विचार किया जा रहा है।

कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि कषाय में कमी होने से भावों में विशुद्धि आती है। आयु-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सत्ता में स्थित समस्त प्रकृतियों के स्थिति-बंध का नियम से अपवर्तन होता है जिससे पूर्वबद्ध स्थितिबंध में अवश्य ही कमी होती है। साथ ही सात कर्मों की समस्त पाप-प्रकृतियों के अनुभाग बंध में भी नियम से अपकर्षण होता है, अर्थात् पूर्वबद्धपाप-कर्मों के अनुभाग में कमी होती ही है। इस प्रकार शुभभाव से पूर्व में बंधे हुए पापकर्मों की स्थिति और अनुभाग में न्यूनता आने रूप कर्मों का क्षय होता ही है जो जीवन के लिए कल्याणकारी व उपादेय है। यह तो हुआ शुभयोग व सद्प्रवृत्तियों से पूर्व में अर्जित कर्मों की सामूहिक रूप में समस्त प्रकृतियों की स्थिति घटने और समस्त पाप-प्रकृतियों के अनुभाग घटने रूप समुच्चय कर्मक्षय का सिद्धांत; आगे शुभभाव के प्रभाव से प्रत्येक कर्म का क्षय कैसे होता है इस पर विचार किया जा रहा है।

कषाय में कमी या विशुद्धि रूप शुभभावों से मोह में, मोहनीय कर्म में कमी आती है जिससे आचरण में निर्मलता आती है, अर्थात् चारित्रगुण की वृद्धि होती है।

'शुभभाव' से कषाय में कमी होने के कारण विकल्पों में कमी आती है, निर्विकल्पता में वृद्धि होती है और समता पुष्ट होती है। निर्विकल्पता की वृद्धि व समता की पुष्टि से दर्शन गुण की अभिव्यक्ति, दर्शनगुण में वृद्धि व विकास होता है जिससे दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

दर्शन-गुण के विकास से तत्त्व का साक्षात्कार व विवेक का उदय होता है जिससे ज्ञान गुण का विकास होता है अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है। यह नियम है कि 'ज्ञान' दर्शनपूर्वक ही होता है। अतः दर्शन गुण जितना प्रकट होगा ज्ञान गुण भी उतना ही प्रकट होगा। दर्शन-गुण की अभिव्यक्ति की वृद्धि के बिना ज्ञानगुण की अभिव्यक्ति में वृद्धि सम्भव नहीं है।

शुभभाव से दर्शन-गुण का विकास होता है। दर्शन-गुण के विकास से स्व-संवेदनशक्ति का विकास होता है। संवेदन-शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के विकास से जड़ता मिटती है जिससे वेदना के अनुभव की स्पष्टता बढ़ती जाती है। शुभभाव से समता पुष्ट होती है। फलतः असाता-वेदनीय का प्रभाव घटता है।

पहले कह आये हैं कि शुभ भाव से दर्शनगुण का, दर्शनगुण से स्वसंवेदन का विकास होता है। संवेदनशक्ति के विकास से अर्थात् संवेदनशक्ति के सूक्ष्म होने से स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय का विकास होता है व शरीर की क्रियाओं की संरचना होती है अर्थात् नाम कर्म से मात्र इन्द्रियों का सर्जन व निर्माण होता है जबकि दर्शनगुण से उनमें संवेदनशक्ति आती है।

कषायों की विशुद्धि से 'पर' का महत्त्व व मूल्य घटता है और स्व का महत्त्व व मूल्य बढ़ता है जिससे उच्च गोत्र का अनुभव होता है। यह बोध होता है कि 'पर' के आधार पर अपना मूल्यांकन करने से मूल्य 'पर' का होता है और अपना मूल्य घट जाता है या नहीं रहता है जिससे हीन भावना होती है। पर के आधार पर अपना मूल्यांकन न करने पर अर्थात् मद के नष्ट होने पर आत्म तुष्टि होती है जो उच्चगोत्र की द्योतक है।

यह सर्वविदित है कि भावों की विशुद्धि से शुभ आयु के अनुभाग का उत्कर्ष होता है। भावों की विशुद्धि रूप शुभभाव से दर्शन-गुणरूप स्व-संवेदन स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। संवेदन-शीलता की वृद्धि से क्रूरता मिटकर करुणाभाव की जागृति होती है। करुणा का क्रियात्मक रूप सेवा या उदारता है। उदारता 'दान' की द्योतक है। अतः शुभभाव से औदार्य या दानगुण का विकास होता है जो दानान्तराय कर्म की कमी (क्षयोपशम) का द्योतक है।

शुभभाव से आई कषाय की कमी से कामना, ममता, अहंता, कर्त्तव्यभाव, भोक्तृत्वभाव में कमी आती है। कामना की कमी से, अभाव के अनुभव में कमी होती है जो लाभान्तराय के क्षयोपशम की द्योतक है। ममता की कमी से 'परभाव' में कमी आती है एवं 'स्वभाव' की अभिव्यक्ति होती है। जिससे निज रस की अभिवृद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है, भोगेच्छा में कमी होती है। फलतः भोग के अभाव के अनुभव में कमी होती है, जो भोगान्तराय के क्षयोपशम की द्योतक है। अहंत्व में कमी आने से 'पर' के प्रति राग घटता है। राग घटने से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। रागजन्य भोग का रस विनश्वर है, परन्तु प्रेमरस नित्य नूतन रहता है, उसका बार-बार भोग किया जा सकता है जो उपभोगान्तराय के क्षयोपशम का द्योतक है। भोक्तृत्वभाव की कमी से कर्तृत्वभाव में कमी आती है तथा त्याग का सामर्थ्य आता है जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का द्योतक है।

इस प्रकार शुभभाव से मोहनीय, दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय कर्म की पाप-प्रकृतियों का क्षयोपशम व क्षय होता है साथ ही अघातीकर्म की शुभ (पुण्य)-प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्ष होता है। बंध किसी भी प्रकार का नहीं होता है क्योंकि कर्मबंध का कारण राग और द्वेष ही हैं जो अशुभ ही हैं। उनका शुभभाव में कोई स्थान ही नहीं है।

यहीं नहीं शुभभाव से अशुभ (पाप)-प्रकृतियों का संक्रमण (रूपान्तरण) शुभ (पुण्य)-प्रकृतियों में होता है। अर्थात् पाप प्रकृतियों-दुष्प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण होकर वे शुभ-प्रवृत्तियों में परिणत होती हैं तथा शुभभाव से अशुभ-प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग में अपकर्षण (कमी) होता है व शुभ-प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता है जो आत्मा के उत्कर्ष का ही द्योतक है।

शुभभाव से सर्वहितकारी प्रवृत्ति होती है जिससे सबके हृदय में शुभभाव करने वाले के प्रति प्रमोदभाव होता है व प्रसन्नता देने की भावना रहती है। इस प्रकार परस्पर में अनुराग, प्रमोद व प्रेम का आदान-प्रदान होता है जो राग गलाने में, कर्म क्षय करने में सहायक है तथा शुभभावों में जाने-अनजाने जिन व्यक्तियों का हित होता है उनके हृदय में हित करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रेम उमड़ता है तथा वे उसकी सेवा व सहायता करने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उसके संकल्प व कार्यों को सम्पन्न करने में अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहोभाग्य मानते हैं। अतः उसके सहयोग व सेवा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। यह उसके शुभभाव का अवान्तर व आनुषंगिक फल है। यह उत्कृष्ट भौतिक विकास का द्योतक है। यद्यपि शुभभाव वाले व्यक्ति को किसी से सेवा की अपेक्षा नहीं होती है। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से स्वतः होती रहती है। वह अभाव से रहित सदा ही वैभवसंपन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि कषाप की कमी रूप शुभभाव, सद्प्रवृत्तियां या क्षायोपशमिक भाव से घाती कर्मों का क्षयोपशम रूप क्षय होता है और अघाती कर्मों की शुभ-प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। कषाय के क्षय रूप शुद्धभाव व शुभयोग से चारों घाती कर्मों का क्षय हो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंत उपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व व चारित्र की उपलब्धि होती है। अर्थात् प्राणी का आध्यात्मिक व भौतिक रूप से सर्वाङ्गीण विकास होता है। फिर उसे कुछ पाना व जानना शेष नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।

सकारात्मक अहिंसा साधना है अतः इसमें महत्त्व अपने विषय-भोग एवं कषायजन्य सुखों के त्याग का है। अतः सकारात्मक अहिंसा में उन्हीं सद्प्रवृत्तियों का स्थान है जो राग, द्वेष, ममत्व, अहंत्व गलाने में सहायक हैं। इसके विपरीत जिनसे राग-द्वेष कषाय आदि बढ़े वे बाहर से भले ही सद्प्रवृत्तियां प्रतीत हों, किन्तु वस्तुतः वे सकारात्मक अहिंसा रूप नहीं है। साधक इस तथ्य को सदैव स्मरण रखकर सकारात्मक अहिंसा की समीचीन साधना करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्रीभाव

मैत्रीभाव में हृदय प्रेम-रस से ओतप्रोत रहता है। जहां मित्रता (प्रेम) का रस है वहां परमानन्द के सागर में प्रसन्नता की लहरें अठखेलियां करती रहती हैं। क्षति, पूर्ति, अपूर्ति, निवृत्ति रहित नित-नूतन रस उमड़ता रहता है। इस रस से पूरित हृदय में कामना, राग, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न नहीं होते।

मित्रता में प्रेम होता है, राग नहीं होता है। राग वहीं होता है जहां अन्य से, पर से सुख लेने की या सुख पाने की इच्छा होती है। जबकि प्रेम में अपना सुख-वितरण करने का, त्यागने का भाव होता है, सुख लेने का नहीं। मित्रता में स्वयं कष्ट पाकर भी मित्र का दुःख दूर करने का, मित्र की प्रसन्नता बढ़ाने का, मित्र का हित करने का भाव होता है। मित्र, मित्र की प्रसन्नता के लिए, हित के लिए अपने विषय सुख को त्यागने तथा कष्ट उठाने को तैयार रहता है और बदले में मित्र से लेश मात्र भी सुख पाने की चाह नहीं रखता है। मित्र में निःस्वार्थ त्याग होता है। निःस्वार्थ त्याग ही धर्म है। वही साधना है। अतः मित्रता त्याग का, धर्म का, साधना का जीता जागता रूप है।

मित्र से मित्र की सहायता किये बिना नहीं रहा जाता। मित्र भूखा प्यासा रहे और स्वयं भोजन करता रहे, मित्र रोगी रहे, कष्ट पाता रहे उसकी सेवा सुश्रुषा न करे, मित्र खड्ड में गिर जाय उसे उठावे नहीं, उसकी सहायता न करे फिर भी मित्र होने का कोई दावा करता रहे तो ऐसी मित्रता का कोई अर्थ नहीं है। इसे मित्रता कहना भूल है। ऐसी मित्रता मित्रता नहीं शत्रुता है, मित्रता का उपहास करना है, घोर क्रूरता है, अमानवीयता है, पशुता है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है।

मैत्रीभाव का नाम ही प्रेम है। जहां प्रेम है, वहाँ राग नहीं। जहां राग है वहां प्रेम नहीं। प्राणी मात्र को रस या सुख स्वभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से ही अभीष्ट है। इसका स्रोत है प्रेम, मैत्रीभाव। मैत्री या प्रेम का विकृत रूप ही राग है। राग में दूसरे से सुख पाने की इच्छा रहती है। यह नियम है कि लेने वाले से देने वाले का महत्त्व अधिक होता है। लेने वाला देने वाले से हीन होता है और देने वाला लेने वाले से महान् होता है। अतः जहां राग है, विषय-सुख का भोग है वहां हीनता है, दीनता है, पराधीनता है। इसके विपरीत प्रेम या मैत्रीभाव में दूसरों को प्रसन्नता प्रदान करने की, सेवा की, सहायता की उदात्त भावना रहती है। उदात्त भावना व उदारता से हृदय में प्रसन्नता निवास करती है। जिसके हृदय में प्रसन्नता निवास करती है उसे अन्य किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से प्रसन्नता पाने की आवश्यकता ही नहीं होती। जिसे अन्य से सुख पाने की आवश्यकता नहीं होती उसके हृदय में कामना या इच्छा की उत्पत्ति नहीं होती, अन्य से सुख लेने की, अर्थात् भोग की भावना ही नहीं होती। अतः भोग से बचने, भोग से मुक्ति पाने का उपाय है प्रेम या मैत्रीभाव। भोग से मुक्ति ही समस्त दोषों से, दुःखों से, शरीर से, संसार से मुक्ति है। यही सच्ची मुक्ति है।

जहाँ छोटे बड़े का भेद है वहां प्रेम या मित्रता नहीं हो सकती। प्रेम या मित्रता वहीं संभव है जहां समानता का भाव है। समानता में समता और समता में समानता ओतप्रोत है। समानता या समता विषमता को खा जाती है। विषमता ही समस्त द्वन्द्वों व दुःखों का कारण है। अतः विषमता के अन्त में ही समस्त द्वन्द्वों, दोषों व दुःखों का अन्त है। यही मुक्ति है। अतः मुक्ति मैत्री (प्रीति) की देन है यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा।

मैत्रीभाव का समर्थन करते हुए आवश्यकसूत्र में कहा गया है:-

'मित्ती में सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणई।'

अर्थात् मेरा किसी से वैर नहीं है, सभी प्राणियों के प्रति मित्रता है। इस सूत्र को प्रातः सायं प्रतिक्रमण करते हुए दोहराना आवश्यक कहा गया है। इस सूत्र में आगमकार "मेरा किसी जीव से वैर नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, केवल यह निषेधात्मक सूत्र देकर ही नहीं रह गये हैं अपितु इसके साथ मेरा सब जीवों के साथ मैत्रीभाव है यह विधेयात्मक सूत्र भी दिया है। यदि आगमकार को केवल अहिंसा का निषेधात्मक रूप ही अभीष्ट होता तो मेरा किसी से वैर नहीं है" इतना सा सूत्र ही पर्याप्त होता और सब जीवों के प्रति मेरी मित्रता है इस सूत्र भाग को इस सूत्र के साथ में जोड़ने की आवश्यकता ही नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार को मित्रता रूप अहिंसा का सकारात्मक पक्ष भी अभीष्ट था। कारण कि मैत्रीभाव से रहित निर्वैर भाव का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। फिर निर्वैरभाव वैर के अभाव का द्योतक रह जाता है जिसका कोई खास महत्त्व नहीं है। यदि इसे ही महत्त्व की बात मानें तो हम सब बड़े महत्त्वशाली हैं, कारण कि अनंतानंत प्राणियों के प्रति हमारा वैर नहीं है। किन्तु वैर न होने से हमारा उन प्राणियों के साथ मैत्रीभाव है यह नहीं कहा जा सकता।

निर्वैर होना अच्छी बात इसलिए है कि इससे मित्रता की पात्रता व सामर्थ्य आता है अतः मैत्रीभाव ही महत्त्वपूर्ण है। यही नहीं, मैत्रीभाव के बिना निर्वैरता टिकती ही नहीं है। कारण कि जिस हृदय में प्रेम की सरिता नहीं बहती वह हृदय शुष्क एवं नीरस होता है। नीरसता ऊब पैदा करती है। अतः सच्चे अहिंसक साधक के हृदय में सदैव यह भाव उमड़ा रहता है कि सबका भला हो, सबका मंगल हो, सबका कल्याण हो, सबका हित हो, सब सुखी रहें। यही सच्चा मैत्रीभाव है। जैसा कि सामायिक पाठ में कहा गया है "सत्त्वेषु मैत्री" अर्थात् सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रहे।

मित्रता वहाँ ही होती है जहां वैर नहीं है, प्रेम है, सहयोग की भावना है, आत्मीयता है। आत्मीयता का अर्थ है सब प्राणियों को अपने समान समझना। अतः मित्रता में समानता का व्यवहार होता है। जहां किसी से सुख पाने की इच्छा होती है वहां भोग होता है, मित्रता नहीं होती है। मित्रता वहीं होती है जहां मित्र की प्रसन्नता के लिए अपना सुख निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर दिया जाता है और उससे वह स्वयं प्रसन्न होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मित्रता आत्मीयता की द्योतक है। अतः 'मित्ती मे सव्वभूएसु' का अर्थ हुआ सब प्राणियों के प्रति आत्मीयभाव, अपनेपन का भाव अर्थात् सर्वात्मभाव। आत्मीयभाव में परायेपन का भाव नहीं रहता। सर्वात्म-भाव में कोई भी जीव पराया नहीं रहता। अतः प्राणी मात्र के प्रति सहायता का भाव होता है। वस्तुतः सक्रिय सहायता ही सेवा है। सेवा में सक्रिय सर्वहितकारी-भाव होता है। यही मैत्रीभाव है। जहां सब प्राणियों की सेवा का भाव नहीं है प्रत्युत उनके प्रति उपेक्षा का यह भाव है कि जीव दुःख पाते हैं तो पाते रहें अपनी बला से, दुःख पाते होगें अपने कर्मों से ; हमें उनसे क्या मतलब, क्या लेना देना ? ऐसा भाव जहां है और जो व्यक्ति प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, शक्ति, योग्यता का उपयोग अपने सुख-भोग के लिए करता है, वहां सर्वात्मभाव नहीं स्वार्थभाव है। जहां स्वार्थभाव है वहां मैत्रीभाव नहीं है, भोग है। भोग समस्त दोषों व दुःखों का बीज है। यद्यपि सेवा का क्रियात्मक रूप अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता के अनुसार होता है अर्थात् सीमित होता है, परन्तु सेवा का भावात्मक रूप सर्वात्म-भाव असीम होता है। सर्वात्मभाव ही सबके प्रति आत्मीयभाव या प्रेम का भाव है। यही सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है। मैत्रीभाव में प्रेम होता है। प्रेम का रस राग के रस को खा जाता है। प्रेम के रस के अभाव में राग का रस नहीं मिट सकता भले ही कोई कितने ही काल तक संयम का पालन करे, तप करे। कारण कि बिना रस के जीवन चल नहीं सकता अर्थात् नीरसतायुक्त जीवन किसी को भी रुचिकर नहीं है। जीवन में किसी न किसी प्रकार का रस तो चाहिये ही। अतः जिस जीवन में प्रेम का रस नहीं होता उसमें राग का रस अवश्य पैदा होता है। जहां राग है वहां ही समस्त दोषों की उत्पत्ति है। जहां दोष है वहां दुःख है ही, यह प्राकृतिक विधान है। इस प्रकार दुःख से छूटने का उपाय दोषों का त्याग है। दोषों के त्याग का उपाय राग का त्याग है। राग के त्याग का उपाय प्रेमभाव है। प्रेमभाव ही मैत्रीभाव है। अतः जहां सर्व प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है वहां राग का, दोषों का एवं दुःखों का निवारण स्वतः होता है, इसमें लेशमात्र भी संदेह को स्थान नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैत्रीभाव राग को तो गलाता ही है साथ ही द्वेष का भी नाश करता है। कारण कि मैत्रीभाव का विपरीत वैरभाव है। वैरभाव द्वेष का द्योतक है। अतः वैरभाव का त्याग कर मैत्री-भाव को अपनाना द्वेष को त्याग कर प्रेम को अपनाना है। इस प्रकार मैत्रीभाव राग-द्वेष का नाशक है। अतः मैत्रीभाव वीतराग साधना का, संयम का, विरति का अंग है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमाना-विनयेषु ।। तत्त्वार्थसूत्र 7.2

अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव गुणियों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखियों के प्रति करुणाभाव, और दोषियों के प्रति माध्यस्थ भाव रखना संयम में सहायक है।

इन चारों भावों में महत्त्व मैत्रीभाव का है कारण कि जिसमें मैत्रीभाव है वही गुणियों के प्रति प्रमोदभाव. दुःखियों के प्रति करुणाभाव और दोषियों के प्रति तटस्थभाव रख सकता है। अतः शेष तीनों भावों में मैत्रीभाव ओत-प्रोत है।

जहां भेद है, भिन्नता है, अलगाव है, छोटे-बड़ेपन का भाव है, वहां मैत्री नहीं है। मैत्री में दो मित्रों के बीच में अभिन्नता, अभेदता, समता, स्नेहशीलता एवं प्रेम होता है। ये ही सब गुण परमात्मा के भी हैं। अतः जहां मैत्रीभाव है, वहां परमात्म-भाव है। मित्रता और समता सहवर्ती हैं और परमात्मा समता में ही बसता है अतः दूसरे शब्दों में कहें तो मित्रता में ही परमात्मा बसता है। इसीलिए बौद्ध धर्म में मैत्री को "ब्रह्म-विहार" कहा है।

जहां स्वार्थपरता है अर्थात् अपने लिए सुख लेने की भावना है, वहां मैत्री नहीं है। मैत्री वहीं हो सकती है जहां मित्र के सुख के लिए अपने सुख का त्याग किया जाता है, मित्र की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता का भाव होता है। अपने सुखकी प्रवृत्ति ही भोग है, अपने सुख (विषय सुख) का त्याग भोग नहीं, योग है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोग ही बन्ध है या कर्मबन्ध का कारण है। योग में ही धर्म है। अतः जहां मित्रता है वहां धर्म है। मित्रता में धर्म ओत-प्रोत है।

मित्रता से उत्पन्न प्रेम राग को गलाता है। राग वहीं है जहां सुख लेने की भावना है। जहां अपने सुख के त्यागने से दूसरों की खिन्नता या दुःख को दूर करने, उनकी प्रसन्नता में प्रसन्न होने का भाव है वहां प्रेम है। प्रेम ही प्रभु का रूप है, प्रभु का स्वभाव है। अतः जहां प्रेम है वहीं प्रभु है, भगवान् है। जिसके हृदय में प्रेम नहीं उमड़ता है उसके हृदय में राग-भाव पैदा हुए बिना नहीं रहता है। जहां राग है वहीं बन्धन (कर्मबन्ध) है वहीं संसार है। राग के त्याग से ही प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। जहां राग का त्याग है, राग का अभाव है वहां वीतरागता है। जहां वीतरागता है वहां परमात्मा है। अतः जहां प्रेम है, वहां परमात्मा है। हृदय में प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव उमड़ता रहे, प्रेम का सागर लहराता रहे, यही परमतत्त्व व परमात्मत्व की प्राप्ति है। प्रेम के रस या सुख की क्षति, पूर्ति, अपूर्ति, निवृत्ति, तृप्ति, अतृप्ति कुछ नहीं होती। यह अक्षय, अव्याबाध, अनंत (प्रतिक्षण नूतन) रस सुखरूप होता है। यही परमात्मत्व की प्राप्ति की पहचान है।

मित्रता में सर्वहितकारी-भाव होता है। स्वार्थभाव या भोग-भाव का अभाव होता है। अपना पराया भेद वहीं गलता है जहां अहंभाव गलता है क्योंकि अहंभाव के रहते "मैं" रहता है। जहां "मैं" रहता है वहां भिन्नता व भेद रहता है। अतः वहां आत्मीयता या मित्रता सम्भव नहीं है। 'अहं' के गलने पर ही, अर्थात् मैं कुछ भी नहीं हूं, ऐसा 'अकिंचन भाव' होने पर ही आत्मीयता या मित्रता का भाव जगता है। जहां अहं भाव नहीं है, 'मैं' पन का अभाव है वहां कामना, ममता, भोगवृत्ति, स्वार्थभाव, मोह आदि का अभाव है। अतः मैत्रीभाव वीतरागता का द्योतक है।

जैनागम में जितनी भी सद्प्रवृत्तियां हैं उन्हें मित्र कहा है यथा -- 'अप्पा मित्तममित्तं व दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।' (उत्तरा. अ. 20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा 37) अर्थात् अपनी दुष्प्रवृत्तियां अपनी शत्रु हैं और अपनी सद्-प्रवृत्तियां अपनी मित्र हैं।" मित्र वही होता है जो हित व कल्याण करता है। यदि सद्प्रवृत्तियां लेशमात्र भी मुक्ति में बाधक होती तो आगम में इन्हें मित्र नहीं कहा जाता। इससे यह फलित होता है कि मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियां कर्म-क्षय करने वाली हैं, कर्मबन्ध करने वाली नहीं हैं। अतः दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियों को कर्मबन्ध का कारण मानना आगम-विरुद्ध है, भूल है। कर्मबन्ध रोकने वाली होने से मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियां संवररूप हैं। संवररूप होने से आत्म-विशुद्धि करने वाली हैं। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र अ. 29 सूत्र 17 में कहा है—'मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ' अर्थात् मैत्रीभाव से जीव भाव-विशुद्धि करके निर्भय हो जाता है। मैत्रीभाव भावों की विशुद्धि करने वाला एवं संवररूप होने से धर्म है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्दव

जैन-धर्म में संवर के भेदों में दस धर्म कहे गये हैं—क्षमा, आर्जव आदि। इनमें से एक धर्म है मार्दव या मृदुता। मार्दवधर्म, मद, मान या अहंकार के त्याग से ही संभव है। जैसा कि कहा गया है "कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि जो णवि कुव्वदि समणो मादव-धम्मं हवे तस्स" (भगवतीआराधना 49/154)

जो मनस्वी पुरुष, कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील आदि के विषय में थोड़ा भी मद नहीं करता है उसके मार्दव-धर्म होता है। अथवा "मृर्दाभावोमार्दवम्" अर्थात् मृदुभाव का होना मार्दव है, या यों कहें कि जहां हृदय में कोमलता है वहां मार्दव है।

जहां मद (अहंकार) है, दूसरों से अपने को उच्च समझने का भाव है वहां मृदुता नहीं, जड़ता है। जहां जड़ता है, वहां कठोरता है, वहां हृदयहीनता है। ऐसे व्यक्ति के हृदय में आत्मीयता या करुणा जग नहीं सकती है। इसके विपरीत जहां निरभिमानता है, विनम्रता है उसमें अपने को दूसरों से बड़ा समझने का भाव नहीं आता, दूसरों को भी अपने ही समान समझने का भाव जगता है जिससे वह अपने दुःख-सुख के समान ही दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव करता है।

दुःखी प्राणी के हृदय में ही करुणा जगती है जो कठोरता को मिटाकर हृदय को कोमल-मृदु बना देती है। जैसा कि कहा गया है "जिनके पैरन फटे न बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई" अर्थात् जिसकी पगथली कभी न फटी हों वह दूसरे की पगथली फटने पर चलने से कितनी पीड़ा होती है, यह नहीं जान सकता है। आशय यह है कि जिस पर दुःख आकर पड़ता है, जिसके हाथ पैर टूट जाते हैं, अन्धा, लूला, लंगड़ा हो जाता है, जिसके घाटा लग जाता है, जिसका प्रियजन मर जाता है वह ही जानता है कि दुःख कितना भयंकर होता है। हृदय टूक-टूक हुआ जाता है, चीरा जाता है। दुःख कितना असह्य होता है उसका अनुभव उसी को होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो व्यक्ति विषय-सुख में आसक्त है, उसके हृदय में जड़ता आ जाती है। वह दूसरे के दुःख का अनुभव नहीं कर पाता, उसकी संवेदन-शीलता मर जाती है। उसका हृदय कठोर हो जाता है।

जो एयर कंडीशनयुक्त उच्च अट्टालिकाओं में गर्म कपड़े पहनकर सोते हैं, उन्हें वस्त्रहीन व्यक्ति सर्दी में ठिठुर कर कैसे मरते हैं यह समझ में नहीं आ सकता। सच तो यह है कि सुख की आसक्ति सुख के भोगी को हृदयहीन बना देती है, पत्थर-हृदय बना देती है जो कि विकास में बहुत बड़ी बाधा है। दुःख कितना कष्टदायक होता है, यह दुःख की घड़ी में ही अनुभव होता है। कारण कि सुख का भोगी दुःखियों को देखते हुए भी सुख भोगता रहता है, किन्तु वह अपना हृदय कठोर किये बिना कोई सुख नहीं भोग सकता। सुख के भोगी का हृदय इतना कठोर हो जाता है कि हृदय में से उदारता निकल जाती है व मानवता लुप्त हो जाती है। इस दृष्टि से सुख का भोग करना मानव-जीवन के पतन का हेतु है। परन्तु जो दुःख से परिचित है, दुःख के अभाव से प्रभावित है वह प्राप्त सामग्री का स्वयं भोग न करके पीड़ित व्यक्तियों की पीड़ा दूर करने में उसका उपयोग करता है। उसके हृदय में प्रेम का मधुर रस उमड़ता है। माधुर्य्य ईश्वरीयगुण है जो हृदय की मृदुता में ही निवास करता है।

जिसका हृदय नवनीत के समान कोमल व मृदु नहीं है वहां धर्म नहीं है और वह धर्मात्मा नहीं है। जिससे पर-दुःख सहा न जाय वही धर्मात्मा है। दूसरों का दुःख दूर करने के लिए अपने सामर्थ्य का उपयोग करना ही कर्त्तव्य-परायणता है। जिस किसी को भी तन, धन, बुद्धि, बल, योग्यता आदि की जो भी सामग्री व सामर्थ्य मिली है वह मृत्यु के उस पार तो जा नहीं सकती। अतः वह व्यक्ति उस प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग यदि सेवा में नहीं करेगा तो विषयभोग के सुख में करेगा। जिससे नैसर्गिक विधान के अनुसार न चाहते हुए भी विवश होकर दुःख भोगना ही पड़ेगा। इस प्रकार प्राप्त सामग्री तथा सामर्थ्य का एक ही सही उपयोग रह जाता है और वह है उसे सेवा में लगाना। अतः हमें जहाँ-जहाँ दुःख दिखाई दे वहां-वहां प्राप्त सामर्थ्य को बांटते जायें। इससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन दुःखियों का दुःख हमारे हृदय में समा जायगा और सुख-भोग की कामना मिट जायगी, हृदय शुद्ध हो जायगा।

हृदय पर-पीड़ा से भरा रहे तो उसमें सुख-भोग की वासना उदित नहीं होती। दूसरों के दुःखों को अपने हृदय में धारण करने का उपाय यह है कि किसी दुःखी को देखकर उसकी स्थिति में अपने को रखकर विचारें कि जिस दुःख में यह जीव है, उसमें मैं होता तो मुझे कैसा लगता? अपने को उसी दुःखी की अवस्था में खड़ा करते ही अपने भीतर उसका चित्र अंकित हो जायगा, हृदय दुःख से द्रवित होने लगेगा, वासनाएं विगलित होने लगेंगी। परन्तु, जो मोह के प्रभाव से दुःखी होता है उसके भीतर दुःख दूर न होने पर दुर्बलता आती है। वह उद्विग्न और निराश होता है, घबराता है, लेकिन जो अपना पराया भेद किए बिना सर्वात्मभाव से पर-पीड़ा को धारण करता है, अपनाता है, उस व्यक्ति में दुर्बलता नहीं आती है, नीरसता नहीं आती है, घबराहट या बैचेनी नहीं होती है, उसमें दुःखी व्यक्ति को सहायता करने का सामर्थ्य आता है। प्रकृति भी उस सेवक की सहायता करती है, समाज भी बहुत कुछ देता है, उसे चारों ओर से सहयोग मिलता है, सम्पूर्ण जगत् उसकी सहायता करने के लिए लालायित रहता है और सहयोग देकर अपने को धन्य समझता है। तात्पर्य यह है कि हृदय परपीड़ा के दुःख से भरा रहे, जिससे स्वार्थ-परता व सुख की दासता से आई 'हृदय की जड़ता' द्रवीभूत होकर गल जाय, चिन्मयता प्रकट हो जाय। यह मुक्ति-प्राप्ति का सहज व सुलभ उपाय है।

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकारात्मक अहिंसा पर आपत्तियाँ और उनका निराकरण

1. आपत्ति—प्रवृत्तिरूप योग व क्रिया 'कर्म' की जनक है फिर वह दान, दया, परोपकार, सेवा व रक्षा करने रूप सद्प्रवृत्ति ही क्यों न हो, समस्त सद्प्रवृत्तियां कर्मबंध की ही हेतु हैं। कर्म-बंध त्याज्य है, हेय है उपादेय नहीं।

निराकरण—यह ठीक है कि प्रवृत्ति क्रियारूप होती है, परन्तु सभी क्रियाएं सकर्मक नहीं होती हैं, बहुत-सी क्रियायें अकर्मक ही हैं। कर्म-बंध करने वाली क्रिया वह है जिस क्रिया के साथ कषाय व विषय-सुख रूप फल की आशा व इच्छा लगी हो, कर्त्ता-भाव व भोक्ता-भाव हो, परन्तु जो क्रिया कर्मोदय से या निसर्गतः स्वतः होती है, जिसके साथ कर्त्ता व भोक्ता-भाव नहीं होता, जो केवल द्रष्टा व साक्षी-भाव से होती है वह क्रिया बंध का कारण नहीं होती। जैसे अघातीकर्म की उदयरूप क्रियायें कर्म-बंध करने वाली नहीं होतीं। इसीलिए उन्हें अघाती कहा है, देश घाती भी नहीं कहा। उदाहरणार्थ—वीतराग के निरन्तर मन-वचन-काया से क्रिया होती रहती है, परन्तु उनके कर्म-बंध नहीं होता, भले ही वे श्वास लें, चलें, प्रवचन दें।

यही नहीं, वीतराग केवली द्वारा दया, दान, वात्सल्य आदि प्रवृत्तियां या क्रियायें भव्य जीवों के निमित्त से स्वतः, सहज, स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं। केवली अनन्त दानी, जगत्-वत्सल हैं परंतु उनकी दया, दान आदि क्रियायें उसी प्रकार होती हैं जैसे ढोलक हाथ की थपकी के निमित्त से बोलने लगती है, उसमें करने का संकल्प नहीं होता। संकल्पपूर्वक की गई क्रिया कर्तृत्वभाव की द्योतक होती है तथा कर्म-बंध में हेतु होती है। आंख खोलते ही जगत् के अच्छे-बुरे सब पदार्थ दिखाई देते हैं, कान में इधर-उधर से शब्द सुनाई पड़ते रहते हैं, परन्तु वस्तुओं के दिखाई देने मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से या शब्द सुनाई पड़ने मात्र से कर्म-बंध नहीं होता है। कर्म-बंध होता है क्रिया के साथ रहे हुए संकल्प-विकल्प से, कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव से, राग-द्वेष-मोह रूप विषय-कषाय से। कहा भी है—

सुख-दुःख दोनों बसत हैं, ज्ञानी के घट मांहि।
गिरि सर दीसे मुकुर में, भार भीजबो नाहिं॥

अर्थात् जैसे दर्पण में पर्वत और तालाब दोनों दिखाई देते हैं परन्तु, दर्पण पर्वत से भारी नहीं होता और तालाब के जल से गीला नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानीजन के हृदय में सुख-दुःख रूप साता या असाता का वेदन (अनुभव) होता है, परन्तु उन्हें उनके कारण से कर्म-बंध नहीं होता है। आशय यह है कि क्रिया बंध का कारण नहीं है। बंध का कारण उसके साथ रहा हुआ कषाय है। अतः सद्प्रवृत्तियां त्याज्य या हेय नहीं हैं, कषाय हेय है, कषाय कर्मबंध का कारण है।

2. **आपत्ति**—सद्प्रवृत्तियां पुण्यरूप होती हैं और उनसे कर्म-बंध होता है। कर्मबंध की हेतु होने के कारण दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां मुक्ति में बाधक हैं।

निराकरण—पुण्य को कर्म-बंध का कारण मानना भूल है, कारण कि कर्म की सत्ता तभी सम्भव है जब स्थिति-बंध हो, स्थिति-बंध के अभाव में कर्म-बंध सम्भव नहीं है। स्थितिबंध कषाय से होता है। कषाय कभी भी पुण्यरूप नहीं होता, सदैव पापरूप होता है। अतः पुण्य मुक्ति-प्राप्ति में किसी भी रूप में बाधक नहीं है, प्रत्युत् मुक्ति-प्राप्ति में सहायक है। पुण्य के प्रकर्ष या उत्कर्ष से ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। पुण्यरूप विशुद्धि-लब्धि के बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सम्भव नहीं हैं और इन तीनों के अभाव में मुक्ति हो ही नहीं सकती। अतः पुण्य मुक्ति-प्राप्ति में साक्षात् व परम्परा कारण है।

यह नियम है कि पुण्य का क्षय किसी भी साधना से नहीं होता। साधना के दो मुख्य अंग हैं—संवर और निर्जरा। इन दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से पुण्य के अनुभाग का उत्कर्ष (वृद्धि) होता है, क्षय नहीं होता। पुण्य का यह उत्कृष्ट उदय सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक रहता है। सिद्ध अवस्था प्राप्ति होने पर पुण्य स्वतः उसी प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार यात्री के अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच कर अपने वाहन से उतरने पर वायुयान, रेल, कार आदि वाहन स्वतः छूट जाते हैं। उन्हें छोड़ने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न वह यात्री इन्हें त्यागने का संकल्प ही करता है। सच तो यह है कि यात्री अपने वाहन की सहायता से ही गन्तव्य स्थल या लक्ष्य तक पहुंचता है। अतः सद्प्रवृत्तियां मुक्ति में सहायक हैं, लेशमात्र भी बाधक नहीं हैं।

यदि सद्प्रवृत्तियां मुक्ति में कहीं भी, किसी भी रूप में बाधक होतीं तो जैसे मुक्ति में बाधक पाप का त्याग किया जाता है वैसे ही दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों का भी त्याग किया जाता। परन्तु, समस्त जैनागमों व उनकी टीकाओं में सद्प्रवृत्तियों या पुण्य के त्याग का न कोई पाठ ही आता है और न कोई उल्लेख ही। व्रत-ग्रहण पाप के त्याग का ही होता है, पुण्य के त्याग का व्रत नहीं लिया जाता।

जैनागमानुसार 'दुष्प्रवृत्ति' पाप व अधर्म है और सद्प्रवृत्ति पुण्य व धर्म है। जैसा कि उत्तराध्ययनसूत्र के बीसवें अध्ययन की गाथा 37 में कहा है 'अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ।' अर्थात् आत्मा की दुष्प्रवृत्तियां उसकी शत्रु हैं और सद्प्रवृत्तियां उसकी मित्र हैं। जैनधर्म-ग्रन्थों में कर्मों की संक्रमण-प्रक्रिया का अति महत्त्वपूर्ण विस्तृत वर्णन है तदनुसार यह नियम है कि जब कोई प्राणी दुष्कर्म-पाप करता है तो उसके पूर्वोपार्जित सत्ता में स्थित 'पुण्य-कर्म' पाप-कर्म में परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई सद्प्रवृत्ति करता है तो उसके पूर्वोपार्जित पाप-कर्मों का स्थिति व अनुभाग बंध का अपवर्तन हो जाता है अर्थात् पाप-कर्म घट जाता है, क्षय हो जाता है। साथ ही पाप-कर्मों का पुण्य में रूपान्तरण हो जाता है, इसे वर्तमान मनोविज्ञान में उदात्तीकरण (Sublimation) कहा जाता है। इस प्रकार दया, दान, सेवा, परोपकार, अनुकम्पा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणा, वात्सल्यरूप सद्प्रवृत्तियों से पाप-कर्मों का नियम से क्षय होता है व निर्जरा होती है। पाप के क्षय से 'मुक्ति' होती है। अतः दया, दान, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियां मुक्ति की साधन व सहायक हैं। इन्हें मुक्ति में बाधक मानना जैन-धर्म का अपालाप करना है।

यदि पुण्य को किसी भी रूप में कोई हेय माने तो उसके लिए उसका पुण्य-क्षय करना आवश्यक होगा और पुण्य का क्षय संवर-निर्जरा रूप साधना से तो होता नहीं। उल्टा उनसे पुण्य का उत्कर्ष ही होता है। अतः पुण्य-क्षय करने का एक मात्र उपाय पाप-प्रवृत्ति रह जाता है। पाप-प्रवृत्ति को पुण्य के क्षय के उपाय के रूप में ग्रहण करना मुक्ति में बाधक ही होगा।

यही नहीं पुण्य पूर्णरूप से अघाती कर्म है अर्थात् इससे जीव-के किसी भी निज गुण का लेशमात्र भी घात नहीं होता। जिससे जीव के किसी भी गुण को किंचित् भी हानि नहीं पहुंचती, उसे मुक्ति में बाधक मानना न युक्तियुक्त है और न समुचित ही।

3. **आपत्ति** सद्प्रवृत्तियां पुण्यरूप होती हैं। पुण्य धर्म नहीं होता और धर्म के बिना मुक्ति नहीं मिलती।

निराकरण—सद्प्रवृत्तियां पुण्यरूप भी होती हैं और धर्म रूप भी। यही नहीं पुण्य और धर्म सहचर हैं, अतः जहां धर्म होगा वहां पुण्य होगा ही। पुण्यहीन कभी धर्मात्मा नहीं हो सकता। धर्म के साथ पुण्य उसी प्रकार जुड़ा हुआ है जैसे काया के साथ छाया। धर्म और पुण्य को अलग करके नहीं देखा जा सकता। कारण कि सद्प्रवृत्तियां रूप सद्गुणों के दो पहलू हैं—(1) भावात्मक और (2) क्रियात्मक। सद्प्रवृत्तियों का भावात्मक पक्ष है अपने राग-द्वेष, विषय-कषायजन्य सुख का त्याग करना। त्याग में ही धर्म है अतः सद्प्रवृत्तियों का भावात्मक रूप धर्म है। सद्गुणों का क्रियात्मक-रूप है दया, दान, सेवा, वात्सल्य आदि की प्रवृत्ति करना। इसी क्रियात्मक रूप को पुण्य कहा जाता है। ये दोनों पक्ष एक सिक्के के दो समान पहलू हैं जिन्हें एक-दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ पुण्य होगा ही और जहां पुण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होगा वहां धर्म होगा ही। क्योंकि पुण्य कहा ही उसे जाता है जो आत्मा को पवित्र करे और वही धर्म है। उसे अधर्म कदापि नहीं कहा जा सकता। इसीलिए जैनागम में दया, दान, करुणा, सेवा (वैयावृत्य), वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियों को धर्म कहा है।

दान, दया आदि समस्त सद्प्रवृत्तियां सद्गुण हैं। सद्गुण स्वभाव होता है, विभाव नहीं। स्वभाव धर्म होता है अधर्म नहीं। यदि स्वभाव को ही धर्म न माना जाय तो धर्म का अभाव हो जायगा।

4. **आपत्ति**—दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों में एकेन्द्रिय व हलते-चलते जीवों की हिंसा होती है। हिंसा पाप है, कर्म-बंध का कारण है। अतः सद्प्रवृत्तियां साधक के लिए त्याज्य हैं।

निराकरण—पुण्य या धर्मरूप सद्प्रवृत्तियों से एकेन्द्रिय जीवों की जो मृत्यु होती है वह अनायास होती है। वह किसी भी प्रकार के आयास या प्रयासपूर्वक की नहीं जाती है। हिंसा आदि पाप-बंध का कारण करण और योग ये दोनों हैं। इन दोनों के मिलने से पाप-बंध होता है, अकेले करण या अकेले योग से नहीं। अतः जिस प्रवृत्ति में करण और योग होते हैं वह बंध का कारण होती है। यदि बिना करण (करना-कराना, अनुमोदन) के ही बंध माना जाय तो वीत-राग के भी श्वास लेने, चलने-फिरने, बैठने-उठने आदि प्रवृत्तियों व क्रियाओं में वायुकाय आदि एकेन्द्रिय की व त्रसकाय की हिंसा होती रहती है अतः उससे उनके भी कर्म-बंध होने चाहिए, परन्तु उनके बंध नहीं होता क्योंकि जब तक किसी भी क्रिया के साथ कर्तृत्व-भाव रूप करना, कराना व अनुमोदन रूप कारण न हो तब तक बंध सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दान, दया, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों में हिंसा करने, कराने व अनुमोदन का लेशमात्र भी भाव नहीं होता है। अतः वह पाप रूप व कर्म-बंध का करण नहीं है। इसीलिए साधु द्वारा खाने-पीने, चलने-फिरने, श्वास लेने आदि क्रियाओं में त्रस-स्थावर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवों की मृत्यु या हिंसा होने पर भी उनका हिंसा-विरमण रूप अहिंसा महाव्रत तीन करण व तीन योग से माना गया है। उनके हिंसा के त्याग का व्रत भी तीन करण, तीन योग से होता है और स्थावर जीवों के मरने पर भी उनका अहिंसा महाव्रत खण्डित नहीं होता है क्योंकि साधु व वीतरागी के द्वारा जीवों की हिंसा होती है, पर वे हिंसा करते नहीं हैं। उनका लक्ष्य तो प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ सर्व जीवों की रक्षा व हित का ही रहता है, किसी भी जीव की हिंसा व अहित करने का लक्ष्य नहीं होता है। अतः सद्प्रवृत्तियों में हिंसा का पाप नहीं लगता व कर्मबंध नहीं होता है।

5. **आपत्ति**—दान, दया आदि के द्वारा जिस जीव की रक्षा की जाती है वह जीव जीवित रहकर भविष्य में संसार में पाप प्रवृत्ति करता है। इससे रक्षा करने वाला अनुमोदन-रूप पाप का भागीदार होता है। पाप त्याज्य होता है। अतः दान, दया आदि से जीवों की रक्षा करना पाप है व त्याज्य है।

निराकरण—उपर्युक्त युक्ति सर्वथा तथ्यहीन है। कारण कि रक्षा करने वाले का यह भाव कदापि नहीं होता कि वह जीव बचकर पाप करे। यदि किसी जीव के बचने पर उनके द्वारा आगे होने वाले पाप का कारण उसके रक्षक को माना जाय तो वीतराग को छोड़कर शेष सब जीव पाप करते हैं। उनके माता-पिता, भाई-बहिन मित्र, परिजन आदि भी बचकर पाप करेंगे, यहां तक कि साधु भी दसवें गुणस्थान तक पाप कर्मों का बंध करता है अर्थात् पाप करता है। अतः अपने माता-पिता आदि परिजनों की सेवा करना व साधु को दान आदि देना उन्हें भूख-प्यास आदि से बचाना, पाप बंध का ही कारण होगा, अधर्म होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई किसी को भी बचाए तो उस बचाने वाले को पाप ही लगेगा। इस प्रकार दया, दान द्वारा किसी की भी सेवा करना, उसे भूख-प्यास से बचाना पाप का कारण होने से त्याज्य ही होगा।

इस मान्यता के अनुसार तो दया, दान आदि धर्म का ही लोप हो जायगा। चारों ओर सर्वत्र घोर हिंसा व निर्दयता का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्राज्य हो जायगा और किसी भी प्राणी का जीवित रहना दूभर हो जायगा। यहां तक कि किसी से स्वयं अपनी रक्षा, सहायता व सेवा करने की अपेक्षा करना भी पाप को बढ़ावा देने का ही कारण होगा जो घोर अमानवता, पशुता, दानवता है। कितने आश्चर्य की बात है कि पाप कोई दूसरा ही करे और उसका फल दूसरे व्यक्ति को बिना पाप किये ही मिले अर्थात् करे कोई भरे कोई, हत्या करे कोई और फांसी दूसरे को मिले। यह कर्म-सिद्धान्त व आगम के विपरीत तो है ही, साथ ही साथ विधि व्यवहार-विरुद्ध भी है। अतः सर्वथा त्याज्य है।

किसी भी जीव को बचाये जाने का फल उस बचाये गए जीव का बचना है अर्थात् जीवित रहना है अतः जो लोग किसी जीव को बचाने में एकान्त पाप मानते हैं उनके लिए तो इतना ही कहना काफी होगा कि उनके सिद्धान्तानुसार किसी भी जीव का या उनका स्वयं बचा रहना, जीवित रहना भी पाप का ही फल है। अतः जो किसी जीव को बचाने-उसकी रक्षा करने में पाप मानते हैं, उन्हे स्वयं को बचे रहने का, जीवित रहने का अधिकार ही नहीं है। किसी मरते हुए जीव को भोजन, जल आदि देकर बचाने को या उसके दुःख को दूर करने को, सेवा करने व सहायता पहुँचाने को पाप या त्याज्य मानना मानवता, व्यावहारिकता, बुद्धिमत्ता आदि सभी पक्षों से घोर विरुद्ध है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

उपर्युक्त मान्यता इसलिए भी तथ्यहीन है कि जीवों की रक्षा करने वाले की लेशमात्र भी यह भावना नहीं होती कि कोई जीव बचकर हिंसा, झूठ, चोरी, शोषण आदि दुष्प्रवृत्तियां करे व राग-द्वेष, कषाय, मोह का सेवन करे क्योंकि वह तो स्वयं ही इन दुष्प्रवृत्तियों व पापों को बुरा समझता है तथा इनके त्यागने में अपना हित मानता है। यह नियम है कि जो जिसे बुरा समझता है उसकी भावना सदैव यही रहती है कि वह बचने वाला प्राणी या व्यक्ति भी इन दुष्प्रवृत्तियों व बुराइयों से बचकर अपना हित करे। पाप का अनुमोदन तो तब होता है जब पाप-कर्म या क्रिया को अच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझा जाय। अतः सद्प्रवृत्तियों से पाप का अनुमोदन होता है, यह मानना भूल है।

6. **आपत्ति**—सकारात्मक अहिंसा के विरोध में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव "जीव" है, सभी जीव समान हैं। अतः किसी भी जीव को मारा जाय, उसका पाप समान ही लगेगा, भिन्न नहीं। अतः एक जीव को बचाने के लिए असंख्यात-अनन्त निरपराध जीवों की हिंसा करना कहां तक उचित व न्यायसंगत है ?

निराकरण—इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि "सब जीवों को या किसी भी जीव को मारने में समान पाप लगता है, यह मान्यता भूल भरी है। कारण कि पृथ्वीकाय के एक कण में, जलकाय की एक बूंद में असंख्यात जीव होते हैं और वनस्पतिकाय व निगोद में सूई के अग्र भाग जितने स्थान में असंख्यात् व अनन्त जीव होते हैं। अतः हमारे व वीतराग के प्रत्येक श्वास में असंख्यात वायुकाय के जीवों की हत्या हो रही है, जल की एक घूंट में, वनस्पति के उपयोग में असंख्यात अनन्त जीवों का प्राणान्त हो रहा है। इन जीवों में से प्रत्येक जीव की हिंसा को मनुष्य की हत्या के समान माना जाय तो हम प्रति क्षण असंख्यात मनुष्यों की हत्या का पाप कर रहे हैं जो विद्यमान समस्त मनुष्यों की संख्या से असंख्यात गुण हैं। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार कोई इन सब मनुष्यों की हत्या भी कर दे तो यह हत्या का पाप एक घूँट के जलकाय के जीवों की हत्या से कम ही होगा। महाभारत जैसे हजारों-लाखों युद्धों की हत्या का पाप भी एक श्वास लेने में मरे जीवों से कम ही होगा। इस मान्यता के फलस्वरूप अपने स्वार्थ के लिए हजारों मनुष्यों की हत्या करने में भी संकोच नहीं होगा कारण कि उसका पाप एक घूँट जल के पाप से कम ही होगा। अतः यह मान्यता भयंकर हत्या को प्रोत्साहन देने वाली तथा अनाचार-अत्याचार की पोषक है।

अतः उपर्युक्त मान्यताओं को मानना आगम, कर्म-सिद्धान्त व्यवहार, संविधान, न्याय-नीति-नियम व युक्ति आदि से विरुद्ध ही है व अहिंसा का उपहास ही है। अतः यह मान्यता सर्वथा आधारहीन और कपोल-कल्पित ही है। प्राचीनकाल में "हस्तितापस"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम का एक पंथ था जो इसी मान्यता को स्वीकार करता था। इस पंथ के अनुयायी अनेक व असंख्य जीवों की हिंसा से बचने के लिए एक हाथी को मारकर लम्बे समय तक उसे खाते रहते थे और अपने को अहिंसक मानते थे तथा इस मत या सिद्धान्त को नहीं मानने वालों को हिंसक मानते थे।

वास्तविकता तो यह है कि जीव तो अजर-अमर-अविनाशी है अतः जीव का विनाश होता ही नहीं। विनाश होता है—कान, नयन, नाक आदि इन्द्रियों व तन-मन-वचन आदि प्राण शक्तियों का। इसीलिए जैनागमों में हिंसा के स्थान पर प्राणातिपात अर्थात् प्राणों का हनन करना शब्द आया है और अणुव्रत या महाव्रत की प्रतिज्ञा भी प्राणातिपात विरमण की ही ली जाती है जो सार्थक व उचित ही है। यह नियम है कि जिस जीव में जितनी अधिक प्राण-शक्ति है वह उतना ही अधिक विकसित प्राणी है। उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात (हिंसा) है। एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि से द्वीन्द्रिय जीव लट, केंचुआ आदि की प्राण-शक्ति (संवेदन-शीलता) अनन्त-गुणी है इसीलिए इन्हें एकेन्द्रिय से अनन्तगुणा पुण्य-वान माना है। अतः इनकी हिंसा में एकेन्द्रिय जीव के प्राणातिपात से अनन्तगुण प्राणातिपात होता है—हिंसा होती है, पाप होता है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में यही आशय प्रकट किया गया है, यथा–'एगं इसिं हणमाणे अणंते जीवे हणइ' अर्थात् एक ऋषि को मारता हुआ अनन्त जीवों को मारता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय चींटी आदि, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी-मनुष्य आदि क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणी अधिक प्राण-शक्ति वाले हैं, पुण्यात्मा हैं। अतः उनके हनन में क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणा अधिक प्राणातिपात होता है, अनन्त-अनन्त गुणी अधिक हिंसा होती है या पाप लगता है। अतः सब जीवों के मारने में समान पाप लगता है, समान हिंसा है, यह मानना भयंकर भूल है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ऊपर दिए गए क्रम में जीवों की रक्षा करने, दया करने में क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है। अतः पशु-पक्षी, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय प्राणियों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्न-जल देकर भूख प्यास से मरने से बचाने, इनकी सेवा करने में अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है और इनके मारने में अनन्त गुणा पाप व अधर्म है। इनकी रक्षा या सेवा में पाप या हिंसा मानना धर्म को पाप मानना है जो घोर मिथ्यात्व है।

तात्पर्य यह है कि सब जीवों के मारने में समान पाप या हिंसा नहीं है। बल्कि जो प्राणी जितना अधिक प्राणवान् है उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात है, हिंसा है, पाप है, आत्म-पतन है और उसकी रक्षा में, दया में सहायता में उतना ही अधिक धर्म है, पुण्य है, आत्मा का उत्थान है।

7. **आपत्ति**—कोई जीव किसी दूसरे जीव को कष्ट दे रहा है या मार रहा है तो ऐसी स्थिति में जिसे कष्ट दिया जा रहा है—मारा जा रहा है उसे बचाने से जो जीव अपने सुख के लिए उसे कष्ट दे रहा है, मार रहा है उस जीव को आघात लगता है, दुःख होता है। अतः यह हिंसा है।

निराकरण—इस सम्बन्ध में विचारने से ऐसा लगता है कि किसी जीव को कष्ट होना हिंसा नहीं है। जैसे एक डॉक्टर पेट का ऑपरेशन करने के लिए किसी रोगी का पेट छुरी से काटता है और एक डाकू धन लूटने के लिए किसी व्यक्ति के पेट में छुरा घोंपता है। बाहरी दृष्टि से दोनों घटनायें एक सी हैं, दोनों का काम एकसा है, परन्तु आन्तरिक दृष्टि में बहुत अन्तर है। डॉक्टर द्वारा छुरे से रोगी का पेट चीरना और उससे रोगी को कष्ट होना या मर जाना, हिंसा नहीं कहा जा सकता। कारण कि डॉक्टर की भावना रोगी के हित में होती है और डाकू द्वारा व्यक्ति का पेट चीरना हिंसा है क्योंकि डाकू की भावना व्यक्ति का हित करने की नहीं, अहित करने की है। किसी प्राणी के हित के लिए किया गया कार्य मैत्री है, सेवा है, दया व अहिंसा है अतः पेट में छुरा घोंपने का डॉक्टर का कार्य हित-कारक होने से अहिंसा व दया है तथा डाकू का कार्य अहित का हेतु होने से हिंसा व पाप है।

8. **आपत्ति**—कोई व्यक्ति किसी जीव को मार रहा है उससे उस मरने वाले जीव को बचाया जाता है तो जिस जीव को बचाया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है उसके प्रति राग और मारने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष पाप हैं। अतः किसी जीव को बचाने का कार्य पाप है, पाप से बचने में ही धर्म है।

निराकरण—कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है तो मरते हुए जीव को बचाने में न तो जिस जीव को बचाया जा रहा है उसके प्रति राग है और न जिससे बचाया जा रहा है उसके प्रति द्वेष है। बल्कि दोनों ही के प्रति हित की भावना है अर्थात् मैत्री-भावना है, वात्सल्य-भाव है। कारण कि राग-द्वेष या कषाय वहीं होता है जहां विषय-सुख का भोगरूप स्वार्थ-भाव हो। अपने इन्द्रिय-विषय के सुख-भोग के लिए किसी व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति आकर्षण होना राग है और राग की पूर्ति में बाधा पहुंचने में रोष का उत्पन्न होना द्वेष है। राग-द्वेष, मोह या कषाय की उत्पत्ति भोग की इच्छा व स्वार्थपरता से ही होती है। किसी जीव को बचाने में राग-द्वेष व हिंसा नहीं होती है। राग तो तब होता है जब जिस जीव को बचाया जा रहा है उससे सुख भोगने की या स्वार्थपूर्ति की लालसा हो और द्वेष तब होता है जब हत्यारे के प्रति अहित की भावना हो। बचाने वाले के हृदय में किसी प्रकार का स्वार्थ न होने से उसमें राग-द्वेष दोनों ही नहीं होते, वह तो दोनों ही प्राणियों का हित चाहता है। उसकी भावना किसी को भी कष्ट देने की, आघात पहुंचाने की, अहित करने की नहीं होती है। सभी का भला या हित करने की होती है। उसका सब के प्रति मैत्री-भाव होता है।

यथार्थता तो यह है कि मरते हुए जीव को बचाने वाले के हृदय में जो उस जीव को मार रहा है उसके प्रति द्वेष नहीं होता है। यदि उसके प्रति द्वेष होता तो जीव को कोई अन्य व्यक्ति उसे मारे या कष्ट पहुंचाये तो उसे बचाने की भावना नहीं होती, परन्तु दयावान् व्यक्ति उसे भी मरने व कष्ट से बचाने का पूरा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जिस जीव को बचाया गया है यदि उसके प्रति राग होता तो वह बचाया गया जीव अन्य किसी जीव को मारता है या कष्ट पहुंचाता है तो उसकी इच्छा पूरी करने दी जाती,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु दयावान् व्यक्ति उसे भी ऐसा करने से रोकता है। अतः दयावान् व्यक्ति के हृदय में मारने वाले व मरने वाले प्राणियों के प्रति राग-द्वेष नहीं होता है क्योंकि प्रथम तो वह दोनों से अपना विषय कषायजन्य सुख नहीं चाहता है, दूसरा उसकी दोनों के प्रति हितकारी मैत्री-भावना होती है। इस प्रकार हिंसक को हिंसा करने से बचाने में न तो जिसकी हिंसा की जा रही है उसी का अहित है और न जो हिंसा कर रहा है उसका अहित है और न बचाने वाले का अहित है प्रत्युत सभी का हित है, सभी का भला है, लाभ है, अहित या हानि किसी की भी लेशमात्र भी नहीं है। किसी जीव को हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियों से, पापों से बचाने में किसी का भी अहित नहीं है। जिसमें सभी का हित है, वह अहिंसा है। उसे हिंसा मानना भयंकर भूल है।

जिनकी यह मान्यता है कि किसी जीव पर दया, उसकी रक्षा करने, मरने या कष्ट से बचाने में राग-द्वेष होता है अतः यह पाप है, धर्म नहीं है, हिंसा है, अहिंसा नहीं है। ऐसी मान्यता वाले व्यक्ति को कोई मरने, पीड़ा से, कष्ट से, दुःख से बचावे, रक्षा व सहायता करे तो वह उसके इस कार्य को भला समझता है या बुरा? यदि बुरा या पाप समझता है तो उसे उसकी सहायता नहीं लेना चाहिये। और उससे यह प्रार्थना या निवेदन करना चाहिये कि कृपा करके हमें बचाकर आप पाप के भागी मत बनिये। परन्तु, कहीं पर भी किसी को भी ऐसा करते या कहते नहीं देखा या सुना गया है। सभी अपने को मृत्यु से, दुःख से, पीड़ा से, कष्ट से बचाने, रक्षा करने वाले को एवं उसके इस कार्य को अच्छा व भला ही समझकर स्वीकार करते हैं, निषेध नहीं करते हैं। इससे किसी भी जीव को मृत्यु, दुःख, पीड़ा आदि से बचाना, रक्षा करना, उसकी सहायता (दान) करना स्वतः अच्छा व भला सिद्ध हो जाता है। क्योंकि सत्य सिद्धांत सनातन, सार्वजनीन, सार्वकालिक, सार्वत्रिक-सार्वदेशिक होता है। अतः वह सब पर सदा-सर्वदा सर्वत्र समान रूप से लागू होता है। उसमें अपने-पराये का भेद नहीं होता है। जिसमें अपने-पराये का भेद-भाव है वहां स्वार्थपरता है—सत्यता नहीं। अपने को मृत्यु कष्ट आदि दुःखों से बचाने, रक्षा करने, सहायता करने के कारण को तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छा समझना और दूसरों के लिए इन्हीं कार्यों को बुरा समझना न तो युक्तियुक्त है, न उपयुक्त है, न उचित है, न सत्य है, न सिद्धान्त सम्मत है, मात्र भ्रमजाल है, भ्रान्ति है।

जो लोग किसी जीव को मरने या कष्ट से बचाने में पाप मानते हैं उनके लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बचाने का फल बचाये गये जीव का बचना है, जीव का यह बचना उनके सिद्धान्तानुसार पाप का फल है। अतः उनके सिद्धान्तानुसार स्वयं का बचा रहना, जीवित रहना भी पाप का ही फल मानना होगा। इससे अधिक विडम्बना क्या हो सकती हैं? किसी मरते हुए जीव को बचाने को या किसी दुःखी के दुःख दूर करने को, दुःखी की सहायता या सेवा करने को पाप या त्याज्य कहना मानवता, व्यावहारिकता, बुद्धि, युक्ति आदि सभी से घोर विरुद्ध बात है। ऐसे सिद्धान्त को विचार की कोटि में स्थान देना ही विचार-जगत् को अपमानित करना है। ऐसे सिद्धान्त पर बात या विचार करना वैसा ही लज्जास्पद है जैसा कि किसी की दी हुई गाली को पुनः अपने मुंह से दोहरा कर अपने वचन व मुंह को गंदा करना है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जो जीव को बचाने में, सहायता करने में पाप मानते हैं उनके स्वयं के बचे रहने का कोई औचित्य नहीं हैं। बचे रहने का अधिकार या औचित्य उन्हीं का है जो किसी जीव को बचाने को उचित मानते हैं।

9. **आपत्ति**—दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों में दूसरों की रक्षा करने का संकल्प होता है और संकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प होता है। संकल्प-विकल्प कर्म-बन्धन का कारण है। कर्म-बन्ध बुरा व त्याज्य होता है।

निराकरण—उपर्युक्त मान्यता निराधार हैं क्योंकि वह मान्यता संकल्प और विचार या कामना व भावना का भेद न समझने का परिणाम है। संकल्प उसे कहा जाता है जिससे अपने भोग के सुख पाने रूप फल-प्राप्ति की, स्वार्थपूर्ति की कामना या इच्छा हो और बुद्धि के द्वारा चिन्तन करना विचार या भाव है। विचार या भाव दो प्रकार का है—(1) विभाव-रूप और (2) स्वभाव-रूप।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि द्वारा भोग-प्राप्ति का व विषय-कषाय का चिन्तन करना विभाव रूप विचार है जो विकार व संकल्प का द्योतक है। इस संकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प पैदा होते हैं। ऐसा संकल्प-विकल्प आर्त्तध्यान है और कर्म-बन्ध का कारण होने से त्याज्य है।

बुद्धि द्वारा अपने हित व कल्याण का विचार या चिन्तन करना 'ज्ञान' है संकल्प नहीं, और अपने हित व कल्याण के लिए दया, दान आदि सद्प्रवृत्ति रूप आचरण करना चारित्र है। ज्ञान-चारित्र से कर्म की निर्जरा होती है, बन्ध नहीं। इन्हें संकल्प-विकल्प मानना अज्ञान है।

दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भाव-स्वभाव रूप हैं। यह नियम है कि स्वभाव में संकल्प नहीं होता, विभाव में ही संकल्प-विकल्प होता है जो आर्त्तध्यान रौद्रध्यान का द्योतक है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव तथा अनित्य, अशरण आदि अनुप्रेक्षाएं चिन्तन व तदनुरूप आचरण, संयम व धर्मध्यान है जो कर्म-क्षय का हेतु है।

तात्पर्य यह है कि दया, दान, मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियां व सद्गुण स्वभाव रूप होने से व इनमें विषय-कषाय रूप भोग की भावना न होने से ये संकल्प व विकल्परूप नहीं होते। प्रत्युत ये विवेकमय विचार-रूप ज्ञान तथा चारित्ररूप धर्म होते हैं जो मुक्ति-प्राप्ति में सहायक हैं, बाधक नहीं। संकल्प में राग, स्वार्थपरता व भोगेच्छा होती है और सद्प्रवृत्तियों में मैत्री-वात्सल्य-भाव, स्वार्थ-त्याग व सर्वहितकारी भावना होती है। उसे राग-द्वेष रूप संकल्प-विकल्प मानना व बन्ध का कारण मानना भूल है।

10. **आपत्ति**—वर्तमान में एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव संयमयापन करके तथा दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां करके अनन्त बार नवग्रैवेयक देवलोक में चला गया, परन्तु मुक्ति में नहीं गया। इसका कारण यह है कि जैसे हिंसा, झूठ आदि पाप-प्रवृत्तियों को मुक्ति-प्राप्ति में बाधक समझ कर त्याग किया उसी प्रकार सद्प्रवृत्तियों को, पुण्यकार्यों को, पुण्यकर्मों को मुक्ति में बाधक नहीं माना। इसी मिथ्यात्व के कारण वह जीव नवग्रैवेयक से आगे मुक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ओर बढ़ने से रुका रहा। मुक्ति का बाधक कारण पुण्य-कर्मों का न त्यागना ही है।

निराकरण—जैनागम के अनुसार पाप उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपवित्र हो, आत्मा को असाता का वेदन हो और पुण्य उसे कहा जाता हैं जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, आत्मा को साता का वेदन हो, दुःख उपशांत हो। जिससे आत्मा पवित्र हो, आत्मा का उत्थान हो, उसे मुक्ति में बाधक मानना जैनागमों का घोर अपमान व अनादर है। जैन-धर्म व कर्म-सिद्धान्तानुसार पुण्य की वृद्धि से पाप-कर्मों का क्षय होता है। संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग व अनुकम्पा से पुण्य का उपार्जन नियम से होता है। यदि पुण्य के उपार्जन को मुक्ति में बाधक माना जाय तो संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग व अनुकम्पा को हेय मानना होगा। पुण्यकर्म से मुक्ति पाने के लिए संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग को त्यागना होगा जबकि संयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग को ही जैनागम में मुक्ति का साधन कहा है।

अतः पुण्य मुक्ति में बाधक है यह मान्यता जैनागम और कर्म-सिद्धान्त से विपरीत है तथा घोर मिथ्यात्व की पोषक है। कर्म-सिद्धान्तानुसार जब साधक क्षपक-श्रेणी की साधना कर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करता है उसी समय पुण्य के अनुभाग का उत्कृष्ट बन्ध होता है जो मुक्ति-प्राप्ति के पूर्व अन्तिम क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है, उसमें अंश मात्र भी कमी नहीं होती है कारण कि संयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग एवं वीतराग-भाव से तो पुण्य के अनुभाग का उपार्जन होता है, क्षय होता ही नहीं है। यह नियम है कि पुण्य-प्रकृतियों के अनुभाग का क्षय संक्लेश भाव रूप पाप-प्रवृत्ति से ही होता है और वीतराग के संक्लेश भाव है ही नहीं। अतः वीतराग के पुण्य-प्रकृतियों के अनुभाग का क्षय नहीं होता है। रहा पुण्य-प्रकृत्तियों की स्थिति का क्षय, सो पुण्य-प्रकृत्तियों का स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व अघातीकर्म की। पाप-प्रकृत्तियों के स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व से कभी अधिक नहीं होता है तथा अघातीकर्म की पाप-प्रकृत्तियों की स्थिति के अपवर्त्तन व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षय के साथ पुण्य-प्रकृत्तियों की स्थिति का अपवर्त्तन व क्षय स्वतः होता ही रहता है। मुक्ति-प्राप्ति के समय और इससे पहले भी पाप-कर्मों की स्थिति के क्षय के साथ पुण्य-कर्मों की स्थिति का क्षय स्वतः होता जाता है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है। पुण्य-कर्मों की स्थिति के क्षय के लिए साधक को किसी प्रकार का पुरुषार्थ व प्रयत्न नहीं करना होता है। अतः दया, दान, करुणा, वात्सल्य-भाव आदि सद्प्रवृत्तियों को मुक्ति में बाधक मानना जैनागम व कर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध है।

यह सर्वमान्य तथ्य है, आगम-सम्मत सिद्धान्त है कि राग-द्वेष रूप कषाय ही कर्म का बीज है, कर्म के बन्ध का कारण है। राग-द्वेष कषाय मोहनीयकर्म के ही रूप हैं। मोहनीयकर्म की कोई भी प्रकृति पुण्यरूप नहीं है। सभी प्रकृतियां पापरूप ही हैं। देव, गुरु धर्म के श्रवण-मनन आदि से जो प्रसन्नता होती है वह राग नहीं, प्रमोद है, गुणीजनों को देखकर हृदय में जो प्रेम उमड़ता है वह राग नहीं, मैत्री-भाव व वात्सल्य है।

दुःखियों को देखकर हृदय द्रवित होता है वह भी राग नहीं, करुणाभाव है। उनके दुःख को दूर करने के लिए उनकी सहायता, सेवा करना अनुकम्पा है। मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य-भाव जीव का स्वभाव है इसीलिए जैनागमों में इन्हें संवर में ग्रहण किया गया है। संवर से, शुभभाव से कर्म क्षीण होते हैं, कर्म बंधते नहीं हैं। कर्म-बन्ध का कारण मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा आदि भाव व दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियां नहीं हैं, प्रत्युत इनके साथ रहा हुआ कषाय-भाव है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भावों दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों को कर्म-बन्ध का व संसार-भ्रमण का कारण मानना, स्वभाव को कर्मबन्ध व संसार-परिभ्रमण का कारण मानना है जो जैनागम के विरुद्ध हैं तथा घोर मिथ्यात्व रूप है। सारांश यह है कि हिंसा, झूठ आदि पाप-प्रवृत्तियां व असंयम ही संसार-भ्रमण के कारण हैं, दया, दान आदि सद्-प्रवृत्तियां नहीं।

पहले कह आये हैं कि अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्री, मृदुता आदि भाव स्वभाव हैं, अतः धर्म हैं। स्वभाव असीम व अनन्त होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतराग केवलज्ञानी के दान, लाभ आदि को अनन्त कहा है। यह कथन भावात्मक है। परन्तु, इनका प्रवृत्तिपरक क्रियात्मक रूप शरीर, वस्तु, परिस्थिति आदि पर निर्भर करता है, अतः सीमित होता है। यह क्रियात्मक रूप, अनुकम्पा, करुणा आदि भावों को पुष्ट करता है, राग को गलाता है। अतः प्रवृत्ति साधन रूप है साध्य रूप नहीं। क्योंकि साध्य असीम व अनन्त होता है जबकि प्रवृत्ति का अन्त होता है अतः प्रवृत्ति साध्य न होकर साधन है।

दया, दान, करुणा के क्रियात्मक रूप साधन को साध्य मान लेने पर इन क्रियाओं के प्रति कर्तृत्व-भाव व फल की आशा रूप राग पैदा होता है, जिससे इन सद्प्रवृत्तियों की पूर्ति में बाधक बनने वाले के प्रति द्वेष एवं सहायक बनने वाले के प्रति राग होता है जो साधक को लोकातीत व भावातीत नहीं होने देता। अतः सद्प्रवृत्तियां राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण न बन जाय, साधक को इसके लिए सदैव सजग रहना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां पुण्य मुक्ति में बाधक नहीं हैं, बाधक है इनके साथ रहा हुआ राग-द्वेष आदि दोष व पाप।

11. **आपत्ति**—किसी एक क्रिया के दो फल नहीं हो सकते, इसे सिद्धान्त मान कर कुछ लोग सेवा, परोपकार, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्ति रूप सकारात्मक अहिंसा पर यह आपत्ति करते है कि प्यासे प्राणी को पानी पिलाने, भूखे को भोजन कराने, रोगी की चिकित्सा करने आदि सेवा-कार्यों में जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि के असंख्य-अनन्त जीवों की हिंसा होती है। अतः ये सेवा-कार्य हिंसा हैं, पाप हैं, अधर्म हैं, असंयम हैं, कर्मबन्ध के हेतु हैं और एक कार्य के हिंसा और अहिंसा ये दो विरोधी फल न होने से ये सेवा-कार्य पुण्य, धर्म, संयम व कर्मक्षय के हेतु नहीं हो सकते।

निराकरण—यहां सर्व प्रथम यह विचार करना है कि एक क्रिया के दो फल नहीं होते, इस सिद्धान्त में कितना तथ्य है ?

प्राणी मात्र कोई न कोई क्रिया निरन्तर करता रहता है अतः निरन्तर कर्म का बन्ध होता रहता है। यह कर्मबन्ध पाप व पुण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो प्रकार से हो रहा है। प्रतिसमय ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि कर्मों की पाप-प्रकृतियों का एवं अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण शरीर आदि पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध व उदय निरन्तर हो रहा है। अर्थात् प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति से पुण्य और पाप ये दोनों फल निरन्तर हो रहे हैं। साथ ही उदय में आये कर्मों का क्षय व नवीन कर्मों का बन्ध ये दोनों फल भी सदैव हो रहे हैं। कषाय में कमी रूप विशुद्ध-भाव (पुण्य) से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होकर उनकी स्थिति में कमी होती ही है और जितना कषाय उदयरूप है उससे कर्मबन्ध भी होता ही है। श्रावक के संयमासंयम गुणस्थानक होता है अर्थात् व्रती श्रावक के संयम और असंयम दोनों युगपत् होते हैं।

दशवें गुणस्थानक तक साधुओं के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि पाप-प्रकृतियों का कर्मबन्ध निरन्तर होता है तथा श्वास लेने से साधक के वायुकाय के जीवों की हिंसा भी निरन्तर हो रही है। अतः एक क्रिया के दो फल न होने के सिद्धान्त के अनुसार दशवें गुणस्थान तक पाप होने से दूसरे फल पुण्य, धर्म, अहिंसा, संयम, कर्मक्षय आदि नहीं हो सकते। जबकि जैनागम में साधु के अहिंसा, संयम, पुण्य, धर्म, कर्मक्षय होना माना है। अतः एक क्रिया के दो फल नहीं होते हैं, यह सिद्धान्त, कर्म-सिद्धान्त व आगम के विरुद्ध है।

इसी प्रकार यह तर्क देना कि किसी भूखे-प्यासे को भोजन कराना पानी पिलाना हिंसा है। हिंसा होने से यह अहिंसा नहीं हो सकती। यह तर्क व मान्यता स्याद्वाद व विज्ञान के विरुद्ध है। कारण कि जैसे सर्दी-गर्मी, परस्पर विरोधी गुण कहे जाते हैं, परन्तु वास्तव में ये विरोधी न होकर सापेक्ष हैं।

इसी प्रकार प्राणी की प्रत्येक क्रिया हिंसा-अहिंसायुक्त होती है। उसके श्वास लेने, खाने-पीने, हिलने-चलने आदि क्रियाओं में वायुकाय व अन्य असंख्य जीवों की हिंसा निरन्तर होती रहती है। कोई जीव एक क्षण मात्र भी हिंसा रहित नहीं है तथा वह जगत् के शेष अनन्त जीवों की हिंसा नहीं कर रहा है, अतः अहिंसक भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह नियम है कि कोई भी पूर्ण हिंसक नहीं हो सकता। अहिंसा की कमी ही हिंसा है, हिंसा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः सर्दी-गर्मी की तरह हिंसा-अहिंसा भी सापेक्ष है। यही कारण है कि पाप के साथ पुण्य का बन्ध सदैव होता रहता है और साथ ही कर्मों की नैसर्गिक (अकाम) निर्जरा भी सदैव होती रहती है। इस प्रकार छद्मस्थ जीव (सरागी) की प्रत्येक क्रिया पाप, पुण्य, बन्ध और निर्जरायुक्त ही होती है। पुण्य, कषाय की मंदता या आत्म-विशुद्धि का द्योतक है। कषाय की कमी या मंदता रूप आत्म-विशुद्धि धर्म है। अतः प्रत्येक क्रिया के साथ धर्म भी सदैव होता रहता है। वस्तुतः धर्म-अधर्म, सर्दी-गर्मी की तरह सापेक्ष हैं विरोधी नहीं। धर्म की कमी अधर्म है। अधर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्राणी की प्रत्येक क्रिया आंशिक हिंसा और आंशिक अहिंसायुक्त होती है। अतः जितने अंशों में वह अहिंसक है उतने अंशों में धर्म है और जितने अंशों में हिंसक है उतना अधर्म है। वस्तुतः पानी पिलाने आदि कार्यों में जो हिंसा होती है वह अहिंसा की तुलना में नगण्य है।* अतः यह मान्यता कि जहां हिंसा है वहां अहिंसा नहीं हो सकती यह बात तथ्यहीन है। इसी प्रकार अशुभ-योग और शुभ-योग भी सापेक्ष हैं, विरोधी नहीं। दूसरे शब्दों में पुण्य-पाप भी सापेक्ष हैं। यही कारण है कि हर क्रिया में पाप-पुण्य तथा निर्जरा-बन्ध होता रहता है।

यही नहीं कर्मों का उत्कर्षण, अपकर्षण ये दोनों भी सभी प्राणियों में सदा होते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, गुण-दोष सापेक्ष है। इनमें से एक की कमी दूसरे की वृद्धि है और ये सभी संसारी प्राणियों में न्यूनाधिक रूप से सदैव विद्यमान रहते हैं।

12. आपत्ति

जीव-जीव सभी समान हैं, अतः किसी भी जीव की हत्या करने में समान पाप लगता है। इसलिए किसी भी एक जीव की सहायता करने के लिए किसी अन्य जीव की हत्या करना घोर पाप है।

---

* इसकी पुष्टि हेतु आपत्ति 12 का निराकरण द्रष्टव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निराकरण

यदि उपर्युक्त तर्क को मान्य किया जाय तो यह मानना होगा कि एक मनुष्य की हत्या करने और एक लट या चींटी व जलकाय के जीव की हत्या की हिंसा का पाप समान होगा। ऐसी स्थिति में किसी जीव की अन्य किसी प्रकार की सहायता करने की बात तो दूर रही, हम उसे जल भी नहीं पिला सकते, क्योंकि उसे जल पिलाने में असंख्यात मनुष्यों की हत्या के बराबर हिंसा होगी। यदि ऐसा माना जाय तो मनुष्य की हत्या का दण्ड फांसी दिया जाता है तो लट, कीट, मक्खी, मच्छर के मारने वाले को भी फांसी का दण्ड ही देना होगा। जो व्यक्ति पानी पीता है, उसमें असंख्यात अप्काय जीवों की हिंसा होती है, अतः उसे असंख्यात मनुष्यों की हत्या के रूप में असंख्यात बार फांसी लगनी चाहिए जो नितान्त अव्यावहारिक, असैद्धान्तिक, अमानवता, अन्याय, क्रूरता की बात होगी।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य की हत्या करने वाले को नरक का अधिकारी माना जाता है उसी प्रकार पानी पीने वालों अर्थात् अप्काय के असंख्यात जीवों की हत्या करने वाले हर जीव को एक बार पानी पीने पर भी नरक में जाना पड़ेगा।

सत्य तो यह है कि जो जीव जितना विकसित है उसकी हत्या में उतना ही अधिक पाप है। यही कारण है कि एक सामान्य व्यक्ति को मारने की अपेक्षा एक राजा, एक राजनेता, एक साधु, एक ब्राह्मण, एक राजा की हत्या में अधिक पाप माना गया है तथा सागर के अप्काय के समस्त जीवों की हत्या से एक लट (द्वीन्द्रिय) की हत्या में अधिक पाप कहा गया है, क्योंकि वह लट उनसे अनन्त-गुणा पुण्यात्मा है। इसलिए मनुष्य को जल पिलाने में जितना पुण्य होता है, जलकाय के जीवों की हिंसा का पाप उसके समक्ष नगण्य है। इसीलिए ठाणांग सूत्र के नवें ठाणे में नौ प्रकार का पुण्य कहा है। उसमें पानी पिलाने को भी पुण्य कहा है, पाप नहीं।

यह नियम है कि जो जीव जितने अधिक विकसित होते हैं, उतने ही अधिक संवेदनशील होते हैं, अतः उन्हें मारने में उतनी ही अधिक क्रूरता होती है, अर्थात् हिंसा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय खण्ड

(अन्य विद्वानों के संकलित लेख)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान का महत्त्व

☐ स्व. आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

स्वाध्याय के द्वारा स्व-पर के भेद का ज्ञान प्राप्त होता है। जिस प्रबुद्ध आत्मा को स्व तथा पर के भेद का ज्ञान प्राप्त हो गया, उसकी पौद्गलिक माया से ममता स्वतः ही कम हो जायेगी। भौतिक सामग्री पर से ममता घटेगी, तभी व्यक्ति के अन्तर्मन में दान देने की प्रवृत्ति बलवती होगी। ममता घटेगी तभी सेवा की वृत्ति उत्पन्न होगी, क्योंकि ये सारी चीजें ममता के घटने से सम्बधित हैं। आलोचना का व्यक्ति के स्वयं के जीवन-निर्माण से सम्बन्ध है। दान का सम्बन्ध दूसरे लोगों के साथ, स्वधर्मी बन्धुओं के साथ आता है और इसमें स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण का दृष्टिकोण अधिक होता है। इसका तात्पर्यार्थ यह नहीं कि दान देते समय दानदाता द्वारा स्व-कल्याण को पूर्णतः ठुकरा दिया जाता है। ऐसा नहीं होता, क्योंकि पर-कल्याण के साथ स्व-कल्याण का अविनाभाव सम्बन्ध है। पर-कल्याण की भावना जितनी उत्कट होगी, उतना ही अधिक स्व-कल्याण स्वतः हो जायगा। जो स्व-कल्याण से विपरीत होगा वह कार्य व्यावहारिक एवं धार्मिक, किसी पक्ष में स्थान पाने योग्य नहीं है।

दान की विशेषता

दान की यह विशेषता है कि वह स्व और पर दोनों का कल्याण करता है। दान देने की प्रवृत्ति तभी जाग्रत होगी जबकि मानव के मन में अपने स्वत्व की, अपने अधिकार की वस्तु पर से ममता हटेगी। ममत्व हटने पर जब उसके अन्तर में सामने वाले के प्रति प्रमोद बढ़ेगा, प्रीति बढ़ेगी और उसे विश्वास होगा कि इस कार्य में मेरी सम्पदा का उपयोग करना लाभकारी है, कल्याणकारी है, तभी वह अपनी सम्पदा का दान करेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान और खेती

किसान अपने घर में संचित अच्छे बीज के दानों को खेत की मिट्टी में क्यों फेंकता है ? इसीलिये कि उसे यह विश्वास है कि यह बढ़ने-बढ़ाने का रास्ता है। अपने कण को या बीज को बढ़ाने का यही माध्यम है कि उसे खेत में डाले। जब तक बीज को खेत में नहीं डालेगा तब तक वह बढ़ेगा नहीं। पेट में डाला हुआ कण तो खत्म हो जायगा, जठराग्नि से जल जायगा किन्तु, खेत में, भूमि में डाला हुआ बीज फलेगा-फूलेगा व बढ़ेगा। ठीक यही स्थिति दान की भी है। थोड़ा सा अंतर अवश्य है। बीज को खेत में फेंकने में किसान अधिक लाभ मानता है, इसलिए फेंकता है। पर हमारे धर्म-पक्ष में दान की इस तरह की स्थिति नहीं है। दान की प्रवृत्ति में जो अपने द्रव्य का दान करता है वह केवल इस भावना से ही दान नहीं करता कि उससे उसको अधिक लाभ होगा, बल्कि उसके साथ यह भावना भी है कि यह परिग्रह दुःखदायी है, इससे जितना अधिक स्नेह रखूंगा, मोह रखूंगा, यह उतना ही अधिक क्लेशवर्द्धक तथा आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान का कारण बनेगा।

दान से महती निर्जरा

स्थानांगसूत्र में श्रावक के जो तीन मनोरथ बताये गये हैं, उनमें पहले मनोरथ में परिग्रह-त्याग को महती निर्जरा का महान् कारण बताते हुए उल्लेख किया गया है— "तीहिं ठाणेहि समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ तं जहा-कयाणं अहं अप्पं वा बहुअं वा परिग्गहं परिचइस्सामि, ...एवं समणसा, सवयसा, सकायसा जागरमाणे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।"

अर्थात् तीन प्रकार के मनोरथों की मन, वचन और काया से भावना भाता हुआ श्रावक पूर्वोपार्जित कर्मों को बहुत बड़ी मात्रा में नष्ट कर भवाटवी के बहुत बड़े पथ को पार कर लेता है। वे मनोरथ इस प्रकार हैं—'अरे ! वह दिन कब होगा, जब मैं अल्प अथवा अधिकाधिक परिग्रह का परित्याग कर सकूंगा .....।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान गृहस्थ-धर्म का प्रमुख अग एवं आभूषण

स्थानांग सूत्र में जिस प्रकार श्रावक के तीनों मनोरथों का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार साधु के तीन मनोरथों का भी उल्लेख है। गृहस्थ का जीवन व्रत-प्रधान नहीं, शील-प्रधान और दान-प्रधान है। साधु का जीवन संयम-प्रधान एवं तप-प्रधान है। गृहस्थ के जीवन की शील और दान ये विशेषतायें हैं। गृहस्थ यदि शीलवान् नहीं है तो उसके जीवन की शोभा नहीं है। जिस प्रकार शीलवान् होना गृहस्थ जीवन का एक आवश्यक अंग है, उसी प्रकार अपनी संचित सम्पदा में से उचित क्षेत्र में दान देना, अपनी सम्पदा का विनिमय करना और परिग्रह का सत्पात्र में व्यय करना यह भी गृहस्थ जीवन का एक प्रमुख अंग, सुन्दर भूषण और मुख्य कर्त्तव्य है।

दान और त्याग में अन्तर

त्याग और दान में बड़ा अन्तर है। त्याग करते समय त्याग करने वाला व्यक्ति यह नहीं सोचता कि उसकी उस वस्तु का क्या उपयोग होगा, उसकी उस वस्तु को कौन, किस प्रकार काम में लेगा। साधुता ग्रहण करते समय हममें से किसी व्यक्ति ने इस बात की फिक्र नहीं की कि मेरी इस सम्पत्ति का, मेरे इस मकान का कौन उपयोग करेगा। मेरी पूँजी का कौन, किस प्रकार उपयोग करेगा—इस बात की बिना किसी प्रकार की चिन्ता किये निरपेक्ष भाव से अपना सब प्रकार का सम्बन्ध छोड़कर अपनी वस्तु से अलग हो जाना, इसका नाम त्याग है। दान में इस प्रकार की निरपेक्षता नहीं है। दान के पीछे अपने हित की और सामने वाले के हित की, प्रतिलाभ की भावना होती है। इसी कारण दान के लिए शास्त्रीय भाषा में प्रायः "पडिलाभेमाणे विहरइ" इस प्रकार का प्रयोग आता है। शास्त्रों में जहां कहीं गृहस्थ द्वारा दान दिये जाने का वर्णन आता है तो वहां दान शब्द का नहीं, अपितु प्रतिलाभ शब्द का ही प्रयोग आता है।

'दान देते हुए विचरुँ', की बजाय 'प्रतिलाभता हुआ विचरुँ'—इस प्रकार का प्रयोग अर्थात् दान के स्थान पर 'प्रतिलाभ' शब्द का प्रयोग किया गया है। दान के लिए प्रतिलाभ शब्द का प्रयोग कर 'दान' का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'त्याग' से पृथक्करण किया गया है। दान शब्द सापेक्ष है और त्याग शब्द निरपेक्ष। दान और त्याग का भेद समझने के लिए पहले दान की परिभाषा समझ लीजिए। दान की परिभाषा है—

"स्वस्वत्वभावपरिहारपूर्वकं परस्वत्वस्वीकरणं दानम्।"

अर्थात्—वस्तु पर से अपना स्वामित्व छोड़कर पराई सत्ता उत्पन्न करना, उसे दूसरे को समर्पित करना, इसका नाम दान है। जब तक किसी वस्तु पर दाता अपनी नेश्राय (स्वामित्व) की भावना कायम रखे, तब तक वह दान नहीं होता। प्रायः दान का मतलब केवल इतना ही समझा जाता है कि 'देना'। देकर उसने उस वस्तु पर से अपना ममत्व विसर्जित किया हो अथवा न किया हो, इसका विचार नहीं है। पर वास्तव में दान का जब आप सही अर्थ सोचेंगे तो आपको मालूम होगा कि दान तब तक दान नहीं है जब तक कि उसके ऊपर से अपना ममभाव विसर्जित न हो। दाता को अपनी वस्तु किसी दूसरे को दे देने के पश्चात् उस पर से ममभाव का विसर्जन करना है। ममभाव विसर्जित करके मेरेपन की भावना छोड़कर अर्थात् मेरी नेश्राय की यह चीज है, इस तरह के ममभाव को छोड़कर अपनी उस वस्तु को योग्य पात्र को दे देना, इसका नाम दान है।

सात्त्विक दान

श्रीकृष्ण ने गीता में जो दान की परिभाषा की है, वह इस प्रकार है—

दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

श्रीकृष्ण से पूछा गया कि वस्तुतः सात्त्विक दान किसे कहना चाहिए? उन्होंने कहा—"दातव्यमिति यद्दानं"।

'दान देना चाहिए' करके अगर आपने दान नहीं दिया, लेकिन 'देना पड़ेगा' यह समझकर दिया, तो यह दान वस्तुतः प्रशंसनीय दान की कोटि में आने वाला नहीं है। प्रशंसनीय कक्षा में आने वाला दान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वही दान है, जो गीता में भी बताया गया है—दातव्यमिति यद्दानम् ।

मैंने द्रव्य पाया है। मेरे पास साधन हैं। खाने, पीने, पहनने से ज्यादा चीज मेरे पास है और दूसरा जरूरतमंद है। इस क्षेत्र में मेरे द्रव्य के उपयोग की आवश्यकता है, अपेक्षा है, इसलिए मुझे देना चाहिए। मेरे पास ज्यादा है और इसके पास नहीं है, इसलिए मुझे देना चाहिए। इसमें क्या बात आयी ? 'देना चाहिए' की भावना आई। इस विचार के पीछे मन को भार है क्या ? नहीं, और देना पड़ेगा, इसके पीछे ? इसके पीछे मन को भार है। देना चाहिए इसके पीछे मन को भार नहीं है, इसलिए इस दान को महापुरुषों ने धर्म के अंग के रूप में बतलाया है। इस बात को बराबर समझकर जो अपने द्रव्य का वितरण करते रहेंगे, उनके सामने राजकीय क्षेत्र से, सामाजिक क्षेत्र से तथा अन्य किसी भी क्षेत्र से किसी भी प्रकार की जोरी करने का मौका नहीं आएगा। अमुक भाई दुःखी है, भूखा है, अभाव में है, अमुक समाज का अंग कमजोर है, अमुक संस्था कमजोर है, समाज का अमुक अंग सहायता की अपेक्षा रखता है, यह समझकर जो भाई हंसते-हंसते अपने द्रव्य पर से अपना ममत्व हटाकर दान करता है, वहां पर किसी को जोर-जबर्दस्ती करने का, अंगुली उठाने का या सताने का कोई अवसर सपने में भी नहीं आयेगा।

दान को अहसान नहीं कर्त्तव्य समझिए

प्राचीन महापुरुषों ने और धर्माचार्यों ने दान के बाबत इस चीज को गहराई से सोचा और उन्होंने कहा कि यह दान किसी पर अहसान जताने वाला भी न रहे। किसी संस्था को देना, किसी उपयुक्त पात्र को दिया जाना अथवा किसी पंडित को दिया जाना, यह उन पर अहसान नहीं है। फिर क्या है ? कर्त्तव्य है। दान को कर्त्तव्य के रूप में समझा जाना चाहिए। जब तक कर्त्तव्य रूप में प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक दान की उदारता नहीं रहेगी। उसमें मिठास नहीं रहेगा, और जब तक किसी में मिठास पैदा नहीं होता, तब तक उसमें आनन्द नहीं आता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज का आप थोड़ा निरीक्षण करेंगे तो मालूम होगा कि किसी गृहस्थ के घर में कोई विवाह का प्रसंग आया, परिवार में नये प्राणी का जन्म हुआ अथवा और कोई खास खुशी का प्रसंग उपस्थित हुआ तो इस प्रकार के आंणे-टांणे के अवसरों पर वह गृहस्थ, चाहे उसकी स्थिति अच्छी हो या कमजोर हो, कुछ नहीं देखकर, कुछ देना चाहिये, इसलिए देता है। इसी प्रकार दान का प्रसंग उपस्थित होने पर कर्त्तव्य की भावना से देने का नाम ही दान है।

दान के बढ़ते क्षेत्र

आज के युग में दान के क्षेत्र बढ़ गये हैं, जिनकी पहले आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। आज स्वधर्मी भाई को दान के संविभाग की, विधवाओं को दान के संविभाग की, बच्चों को शिक्षण-दान एवं शिक्षण उपकरण दान के संविभाग की, शिक्षण संस्थाओं के दान के संविभाग की आवश्यकताएँ रहती हैं। पहले के जमाने में ये नहीं थीं। ये नये विभाग बन गये हैं। पहले शिक्षण-संस्था का काम तो घर में माताएँ कर लेती थीं। पहले जिस तरह से समाज का संगठन था, संगठन के उस ढांचे में स्वधर्मी भाईयों और विधवाओं को देने का कुछ अवसर ही नहीं रहता था। अर्थव्यवस्था भी ऐसी ही थी। कुछ समाज-व्यवस्था भी पहले ऐसी ही थी। आज घर की माताएं एक तो शिक्षण के वैसे ढाँचे में ढली हुई नहीं होतीं, फिर शिक्षण का रूप भी कुछ भिन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त आज घर में माताओं को इधर-उधर के अन्य अनेक काम मिल गये हैं, जो पहले नहीं थे। इसलिये आज की बदलती हुई परिस्थिति में गृहस्थ-समाज को उसके अनुरूप व्यवस्था भी करनी है। स्थानकवासी समाज, या यों कहें कि सारा ही जैन समाज ऐसा समाज है, जहाँ कई अंशों में धर्म के नाम पर, साधु के नाम पर दान देने सबंधी कोई खर्च नहीं है या खर्च है तो क्या है? आपको दान किसमें देना होता है? कहीं कल्पसूत्र बंच रहा है, भगवान् के सपनों की बात हो रही है तो उन अवसरों पर बोलियां लगती हैं और उनमें कुछ देना होता है। ऐसा देना मूर्तिपूजक समाज में है, स्थानकवासी समाज में नहीं है। स्थानकवासियों के यहां अधिक से अधिक अनुकम्पा-दान, दया-दान या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान-दान के क्षेत्र मुख्य हैं। किसी दुःखी, अपाहिज, असहाय आदि को देना, यह अनुकम्पा-दान है। औषधि-दान भी एक प्रकार से अनुकम्पा दान है।

समाज के कमजोर अंग की सहायता करें

आप गृहस्थ हैं, परिग्रही हैं। अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही श्रावक हैं। श्रावक होने के नाते सदा इस बात का ध्यान रखना आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि आपकी सम्पदा का, आपके द्रव्य का इस प्रकार से उपयोग हो, जिससे समाज का कोई अंग कमजोर न रहे। क्योंकि समाज का कोई अंग कमजोर रहेगा तो पूरा समाज लड़खड़ाता हुआ चलेगा। जैसे आज जगह-जगह अहिंसा-जीवदया का काम होता है, पशु-पक्षी की बलि-निषेध का काम हो रहा है। इस क्षेत्र में काम करने वाले तन, मन, धन से काम करते हैं। करते रहना भी चाहते हैं। पर साधन न हो, सामग्री न हो तो क्या होगा ? उनका काम अटकेगा कि संस्था एवं समाज का काम अटकेगा ? काम करने वाले कमजोर होंगे कि समाज के अंग कमजोर होंगे ? किनका काम अटकेगा ? किसका अंग कमजोर होगा ? जो लोग इधर-उधर दौड़-धूप कर जीव-दया का प्रचार करते हैं, जो कई जीवों को कसाइयों के हाथों में जाने से बचा पाते हैं, जो देव-देवी के स्थानों पर होने वाली बलि से जीवों को बचाते हैं, वे लोग साधनों के अभाव में काम नहीं कर सकेंगे। शरीर का योग तो देने वाले दे रहे हैं, पर जहां अर्थ-सहयोग की आवश्यकता है, वहां वे स्वयं तो आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण द्रव्य का सहयोग दे नहीं सकते। जिनके पास द्रव्य-सहयोग देने की क्षमता तो है, पर वे शरीर का योग देने में असमर्थ हैं, ऐसी स्थिति में यदि वे द्रव्य का सहयोग भी न दें तो काम बनेगा ? नहीं बनेगा।

दान तीन तरह का है। आज सर्व सेवा संघ ने एक और प्रकार के दान का भी प्रचलन किया है। समय-दान को भी उन्होंने दान की श्रेणी में गिन लिया है। आचार्य विनोबा भावे ने कहा है कि अर्थ-दान देने वाले भी मिल जाते हैं, पर समय का दान देने वाले, समय का भोग देने वाले नहीं मिलते। उनकी दृष्टि में 'जीवनदानी' की एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणी और है। जीवन भर के लिए समय देने वाले को जीवन-दानी की श्रेणी में गिन लिया जाता है।

दान देते समय कार्य देखें किसी का चेहरा नहीं

पर जैन समाज के लोग तो व्यवसायी हैं इसलिए इस समाज में जीवनभर का समय देने वाले जीवन-दानी तो नहीं मिल पायेंगे। वे इसी में सन्तोष कर सकते हैं कि अर्थ का दान प्रचुर मात्रा में दे दें। पर कठिनाई यही है कि इसमें भी आज का दाता अनेक बातें देखता है। मुक्तहस्त अथवा खुले मन से दान देने का मानस आज भी नहीं है। इसमें भी वह सस्ता, महँगा आदि कई बातें देखता है। अगर वह कोई ऋण किसी को देता है तो यह देखेगा कि यह व्यक्ति किससे संबंधित है। किस प्रकार का है ? अपने ही मिलने-जुलने वालों का है तो सोचता है कि दे देना चाहिए। जहां तक कर्ज देने का प्रसंग है, इस तरह से देखना व्यवहार में ठीक हो सकता है। पर यही दृष्टि अगर दान में भी रखकर चलें और सोचें कि यह हमारा मिलने-जुलने वाला है इसको दे देना चाहिए, जैसी कि कहावत है—"मुँह देखकर तिलक निकालना", तो यह दृष्टिकोण अगर दान में भी रहा तो परिणाम सुखद-सुन्दर नहीं होंगे। दाता की मनोवृत्ति में वस्तुतः इस प्रकार के भाव नहीं होने चाहिए। उसे तो उपयोगिता की दृष्टि से सोचना चाहिए कि वास्तव में यह क्षेत्र "दातव्यमिति यद्दानं" के उपयुक्त है या नहीं। इस दृष्टि से यदि वह क्षेत्र उपयुक्त है तो चाहे अपरिचित ही क्यों न हो, दान दे देना चाहिए। अगर उसका इस दृष्टि से उपयोग समझ में नहीं आवे तो लेने के लिए आया हुआ चाहे अपना कितना ही अनिष्ट क्यों न हो, उसे आप स्पष्ट रूप से यह बात कह सकते हैं कि उस क्षत्र को आप उपयुक्त नहीं समझते। जो अपना व्यक्तिगत उपकार करने वाला नहीं है, उसे नहीं देना और अपना काम करने वाले को ही देना, यह तो दान की श्रेणी में नहीं आवेगा। भगवान् ने कहा है "ओ दानदाता ! दान देते समय यह मत देखना कि माँगने वाले का व्यक्तित्व क्या है, बल्कि यह देख कि काम क्या है ?" चेहरा मत देखो, काम देखो। काम क्या हो रहा है, यह देखो। काम उपयोगी है या नहीं, यह देखो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगे गीता में श्री कृष्ण ने कहा—"देशे काले च पात्रे च" उचित देश, उचित काल और उचित पात्र; देखकर जो बिना किसी लगाव के, बिना किसी प्रतिलाभ अथवा चाह के दिया जाता है—'तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्' दान वही सात्त्विक दान कहलाता है। अपने यहां राजसी, तामसी दान का तो सवाल ही नहीं है। शादी-विवाह में आपका लेनदेन होता है। एक के शादी है तो आप वहां क्या देंगे ? पूछेंगे अपने घर में कि अपने यहां शादी हुई थी, तब उन्होंने क्या दिया था ? पाटे पर 21 चढ़ाए थे और पांच अलग दिए थे। तो आप भी उसके शादी हुई तो इतना ही दोगे इतने ही चढ़ाओगे या जो भी आपकी रीति है, उसके अनुसार दोगे। यह क्या है ? यह लेने का देना है या देने का लेना है। आदान-प्रदान है। लाभ-प्रतिलाभ की प्रक्रिया है। संसार के व्यवहार में लेनदेन चलता है यह। हजारों के लेने-देने का अवसर आता है पर यह सारा आदान-प्रदान के रूप में होता है। यह व्यवहार दान है, प्रतिदान है। इसकी गिनती धर्मदान, पुण्यदान अथवा अनुकम्पा-दान में नहीं की जा सकती।

धर्म-दान किसे कहते हैं ? जहां ज्ञान की वृद्धि होती हो, वहां दान देना, स्वधर्मी भाई-बहिन दया-धर्म आदि करने वाले हैं, व्रत-नियम करने वाले हैं, अर्हत्-निर्ग्रन्थों द्वारा प्ररूपित दया-धर्म के अनुयायी हैं, पर उनकी स्थिति कुछ कमजोर है, उस कमजोर स्थिति से उनको बचाने के लिए उदारता के साथ सहयोग देना, यह धर्मदान है। पीड़ितों की दशा से द्रवित हो उनकी यथायोग्य सहायता करना, उन्हें दान देना, यह अनुकम्पा-दान है। आत्मा के लिए अनुकम्पादान, धर्म-दान और स्वधर्मी वात्सल्य अर्थात् स्वधर्मी को सहयोग देना, यह तीनों ही लाभकर हैं।

विवेकपूर्वक दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जाता

हमारे आचार्य गुरुदेव श्री शोभाचन्द्रजी म. सा. फरमाया करते थे—

दीन को दीजिए होत दयावंत, मीत को दीजिए प्रीत बढ़ावे।
सेवक को दीजिए काम करे बहु, सायर को दीजिए आदर पावे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रु को दीजिए वैर रहे नहिं, याचक को दीजिए कीरत पावे।
साधु को दीजिए मुक्ति मिले पिण, हाथ को दीधो तो एलो न जावे॥

लेकिन विवेक जरूर सब जगह हो। हर कार्य में विवेक की आवश्यकता है। चाहे तप करिए, जप करिए, सेवा करिए या दान दीजिए। हर जगह विवेक की जरूरत है। दान विवेकपूर्वक दिया जावे तो आपके परिग्रह का बोझ हल्का होगा। देने में आपके यह भाव हों कि इससे सत्कर्म की आराधना बढ़े तो इस शुभ भाव के कारण आप पुण्य का उपार्जन करेंगे। इसमें पुण्य का निश्चित ही बन्ध होगा। वस्तु से ममता हटाई तो निर्जरा भी होगी। इस दान में एक शर्त है, और वह यह कि दान देते समय भावना मलिन नहीं होनी चाहिए। किसी को नीचा या ऊंचा दिखाने के लिए दान नहीं दिया जाना चाहिए। इसने पानडी में 500 लिखाये हैं तो मैं इससे बढ़कर लिखूं तभी मेरी बात है, इस प्रकार सोचकर आपने एक हजार लिखा दिए। यह वस्तुतः दान का एक बड़ा दोष है। अपनी शक्ति के अनुसार दान देना तो ठीक है पर शक्ति नहीं है, फिर भी होड़ा होड़ में प्रतिस्पर्द्धा में उतर कर अपना नाम ऊंचा रखने के लिए दान देना, यह सही अर्थ में दान नहीं है।

केवल उमंग आ गई और समझा कि यह सहायता करने योग्य है, कमजोर है, इसकी सहायता करनी चाहिये, यह समझ कर दान देना वस्तुतः उचित दान है। इसमें अगर अपनी सामर्थ्य से कुछ अधिक भी दे दिया तो उसका लाभ है। सहजभाव से देने में पुण्य का लाभ है, निर्जरा का लाभ है, क्योंकि इससे ममता घटती है। इसलिये निर्जरार्थ और योग्य स्थान पर दान दिया जा रहा है। इस कारण पुण्य लाभ होता है। उपयोगिता समझकर विवेक के साथ अपने कर्त्तव्य और शक्ति सामर्थ्य को समझकर समाज को, व्यक्ति को अथवा देश को ऊंचा उठाने के लिए, ज्ञान दर्शन और चारित्र को ऊंचा उठाने के लिए एवं धर्म की प्रभावना के लिये जो दिया जाता है, वह सही दान है।

इस तरह धर्मदान, अनुकम्पा-दान, ज्ञान-दान, औषधिदान आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान के भेदों को समझकर विवेकपूर्वक अपनी शक्ति का, अपने द्रव्य का सदुपयोग करेंगे, अनावश्यक परिग्रह से अपनी ममता हटाएंगे तो इस लोक में भी आप हलके होंगे, परलोक में भी आप सुखी होंगे और दोनों लोकों में कल्याण के अधिकारी बनेंगे।

तीर्थंकरों द्वारा वर्षीदान

यह न सोचें कि जीवन में केवल संयम और तप ही श्रेयस्कर हैं, तथा दान की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सोचना गलत है। वस्तुतः गृहस्थ जीवन से दान का बड़ा घनिष्ठ संबंध रहता है। वस्तुतः गृहस्थ के लिए दान का बड़ा भारी महत्त्व है। आपको मालूम है परदेशी राजा ने बेले-बेले का तप करते हुए भी दानशाला खोल दी थी। जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग में दान का तिरस्कार नहीं अपितु बहुमान किया गया है। प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा लेने के पहले महान् वर्षीदान दिया करते हैं। तीर्थंकरों के लिए दान को क्यों अनिवार्य समझा गया है ? इसलिये कि समाज के लोगों को उन्हें यह परमावश्यक मार्ग बताना अभीष्ट होता है। सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रदर्शित इस दान मार्ग पर जो भी गृहस्थ विवेकपूर्वक अपने जीवन को लगायेंगे, उनका इस लोक एवं परलोक में कल्याण होगा और वे अक्षय शान्ति एवं परमानन्द के अधिकारी बनेंगे। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान में उदारता

☐ आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.

जैन-शास्त्रों में धर्म के चार अंग प्रधान कहे गये हैं। जिनमें से दान-धर्म, धर्म की पहली सीढ़ी है। दान के भेदों में भी अभय-दान और सुपात्र-दान को ही श्रेष्ठ कहा गया है। सुपात्र दान वह है, जिसका द्रव्य भी शुद्ध हो, दाता भी शुद्ध हो और पात्र भी शुद्ध हो। इन तीनों का संयोग मिलने पर महान् लाभ होता है।

द्रव्य शुद्ध हो, इस कथन का मतलब वस्तु की श्रेष्ठता नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य है कि जो द्रव्य अधःकर्मादि 16 दोषों से रहित है तथा जो मुनि महात्माओं के तप, संयम का सहायक एवं वर्द्धक है, वह द्रव्य शुद्ध होता है। दाता वह शुद्ध है, जो बिना किसी प्रति-फल की इच्छा अथवा स्वार्थ-भावना के दान देता है तथा जिसके हृदय में पात्र के प्रति श्रद्धा भक्ति है। पात्र वह शुद्ध है, जो गृह-प्रपंच को त्याग कर संयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा हो और जो संयम का पालन करने के लिए ही दान ले रहा हो। इन तीनों बातों का एकीकरण होने पर ही श्रावक इस बारहवें व्रत का लाभ पाता है। बारहवें व्रत के पाठानुसार तो व्रत की व्याख्या यहां ही पूर्ण हो जाती है, परन्तु इस व्रत का उद्देश्य केवल मुनि महात्माओं को ही दान देना नहीं है, किन्तु श्रावक के जीवन को उदार एवं विशाल बनाना भी इस व्रत का उद्देश्य है। जीवन-निर्वाह के लिए जो अत्यन्त आवश्यक है उस भोजन में से भी जब श्रावक दूसरे के लिए विभाग करता है तब दूसरी ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है, जिसमें श्रावक दूसरे का विभाग न करे। दूसरे लोग जिसके अभाव में दुःख पावें और श्रावक उसको अनावश्यक ही भण्डारों के ताले में बन्द कर रखे यह उचित नहीं है। श्रावक अपने पास के समस्त पदार्थों में से दूसरे को भाग देकर पदार्थ पर से अपना ममत्व भी उतार सकता है तथा दूसरे की भलाई भी कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक होने से पहिले वह व्यक्ति जिन भोग्योपभोग्य पदार्थों में आसक्त रहता था, ममत्वपूर्वक जिनका संग्रह करता था और जिनके लिए क्लेश, संताप एवं महान् अनर्थ करने के लिए उतारू हो जाता था, वही व्यक्ति श्रावक होने के पश्चात् उन्हीं पदार्थों को अधिकरण रूप (कर्म बन्ध का कारण) मानता है और उनसे ममत्व घटाता है तथा सचित्त सामग्री से दूसरे को सुख-सुविधा पहुंचाता है। इस प्रकार श्रावकत्व स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य की भावना भी बदल जाती है और कार्य भी बदल जाते हैं। उसकी भावना उदार हो जाती है।

आज के बहुत से श्रावक दूसरे का हित करने और दूसरे का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की दुहाई देने लगते हैं और आरम्भ, समारम्भ से बचने के नाम पर कृपणता एवं अनुदारता का व्यवहार करते हैं। लेकिन ऐसा करना बड़ी भूल है। अपने भोग-विलास एवं सुख-सुविधा के समय तो आरम्भ, समारम्भ की उपेक्षा करना और दीनों का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ लेना कैसे उचित हो सकता है ? श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवें उद्देशक में तुंगिया नगरी के श्रावकों की ऋद्धि का इस प्रकार वर्णन है—

अड्ढा, दित्ता, विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णा, बहुधणबहुजायरूवरययया आओगपयोगसम्पउत्ता, विच्छड्डियविपुल-भत्तपाणा, बहुदासीदासगोमहिसगवेलगपभूआ, बहुजणस्स अपरिभूया अभिगयजीवाजीवा जाव उसियफलिहा अभंगदुवारा।

इस पाठ से स्पष्ट है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों के यहां बहुत से दासी-दास एवं पशुओं का पालन होता था, बहुत-सा भात, पानी निपजता था और उनकी सहायता से बहुत से लोगों की आजीविका चलती थी। इस कारण उनके यहां अधिक आरम्भ, समारम्भ का होना स्वाभाविक ही है। श्रावक होकर भी उनके यहां अधिक समा-रम्भ होता था। तो क्या वे आरम्भ समारम्भ को नहीं समझते थे ? क्या आरम्भ-समारम्भ को घटाने विषयक तत्त्व को वे नहीं मानते थे?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे इस तत्त्व को न जानते रहे हों, यह सम्भव नहीं। क्योंकि उक्त वर्णन में आगे चलकर तुंगिया नगरी के श्रावकोंके लिए कहा गया है कि वे आस्रव, संवर, निर्जरा अधिकरण, बन्ध और मोक्ष, इन तत्त्वों में कुशल थे। ऐसा होते हुए भी, वे दूसरे लोगों का पालन करने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ नहीं लेते थे। क्योंकि उनमें उदारता थी, दया थी। आज के लोग शास्त्र में वर्णित बातों को पूरी तरह समझने के बदले, उनका दुरुपयोग कर डालते हैं।

श्रावक कभी अनुदार या कृपण नहीं होता। वह अपनी वस्तु का लाभ दूसरे लोगों को भी देता है। ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन में अरणक श्रावक का वर्णन है। उस वर्णन में कहा गया है कि जब अरणक श्रावक व्यापार के लिए विदेश जाने को तैयार हुआ, तब उसने अपने कुटुम्बियों एवं सजातियों को आमन्त्रित करके प्रीति-भोज कराया और फिर उनसे स्वीकृति लेकर विदा हुआ। वह अपने साथ बहुत-से उन लोगों को भी ले गया था, जो व्यापार करने की इच्छा रखते थे। समुद्र में एक देव ने अरणक को धर्म से विचलित करने के लिए उपसर्ग दिए, लेकिन अरणक अविचलित ही रहा। तब वह देव अरणक को दो जोड़े दिव्य कुण्डल के देकर चला गया। अरणक ने उन दिव्य कुण्डलों पर भी ममत्व नहीं किया, अपितु उन्हें दूसरे को भेंट कर दिया। राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार राजा प्रदेशी ने श्रावक होते ही यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं राज्य की आय के चार भाग करूंगा। जिनमें से एक भाग दानशाला में व्यय करूंगा, जिससे श्रमण, माहण आदि पथिकों को शान्ति मिला करे।

इस तरह के वर्णनों से स्पष्ट है कि श्रावक कृपण नहीं होता है, किन्तु उदार होता है। वह दूसरे की भलाई से सम्बन्धित कामों के प्रसंग पर आरम्भ समारम्भ या दूसरी कोई आड़ लेकर बचने का प्रयत्न नहीं करता है, बल्कि वह जनहित का भी वैसा ही ध्यान रखता है, जैसा ध्यान अपना या कुटुम्ब के लोगों के हित का रखता है। यही नहीं, कभी-कभी वह दूसरे की भलाई के लिए अपने आपको भी कष्ट में डाल देता है। ऐसे ही श्रावक धर्म की प्रशंसा भी कराते हैं तथा राजा प्रजा में आदर भी पाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म में दान सबसे पहला अंग है। सूत्रों में भी जहां किसी ऋद्धि, सम्पदा आदि की प्राप्ति के कारण का प्रश्न किया गया है, वहां यह प्रश्न भी किया गया है कि इस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में क्या दिया था ? व्यवहार में भी वही व्यक्ति प्रतिष्ठित माना जाता है, जो उदार है। कृपण व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता, फिर चाहे वह कैसा भी क्यों न हो। उदार व्यक्ति की कीर्ति, उस व्यक्ति के रहने पर भी अमिट रहती है। लोग प्रातःकाल उन लोगों का स्मरण विशेष रूप से करते हैं जो दान के द्वारा अपनी कीर्ति फैला गये हैं।

कहा जाता है कि राजा भोज ने एक मक्खी को पैर घिसते देखकर एक कवि से प्रश्न किया कि यह मक्खी क्या कहती है ? भोज के इस प्रश्न के उत्तर में कवि ने कहा—

देयं भोज ! धनं धनं सुकृतिभिर्नो संचयस्तस्य वै,
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधु दानभोगरहितं, नष्टं चिरात् संचितं।
निर्वाणादिति नैजपादयुगलं, घर्षन्ति यन् मक्षिकाः ॥
(चाणक्यनीति, अध्याय 11 वां)

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि "हे राजा भोज ! तुम्हारे पास जो धन है वह सुकृत में लगा दो, संचय करके न रखो। कर्ण, बलि और विक्रम की विमल कीर्ति इस भूतल पर अब तक भी इसी कारण फैली हुई है कि उन्होंने अपने पास का धन सुकृत में लगाया था। मैंने (शहद की मक्खी ने) अपना मधु द्रव्य न तो किसी को दिया, न स्वयं ही खाया। परिणाम यह हुआ कि वह मेरा चिर संचित द्रव्य नष्ट हो गया, यानि लोग लूटकर ले गये। मैं अपनी इस कृपणता के लिए पैर घिसकर पश्चात्ताप करती हूं। जो लोग मेरी तरह कृपण रहेंगे, उन्हें भी इसी प्रकार पश्चत्ताप करना पड़ेगा। क्योंकि कृपण का धन दान या भोग में नहीं लगता, किन्तु व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

धन किसी-न-किसी मार्ग से जाता जरूर है। वह एक जगह स्थिर नहीं रहता। फिर दान देकर उसका सदुपयोग क्यों न कर लिया जाय? भर्तृहरि ने कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दानं भोगो नाशस्तिस्रो, गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

अर्थात्—धन की दान, भोग और नाश ये तीन गतियाँ हैं। जो धन न दान में दिया जाता है, न भोग में लगाया जाता है, उसकी तीसरी गति अवश्यम्भावी है अर्थात् वह नष्ट हो जाता है।

दान और भोग में न आया हुआ धन जब नष्ट ही हो जाता है तब दान द्वारा उसका सदुपयोग ही करना उत्तम है। क्योंकि ऐसा न करने पर धन तो नष्ट हो ही जावेगा, तब पश्चात्ताप के सिवाय और क्या बचेगा ? इस बात को दृष्टि में रखकर ही, श्रावक के लिए उदारता रखने का उपदेश दिया जाता है। जो श्रावक इस उपदेश को कार्यान्वित करता है, वह अपनी आत्मा का भी कल्याण करता है और धर्म का महत्त्व भी फैलाता है। लोग समझने लगते हैं कि धर्मानुयायी श्रावक धन के दास नहीं होते, किन्तु धन के स्वामी होते हैं और वे धन का सदुपयोग करते हैं, उनमें कृपणता नहीं होती, किन्तु उदारता होती है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवाप्रधान मनुष्य धर्म

☐ स्व. उपाध्याय श्री अमरमुनि

1

मानव, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए अनादि-काल से संघर्ष करता आ रहा है। इस विजय यात्रा में उसे कुछ सफलताएँ भी प्राप्त हुई हैं और इससे उसके अन्तर्मन में, मिथ्या अहंकार का स्वर भी अनुगुंजित होने लगा है। किन्तु, यथार्थ दृष्टि से देखा जाए, तो प्रकृति के रहस्यों को सही रूप से समझने में वह अब भी अक्षम है एवं पंगु स्थिति में है। विजय की बात तो अभी बहुत दूर है।

मनुष्य ने अपने बौद्धिक बल से पाताल में समुद्रों की अतल नाप से कही जाने वाली गहराइयों को भी नाप लिया है और, ऊपर आकाश में देवलोक के रूप में विख्यात चन्द्रलोक पर भी विचरण करने लगा है। पौराणिक आख्यानों को इस तरह काफी उलट-पलट दिया है उसने। यह सब कुछ हुआ है और आगे भी हो रहा है, फिर भी जब प्रकृति के क्रूर प्रहार मानव पर सहसा आ पड़ते हैं, तो वह रह जाता है, हक्का-बक्का बेसहारा और लाचार, हीन और दीन।

वर्तमान वर्ष (सन् 1987 ई.) के वर्षाकाल में मनुष्य की जो बदतर हालत हुई है, वह हुई है प्रकृति के रहस्यमय प्रहारों से। राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र, मद्रास, कर्नाटक, मध्य प्रदेश आदि अनेक जन-पदों में इतना सूखा पड़ा है, कि पानी की कुछ बूंदें तक वर्षा के रूप में उपलब्ध नहीं हुई हैं। गाँवों के जलाधार कूप और तालाब भी सूख गए हैं। यहाँ तक कि कल-कल नाद करती बहने वाली कितनी ही नदियाँ भी शुष्क बालुका मात्र शेष रह गई हैं। यहाँ तक कि मनुष्य को पीने के लिए पानी उपलब्ध नहीं है, और न मूक पशुओं के लिए कहीं घास-चारा है और न पानी। सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। इस भयंकर दुःखद स्थिति से मुक्ति पाने के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी आकाशीय देवों की ओर आँखें जाती हैं और कभी सरकार तथा समाज-सेवी संस्थाओं पर। सहायता कार्य चल भी रहे हैं, परन्तु उक्त अभाव को धकेलने के लिए जब तक प्रकृति का पूरी तरह सहयोग न मिले, तब तक मनुष्य का अभीष्ट पूर्ण होना अशक्य है।

यह तो हुआ जलाभाव का एक पक्ष। दूसरी ओर बिहार, बंगाल एवं असम आदि पूर्वांचल के अनेक जन-पद जल-प्रलय से ग्रस्त हैं, अथवा त्रस्त हैं। इतना मूसलाधार पानी पड़ा है कि नदियों ने बाढ़ के रूप में वह उग्र रूप धारण कर लिया है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। अनेक गाँव जल-प्रवाह में बह गए। हजारों मकान ध्वस्त हो गए हैं, करोड़ों रुपए की खड़ी फसल पानी में डूब कर सड़-गल गई है। जान-माल की क्षति भी भयंकर हुई है। सैंकड़ों ही मनुष्यों और पशुओं के अस्तित्व तक का पता नहीं चल पा रहा है कि उनका क्या हुआ ? इसी बीच कुछ भाग्य से बचे हुए लोगों में व्याधियाँ फूट पड़ी हैं। जहाँ भूख की समस्या के हल के लिए अन्न का ही अभाव हो, वहाँ रोगों की चिकित्सा का प्रश्न ही कहाँ शेष रह जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राजतन्त्र कुछ कर नहीं रहा है तथा समाज-सेवी संस्थाएँ यह सब-कुछ देखते हुए भी आंखें बन्द किए बैठी हैं। परन्तु, संगठनों की कुछ सीमाएँ भी होती है, साथ ही निष्ठा के साथ काम करने की अपेक्षाएँ भी।

वैज्ञानिक दिव्य-दृष्टि के धनी मनीषी महानुभाव भविष्य में क्या समाधान कर सकेंगे, इन प्रकृति-प्रकोपों का ? यह तो आने वाला भविष्य ही बताएगा। समस्या वर्तमान की है। मैं चाहता हूं, चाहता ही नहीं, तन-मन के कण-कण से अपेक्षा रखता हूं कि भारतीय जनता की समग्र कर्म-चेतना पूर्ण निष्ठा के साथ जन-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो। खण्ड दृष्टि में नहीं, अखण्ड दृष्टि में समाधान है। भारत का, भारत के मनीषियों का, भारत के गुरुजनों का, चिरकाल से यह दिव्य-घोष अनुगुंजित होता आ रहा है "एक व्यक्ति का दुःख-सुख उस एक व्यक्ति का ही नहीं, किन्तु हम सबका है। हर आत्मा सुख-दुःखानुभूति का एक समान केन्द्र है। अतः अपने समान ही सबको समझना धर्म है और कुछ नहीं। अहिंसा भगवती की उपासना तथा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथित दया और करुणा के प्रचलित शब्दों में ही नहीं, अपितु उन्हें कार्यान्वित करने में है। यह समय है कि हम सबके मन की करुणा एक साथ जागृत हो। इसके सम्बन्ध में आर्हत-परम्परा के एक महा-मनीषी ने कहा था—

"दया धम्मो, दया धम्मो, दया धम्मो, दया-दया"

यदि मनुष्य के मन में करुणा है, दया है, तो धर्म है, अन्यथा क्रिया-काण्ड आदि के रूप में यत्र-तत्र एवं यद्वा-तद्वा कुछ भी किया जाता हो, तो वह धर्म नहीं है। अतः धर्म, पंथ, जाति, कुल और भौगोलिक भेदों की खण्ड रेखाओं से ऊपर उठकर हम सबको अखण्ड रूप से विपद्ग्रस्त प्रजाका मंगल-कल्याण करना है। यह हमारा धर्म है, कर्म है और है हमारी मानवता का आदर्श। इसके अभाव में मनुष्यों और पशुओं में क्या अन्तर रह जाता है ?

वर्तमान जन-जीवन की स्थिति का तकाजा है कि हमारे धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्सवों पर जो अनर्गल, अर्थहीन धन व्यय हो रहा है, उसका कण-कण बचाकर सूखा और बाढ़ की दुःस्थितियों के दुष्प्रभाव से जन-जीवन को मुक्त करने के लिए अपने प्राप्त साधनों का उपयोग किया जाए। अनेक सहस्र लोगों के रोते हुए, कुछ लोगों का हँसना, नाचना, कूदना एवं किन्हीं धार्मिक या सामाजिक उत्सवों के रूप में खुलकर मिष्ठान्न उड़ाना, पाप नहीं, तो और क्या है ? यदि समय पर स्थिति को नहीं संभाला गया, तो शासन-तन्त्र के द्वारा कितना ही बीच-बचाव किया जाए, अभावग्रस्त प्रजा में लूट-मार, हत्या आदि का दुष्चक्र का प्रसार हुए बिना न रह सकेगा "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" हमारी चिरन्तन उक्ति न कभी असत्य हुई है, और न कभी असत्य होगी।

श्रमण भगवान् महावीर ने इसी सम्बन्ध में कहा था—"आहार-ट्ठिया पाणा" अर्थात् प्राणी के प्राण आहार पर स्थित हैं और, आप जानते हैं कि प्राणों की रक्षा के लिए प्राणी कुछ भी कर्म-विकर्म-दुष्कर्म कर सकता है। यही हेतु है कि हमारे पूर्वज करुणामूर्ति ऋषियों, मुनियों ने दया-धर्म का उपदेश दिया है—"दया धर्म का मूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।" यह सन्त-वाणी शत-प्रतिशत सत्य पर आधारित है। दया, मानवता का अन्तःप्राण है। उसकी यह दिव्य-ध्वनि है कि मानव ! तुम्हें जो-कुछ प्राप्त है, उसका इधर-उधर अपेक्षित दिशा में प्रथम उपयोग करके तदनन्तर स्वयं उपभोग करो। यजुर्वेद का मन्त्र है—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" अर्थात् त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिए। तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने कहा था—"असंविभागी न हु तस्स मोक्खो" अर्थात् जो अपने आस-पास के साथियों में अपने प्राप्त साधनों का संविभाग अर्थात् उचित वितरण नहीं करता है, वह भव-बन्धन से कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् महावीर ने तो इससे आगे बढ़कर यहाँ तक कहा है—मेरी उपासना से बढ़कर भी सर्वाधिक मंगलमय उपासना अर्थात् धर्म-साधना जन-सेवा है। वही व्यक्ति धन्य है, जो पीड़ितों की सेवा करता है—

"जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने।"

कर्म-योगी भगवान् कृष्ण का गीता में उद्घोष है, कि जो दूसरे जरूरत मन्दों को न खिलाकर स्वयं ही सब-कुछ खा जाते हैं, वे पापी भोजन नहीं खाते, अपितु पाप ही खाते हैं—

"भुञ्जते ते त्वघं पापाः"

प्रस्तुत प्रसंग में भारतीय इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण स्वर्णिम उदाहरण हैं, जो स्वार्थ का परित्याग कर परमार्थ रूप पदार्थ का अर्थात् परोपकार का समुद्घोष करते हैं।

भगवान् महावीर के महान् शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम तापस परम्परा के लगभग 1500 भूखे साधकों को अपने योगबल से भोजन कराते हैं, जबकि शास्त्र में साधक के द्वारा चमत्कारों का प्रयोग एवं प्रदर्शन करना निषिद्ध है। इसका अर्थ है -अन्ततः करुणा ही सर्वोपरि धर्म है।

प्राचीन गुर्जर प्रदेश के जावड़ शाह और पेथड शाह जैसे श्रीमंत जैन श्रावकों ने अपने धन तथा अन्न के विशाल भंडार मुक्तभाव से दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता के हितार्थ अर्पित कर दिए थे और ऐश्वर्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुमेरु से नीचे उतर कर खुली धरती पर आ गए थे। फिर भी उनके इस पुण्य-प्रयोग से अन्तर्मन से आनन्द की कोई सीमा न थी।

भारतीय इतिहास में राजा रंतिदेव देवात्मा पुरुष हैं। दुर्भिक्ष के समय क्षुधा से पीड़ित उन्हें अनेक सप्ताहों के अनन्तर कुछ भोजन मिलता है और वे उस भोजन को दयार्द्र भाव से चाण्डाल जैसे अन्य बुभुक्षितों को सहर्ष अर्पण कर देते हैं। उस समय का उनका यह अमृत स्वरूप अन्न-दान आज भी जीवन्त है। उन्होंने तब सहर्ष कहा था—

"न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥"

भावार्थ है— न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग, न मोक्ष। मैं एकमात्र प्राणियों की पीड़ा को दूर करने की ही कामना करता हूं।

धर्म पुत्र युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ है। उसमें अर्ध स्वर्ण कान्ति वाला शरीर लिए एक नकुल आता है। वह शरीर की इस स्वर्ण कान्ति का रहस्य निर्दिष्ट करता है—"कई दिनों से भूखे एक ब्राह्मण परिवार को कुछ भोजन मिलता है और वह समग्र परिवार करुणा से द्रवित होकर अन्य क्षुधाक्रान्त लोगों को वह अपना समग्र भोजन सहर्ष अर्पित कर देता है। उस पुण्य गृह में भ्रमण करने से ही मेरा अर्ध शरीर स्वर्ण कान्ति से युक्त हुआ है।" संक्षेपतः उल्लिखित उक्त कथा का सार यही है कि अभावग्रस्तों की प्राणपण से सेवा करना ही महान् पुण्य है और महान् धर्म है।

साधना के पथ पर निरन्तर अग्रसर रहने वाले सन्तों ने कहा है कि भूख से अधिक भयंकर दूसरी पीड़ा कोई नहीं है। जैनाचार्यों की वाणी है—"खुहासमा वेयणा नत्थि।"

सन्त कबीर ने भी क्षुधा को भजन में भंग डालने वाली कुतिया बताया—

"कबीरा खुदाह कूकरी, करत भजन में भंग"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षियों की कोई सीमा नहीं है। सबसे महान् एवं प्रामाणिक साक्षी तो क्षुधा के सम्बन्ध में मनुष्य की अपनी अनुभूति ही है। अतः आवश्यक है कि हम वर्तमान में बाढ़ तथा सूखा-ग्रस्त अपने बन्धुओं की वेदना को समझें और उसके निवारण के लिए अपनी पूरी निष्ठा के साथ अपनी जन-धन की शक्ति का सदुपयोग करें, ताकि भविष्य का इतिहासकार यह न रेखांकित कर सके कि परमोत्कृष्ट उदात्त भारतीय-संस्कृति के उत्तराधिकारी भारतवासी जन अपने क्षुद्र स्वार्थों में ही लिप्त रहे, अपने संकट-ग्रस्त बन्धुजनों के हितार्थ कुछ भी नहीं कर सके। सावधान ! समय पर कर्त्तव्यहीनता एक महान् पाप है, एक भयंकर मृत्यु है। प्राचीनकाल से यशस्वी जनों का यों ही प्रमाद-वश तथा स्वार्थान्धता के कारण अयशस्वी हो जाना, मृत्यु से भी बढ़ कर है। श्रीकृष्ण ठीक ही कहते हैं—

"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।" (भगवद्गीता 2.34)

अधिक विस्तार में कहाँ तक जाऊँ ? प्रसंगोचित, जो कहना था, वह काफी कह दिया गया है। बुद्धिमान पाठकों को मालूम होना चाहिए मैं वृद्धावस्था में हूं और साथ ही अस्वस्थता की स्थिति में भी। अतः यह प्रस्तुत लेख काष्ठ शय्या (तखत) पर लेटे हुए लिखा रहा हूं। इस पर से समझा जा सकता है कि मेरे हृदय को पीड़ा किस सीमा तक है। अतः अन्त में मेरा यही विनम्र भाव से कहना है कि यह दुःखद समय आपकी मानवता की परीक्षा का समय है। आपके धर्म और दर्शनों की यथार्थता के प्रति एक स्पष्ट चुनौती है। मनुष्य का साम्प्रदायिक रूप से कोई भी धर्म हो सकता है, किन्तु मूल धर्म मानवता है और वह है उदात्त एवं उदार जन-कल्याण रूप भावना की ज्योति में प्रकाशमान सेवा-धर्म। प्राकृत वाङ्मय की इस समुज्ज्वल सूक्ति को बराबर स्मृति में रखिए—

"सेवापहाणो हि मणुस्सधम्मो"

—मनुष्य का धर्म सेवा प्रधान है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2

जैन-संस्कृति में सेवा-भाव

☐ स्व. उपाध्याय श्री अमरमुनि

जैन-संस्कृति की आधार-शिला प्रधानतया निवृत्ति है। अतः उसमें त्याग, वैराग्य, तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक बल दिया गया है, उतना और किसी नियम-विशेष पर नहीं। परन्तु जैन-धर्म की निवृत्ति, साधक को जन-सेवा की ओर अधिक से अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन-धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे की सेवा करे, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता तथा शक्ति हो उसी के अनुसार दूसरों के काम आए। जैन-धर्म में जीवात्मा का लक्षण[1] ही सामाजिक माना गया है, वैयक्तिक नहीं। प्रत्येक सांसारिक प्राणी अपने सीमित व्यक्ति-रूप में अपूर्ण है, उसकी पूर्णता आस-पास के समाज में और संघ में निहित है। यही कारण है कि जैन-संस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम, नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को जैन-साहित्य में धर्म[2] का रूप दिया गया है। भगवान् महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनों में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने आध्यात्मिक साधना-प्रधान जैन-धर्म की साधना का स्थान ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म के बाद ही रखा है, पहले नहीं। एक सभ्य नागरिक एवं राष्ट्र-भक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नहीं। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते, यह कैसे कहा जा सकता है कि—"जैन-धर्म एकांत निवृत्ति प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, इह-लोक नहीं।" जैन-धर्म उधार-धर्म नहीं है, अपितु नकद धर्म है। वह इस लोक और परलोक दोनों को ही शानदार बनाने की सत्प्रेरणा प्रदान करता है।

जैन-गृहस्थ जब प्रातः उठता है, तो वह तीन चीजों[3] का चिन्तन करता है। उनमें सबसे पहला संकल्प यही है कि "मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा ? वह दिन धन्य होगा, जब मेरे संग्रह का उपयोग जन-हित के लिए होगा, दीन-दुःखियों के लिए होगा।'' भगवान् महावीर का यह आघोष हमारी निद्रा भंग करने के लिए पर्याप्त है कि—'असंविभागी न हु तस्स मुक्खो।'[4] अर्थात्—'मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने संग्रह के उपभोग का अधिकारी अपने आप को ही न समझे, प्रत्युत अपने आस-पास के साथियों को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनों का स्वयं ही उपयोग करता है, उसमें से दूसरों की सेवा के लिए वह कुछ भी अर्पण नहीं करता है तो, वह अपने बन्धनों को तोड़कर कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।'

जैन-धर्म में माने गए मूल आठ कर्मों में मोहनीय-कर्म का स्थान बड़ा ही भयंकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय-कर्म के द्वारा होता है, उतना और किसी भी कर्म से नहीं। मोहनीय-कर्म के सबसे अन्तिम उग्ररूप को महा मोहनीय कहते हैं। उसके तीस भेदों में से पच्चीसवाँ भेद[5] यह है कि—'यदि आपका साथी बीमार है या किसी घोर संकट में पड़ा हुआ है, और आप उसकी सहायता या सेवा करने में समर्थ है, फिर भी यदि आप सेवा न करें और यह विचार करें कि इसने कभी मेरा काम तो किया नहीं, मैं ही इसका काम क्यों करूँ ? कष्ट पाता है, तो पाए अपनी बला से, मुझे क्या लेना देना ? भगवान् महावीर ने अपने चम्पापुरी के धर्म-प्रवचन में स्पष्टरूपेण इस सम्बन्ध में कहा है कि—'जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म से सर्वथा पतित होता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोटा-कोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र में उलझा रहता है, सत्य के प्रति अभिमुख नहीं होता।'

गृहस्थ ही नहीं, साधु वर्ग को भी सेवा-धर्म का बड़ी कठोरता से पालन करना होता है। भगवान् महावीर ने कहा है—'यदि कोई साधु अपने बीमार या संकटापन्न साथी को छोड़कर तपश्चरण करने जाता है, शास्त्र-चिंतन में संलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है, संघ में रहने योग्य नहीं है। उसे एक-सौ बीस उपवासों का प्रायश्चित लेना पड़ेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नहीं हो सकती।' इतना ही नहीं, एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गांव में कोई साधु बीमार पड़ा हो और दूसरा साधु जानता हुआ भी गाँव से बाहर ही बाहर एक गाँव से दूसरे गाँव चला जाए, रोगी की सेवा के लिए गाँव में न आए, तो वह भी महान् पाप है[6] उग्रदंड का अधिकारी है। भगवान् महावीर का कहना है—'सेवा स्वयं एक बड़ा भारी तप है।[7] अतः जब भी कभी सेवा करने का पवित्र अवसर मिले, तो उसे छोड़ना नहीं चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा आर्तों की, दीन-दुःखियों की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहता है।[8]

स्थानांग-सूत्र में भगवान् महावीर की आठ महाशिक्षाएँ बड़ी ही प्रसिद्ध हैं। उनमें पाँचवीं शिक्षा यह है—'असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हयाए अब्भुट्ठे यव्वं भावह'[9] अर्थात्, जो अनाश्रित है, निराधार है, कहीं भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नहीं पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो उसकी जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रबन्ध करो।' जैन-गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ रहता है।[10] वहाँ किसी जाति, कुल, देश या धर्म के भेद के बिना मानव-मात्र के लिए समान आदर-भाव है, आश्रयस्थान है।

एक बात और भी बड़े महत्त्व की है। भगवान् महावीर ने सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन-धर्म में सबसे बड़ा और ऊँचा पद तीर्थंकर का माना गया है। तीर्थंकर होने का अर्थ यह है कि वह साधक समाज का पूजनीय महापुरुष, देवाधिदेव बन जाता है। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनों तीर्थंकर हैं। भगवान् ने अपने जीवन के अंतिम प्रवचन में सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है कि – 'वेयावच्चेणं तित्थयरनाम-गोत्तं कम्मं निबन्धइ।'[11] अर्थात्— "वैय्यावृत्य करने से, सेवा करने से, तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।' साधारण जन-समाज में सेवा का आकर्षण पैदा करने के सिए भगवान् महावीर का यह उदात्त प्रवचन कितना महनीय है ?

आचार्य कमल-संयम ने भगवान् महावीर और गौतम का एक बहुत सुन्दर संवाद हमारे सामने प्रस्तुत किया है। संवाद में भगवान् महावीर ने दुःखितों की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्त्व दिया है। संवाद का विस्तृत एवं स्पष्ट रूपक इस प्रकार है—

"श्री इन्द्रभूति गौतम ने—जो भगवान् महावीर के सबसे बड़े गणधर थे, भगवान् से पूछा—"भगवन् ! एक भक्त दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-अर्चना करता है। फलतः उसे दूसरे दुःखियों की सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। दूसरा सज्जन दीन-दुःखियों की सेवा करता रहता है, सहायता करता है, जन-सेवा में स्वयं को घुला-मिला देता है, जन-जीवन पर दया का वर्षण करता है। फलतः उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नहीं मिल पाता। भन्ते ! दोनों में से आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनों में से श्रेष्ठ कौन है ?"

भगवान् महावीर ने बड़े रहस्य भरे स्वर में उत्तर दिया—"गौतम! जो दीन दुःखियों की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, वही मेरे धन्यवाद का पात्र है और वही मेरा सच्चा पुजारी है।"[12] गौतम विचार में पड़ गए कि यह क्या ? भगवान् की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मों से दुःखित पापात्माओं की सेवा का क्या महत्त्व ? धन्यवाद तो भगवान् के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासा भरे स्वर से पूछा—"भन्ते ! बात कुछ गले नहीं उतरी। दुःखियों की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का महत्त्व अधिक होना चाहिए। कहाँ तीन लोक के नाथ—पवित्रात्मा आप और कहाँ संसार के वे पामर प्राणी अपने ही कृत-कर्मों का फल भोग रहे हैं।"

भगवान् ने उत्तर दिया—"गौतम ! मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने में ही तो है। उसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नहीं है। मेरी सबसे बड़ी आज्ञा यही है कि पीड़ित जन-समाज की सेवा की जाए, उसे सुख शान्ति पहुँचाई जाए। प्राणी मात्र पर दया-भाव रखा जाए। अतः दुःखियों की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम ! इसलिए मैं कहता हूं कि दुःखियों की सेवा करने वाला ही धन्य है- श्रेष्ठ है, मेरी निजी सेवा करने वाला नहीं। मेरा निजी सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह में अधिक उलझा हुआ है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह भव्य आदर्श है—नर-सेवा में नारायण-सेवा का, जन-सेवा में जिन (भगवान्) सेवा का। जैन संस्कृति के अंतिम प्रकाशमान सूर्य भगवान् महावीर हैं, उनका यह प्रवचन सेवा के महत्त्व के लिए सबसे बड़ा ज्वलन्त प्रमाण है।

भगवान् महावीर दीक्षित होना चाहते हैं, किन्तु अपनी संपत्ति का गरीब प्रजा के हित के लिए दान करते हैं और एक वर्ष तक मुनि-दीक्षा लेने के विचार को लम्बा कर देते हैं। एक वर्ष में अरबों की सम्पत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित करना अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं और मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति करने से पहले उसकी भौतिक उन्नति में संलग्न रहते हैं।[13] दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय में दया का असीम पारावार तरंगित रहता है, फलस्वरूप वे एक गरीब ब्राह्मण के दुःख से दयार्द्र हो उठते हैं और उसको अपना एक-मात्र वस्त्र भी दे देते हैं।[14]

जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सेवा के क्षेत्र में पीछे नहीं रहे हैं। उनके प्रजाहित के कार्य सर्वतः सुप्रसिद्ध हैं। सम्राट् सम्प्रति की सेवा भी कुछ कम नहीं है। जैन-इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट् के हृदय में जन-सेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी और किस प्रकार उन्होंने उसे कार्य-रूप में परिणत कर जैन संस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखा। महाराजा कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जरनरेश कुमारपाल भी सेवा के क्षेत्र में जैन-संस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखते हैं। मध्य-काल में जगडूशाह, पेथड़ और भामाशाह जैसे-कुबेर भी जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते हैं।

जैन-समाज ने जन-समाज की सेवा की है। इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिए और केवल गुजरात, मारवाड़, मेवाड़ या कर्नाटक आदि प्रान्तों का एक बार भ्रमण कर जाइए, इधर-उधर खण्डहरों के रूप में पड़े हुए ईंट-पत्थरों पर नजर डालिए, पहाड़ों की चट्टानों पर के शिलालेख पढ़िये, जहाँ-तहाँ देहात में फैले हुए जन-प्रवाद सुनिए—आपको मालूम हो जाएगा कि जैन-संस्कृति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या है ? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूं, संस्कृति व्यक्ति की नहीं होती, समाज की होती है, और समाज की संस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमें द्वेष नहीं, प्रेम हो; द्वैत नहीं, अद्वैत हो; एक रंग-ढंग हो, एक रहन-सहन हो, एक परिवार हो। संस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन-संस्कृति में पूर्णतया घटित हो रहा है। इसके लिए जैन-धर्म का गौरव-पूर्ण उज्ज्वल अतीत पूर्ण-रूपेण साक्षी है।

मैं आशा करता हूं, आज का पिछड़ा जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा और भारत की वर्तमान विकट परिस्थिति में बिना किसी जाति, धर्म, कुल या देश के भेदभाव के दरिद्र-नारायण की सेवा में अग्रगामी बनेगा और जन-सेवा को ही भगवान् की सच्ची उपासना समझेगा।

सन्दर्भ

1. परस्परोपग्रहो जीवानाम् । तत्त्वार्थाधिगमसूत्र 5.21
2. स्थानांग सूत्र—दशम-स्थान
3. स्थानांग सूत्र—3.4.21
4. दशवैकालिक सूत्र—4.2.23
5. दशाश्रुतस्कन्ध —नवमदशा
6. निशीथसूत्र—उद्दे. 4
7. उत्तराध्ययन—तपोमार्ग अध्ययन
8. औपपातिक सूत्र—पीठिका
9. स्थानांग सूत्र—8.91
10. भगवती सूत्र—श. 2, उ. 4
11. उत्तराध्ययन सूत्र - 29.43
12. उत्तराध्ययन, कमलसंयमकृत टीका, परीषह अध्ययन
13. आचारांग—महावीर-जीवन
14. महावीर-चरित्र—आचार्य हेमचन्द्र कृत □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म में दान को प्रथम स्थान क्यों ?

☐ स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी

'धर्मस्य त्वरिता गतिः, चत्वारः पादाः'
धर्म की गति तीव्र है, उसके चार चरण हैं।

नीतिकार तो इतनी-सी बात कहकर रह गए, अथवा ऊपर-ऊपर ही तैरते रह गए। मगर इसके तत्त्व की तह तक नहीं पहुँच सके। वास्तव में धर्म के चार चरण हैं--दान, शील, तप और भाव,[1] इनके सहारे से धर्म अभीष्ट लक्ष्य की ओर त्वरित गति कर सकता है।

यद्यपि धर्म के[2] चारों चरण महत्त्वपूर्ण हैं, धर्मरथ को चलाने के लिए इन चारों की समय-समय पर जरूरत पड़ती है। किन्तु दान न हो तो शेष तीनों अंगों से काम नहीं चल सकता। दान के अभाव में शेष तीनों चरणों से नम्रता और उदारता सक्रिय रूप नहीं ले सकती। दान मानव-जीवन में स्वार्थ, लोभ, तृष्णा और लालसा का त्याग कराता है, मानव हृदय को वह करुणा, परोपकार और परसुख-वृद्धि में सहायता के लिए प्रेरित करता है। जैसे खेती करने से पहले किसान खेत की धरती पर उगे हुए कंटीले झाड़-झंखाड़ों, कांटों, कंकड़-पत्थरों फालतू घास आदि को उखाड़ कर उस धरती को साफ, समतल और नरम बना लेता है, तभी उसमें बोये हुए बीज अनाज की सुन्दर फसल दे सकते हैं। वैसे ही मानव की हृदय-भूमि पर उगे हुए तृष्णारूपी घास, लालसा, स्वार्थ और अहंता रूपी कांटों, कंटीले झाड़-झंखाड़ों एवं कंकर-पत्थरों को उखाड़ कर उसे नम्र एवं समरस बनाने के लिए दान की प्रक्रिया की जरूरत है, जिससे अन्य शील, तप आदि साधनाएँ भलीभांति हो सकें, धर्म भावों की फसल तैयार हो सके। निष्कर्ष यह है कि हृदयभूमि को नम्र व समरस बनाकर बोये हुए दानबीज से धर्म की उत्तम फसल तैयार होती है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो धर्म के चार चरणों में सबसे महत्त्व-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ण और आवश्यक चरण दान है। वही शेष तीनों चरणों में तीव्र गति पैदा कर सकता है।

धर्म के चार अंगों में दान प्रथम क्यों ?

मोक्षमार्ग के चार प्रकार बताये गये हैं जिन्हें हम धर्म के चार अंग कह सकते हैं, उनमें दान को प्राथमिकता दी गई है। प्रश्न यह होता है कि इन चारों में से शील, तप या भाव को पहला स्थान न देकर दान को ही पहला स्थान क्यों दिया गया है ? इसके पीछे भी कुछ-न-कुछ रहस्य है, जिसे प्रत्येक मानव को समझना अनिवार्य है।

दान को प्राथमिकता देने के पीछे रहस्य यह है कि शील, तप या भाव के आचरण का लाभ तो उसके आचरणकर्त्ता को ही मिलता है, अर्थात् जो व्यक्ति शील का पालन करेगा, उसे ही प्रत्यक्ष लाभ मिलेगा, इसी प्रकार तप और भाव का प्रत्यक्ष फल भी उसके कर्त्ता को ही मिलेगा, जबकि दान का फल लेने वाले और देने वाले दोनों को प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। यद्यपि शील, तप और भाव का फल परोक्ष रूप से कुटुम्ब या समाज को भी मिलता है, किन्तु प्रत्यक्ष फल इन्हें नहीं मिलता। जबकि दान देने से लेने वाले की क्षुधा शान्त होती है, पिपासा बुझ जाती है, उसकी अन्य आवश्यकताओं या इच्छाओं की पूर्ति होती है, उसके दुःख का निवारण होकर सुख में प्रत्यक्ष वृद्धि होती है और देने वाले को भी आनन्द, सन्तोष, औदार्य, सम्मान एवं गौरव प्राप्त होता है। यदि दान लेने वाले को कोई लाभ न होता तो वह उसे लेता ही क्यों ? इसी प्रकार दान देने वाले को भी प्रत्यक्ष कोई लाभ न होता तो वह भी देता ही क्यों ? दान का लाभ दाता और संगृहीता दोनों को साक्षात् प्राप्त होता है। कभी-कभी दान का प्रत्यक्ष लाभ समाज को या अमुक पीड़ित, शोषित या अभावग्रस्त मानव को भी मिलता है। इसी कारण दान को धर्म के चार अंगों में या मोक्ष के चतुर्विध मार्ग में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

दूसरी बात यह है कि शील का पालन या तप का आचरण कभी-कभी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, आम जनता सहसा नहीं जान पाती कि अमुक व्यक्ति ने तप किया है या अमुक आभ्यन्तर तप करता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा अमुक व्यक्ति शील का पालन करता है या उसने कुशील का सर्वथा त्याग कर दिया है। जबकि दान का आचरण सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। तप और शील कदाचित् सक्रिय नहीं भी होते, जबकि दान सदा सक्रिय होता है और भाव तो सदा ही परोक्ष, अज्ञात और निष्क्रिय रहता है। भाव का प्रत्यक्ष दर्शन तो सिवाय मनःपर्यायज्ञानी या केवल ज्ञानी के और किसी को हो नहीं सकता। इस कारण भी दान को सबसे पहला स्थान दिया गया है।

तीसरा कारण यह है कि मनुष्य जब से इस दुनिया में आँखें खोलता है, तब से आँखें मूंदने तक यानी मनुष्य-जीवन प्राप्त होने से मृत्युपर्यन्त दान की प्रक्रिया जीवन में चल सकती है, व्यक्ति दान दे सकता है, ले सकता है, जबकि शील, तप या भाव की प्रक्रिया इतनी लम्बी, दीर्घकाल तक या जन्म से लेकर मृत्यु तक नहीं चलती। शील की प्रक्रिया ज्यादा-से-ज्यादा चलती है तो समझदारी प्राप्त होने से लेकर देहान्त तक चल सकती है जबकि दान की प्रक्रिया तो व्यक्ति के मरणोपरान्त भी उसके नाम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलती रहती है। तपश्चर्या की प्रक्रिया भी ज्यादा-से-ज्यादा समझदारी प्राप्त होने से देहावसान तक चलती है, वह भी प्रतिदिन नहीं चलती और शरीर में रोग, मानसिक चिन्ता या शोक हो तो तप की प्रक्रिया ठप्प हो जाती है। दान का आचरण तो रोग, व्याधि, बुढ़ापा, शोक आदि के होते हुए भी होता रहता है और भावों की प्रक्रिया भी समझदारी पक्की समझ प्राप्त होने से जीवनपर्यन्त चल सकती है, लेकिन बीच-बीच में रोग, चिन्ता या लोभादि अन्य कारण आ पड़ने पर उसकी धारा टूट भी जाती है। इसलिए दीर्घकाल तक, जिन्दगी भर और कभी-कभी कई पीढ़ियों तक दान की धारा ही अखण्डरूप से बह सकती है, इस दृष्टि से भी दान को सर्वाधिक उपयोगी समझकर प्राथमिकता दी गई है।

चौथा कारण यह है कि बालकों में या पारिवारिक व सामाजिक जीवन में उदारता, नम्रता, परदुःखकातरता, सेवा, सहानुभूति एवं सहृदयता के संस्कार दान से ही जग सकते हैं, दान के आचरण से ही बालकों में उदारता आदि के सुसंस्कार बद्धमूल हो सकते हैं। परिवार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं समाज में भी दूर तक दानाचरण के पवित्र परमाणु अपना प्रभाव डालते हैं। सारे वायुमण्डल को दान का आचरण स्वच्छ बना देता है, जबकि तप, शील या भाव के संस्कार सहसा नहीं पड़ते, न ही छोटे बच्चे उन संस्कारों को ग्रहण कर सकते हैं। दान के आचरण से या बालक के हाथ से स्वयं दान कराने से उसमें बहुत ही शीघ्र उदारता, सहानुभूति आदि के संस्कार जड़ जमा लेते हैं। यही कारण है कि तप, शील या भाव को प्राथमिकता न देकर इन चारों में दान को प्राथमिकता दी गई।

पाँचवाँ कारण दान को प्राथमिकता देने का यह है कि दान से समाज को सहयोग मिलता है, समाज पर दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ़, सूखा, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप आ पड़ने पर दान से ही उस आपत्ति का निवारण हो सकता है, वह संकट मिट सकता है, जबकि तप, शील या भाव से समाज को ऐसे प्राकृतिक दुःख निवारण में प्रत्यक्ष में उतना सहयोग या सहारा नहीं मिलता। समाज के अनाथ, अपाहिज, दीन-दुःखी या अभावग्रस्त व्यक्ति को दान से ही तुरन्त सहारा मिल सकता है, उसका संकट मिटाया जा सकता है। इसलिए दान को ही पहला स्थान दिया जाना उचित है।

छठा कारण दान को प्रथम स्थान मिलने का यह प्रतीत होता है कि समाज में व्याप्त विषमता, अभाव, शोषण या असमानता को मिटाने के लिए दान का होना अनिवार्य है। धनिकों के धन का, यदि समाज में व्याप्त विषमता को कुछ अंश तक कम करने के लिए दान के रूप में व्यय होता जाय अथवा समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में उनकी धनराशि व्यय होती रहे, जैसे कि औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि संस्थाओं को दिया जाता रहे तो समाज में व्याप्त असंतोष और प्रतिक्रिया दूर हो सकती है। समाज में सुव्यवस्था और सुख-शान्ति व्याप्त हो सकती है। इसी दृष्टिकोण से दान जितना समाज के लिए लाभदायक, सुख-शान्ति-वर्द्धक एवं विषमतानाशक हो सकता है, उतने अन्य साधन नहीं। अतः दान को उत्कृष्ट मानकर प्रथम स्थान दिया गया है। श्रमण भगवान् महावीर ने इसी दृष्टि से गृहस्थ साधकों के लिए अतिथि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संविभागव्रत निश्चित किया है, ताकि गृहस्थ अपनी आय एवं साधनों में से यथोचित संविभाग उत्कृष्ट साधकों, सेवाव्रती संस्थाओं एवं अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिए करे।

एक और कारण है, दान को प्राथमिकता देने का, वह यह है कि गृहस्थ के जीवन में कूटने, पीसने, पकाने, पानी के घड़ों को भरने तथा सफाई करने आदि में अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ होते रहते हैं, अतः इनके जरिये घर में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र एवं अतिथि आदि को देने पर पुण्य तथा निःस्वार्थ व उत्कट भावना से योग्य पात्र को देने पर धर्म का लाभ हो सकता है। इस दृष्टि से गृहस्थ के लिए दान अनिवार्य तथा प्रतिदिन की शुद्धि का कारण होने से उसे महाधर्म भी कहा है। पद्मनन्दि पंचविंशतिका में स्पष्ट कहा गया है—

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः,
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदाऽपि,
प्रीत्या तिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ॥ 2.13 ॥

अर्थात् लोक में अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थ के द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्र के लिए दिया गया दान जैसे उन्नत फल को देता है, वैसा फल घर की अनेक झंझटों से उत्पन्न हुए पापसमूहों के द्वारा कुबड़े यानी शक्तिहीन किये हुए गृहस्थ के व्रत नहीं देते।

इस विषय में आचार्यों ने और अधिक स्पष्टीकरण किया है—प्रश्न उठाया गया है कि[3] दानादि ही श्रावकों (गृहस्थों) का परमधर्म कैसे है ? इसका उत्तर दिया है—"ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय-कषाय के अधीन हैं, इस कारण इनके आर्त रौद्रध्यान उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए निश्चयरत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परमधर्म का तो इनके ठिकाना ही नहीं है, यानी अवकाश ही नहीं है।"

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ के द्वारा हुए आरम्भजनित पापों की शुद्धि के लिए दानधर्म जितना आसान होता है, उतना शील, तप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भाव नहीं। इसलिए दान को गृहस्थ के लिए परमधर्म कहा है, और इसी कारण उसको प्राथमिकता दी गई है।

वैदिकधर्म के व्यवहारपक्ष का प्रतिपादन करने वाले मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में गृहस्थ के लिए प्रतिदिन दान की परम्परा चालू रखने हेतु 'पंच वैवस्वतदेवयज्ञ' का विधान है। अर्थात् गृहस्थ के द्वारा होने वाले आरम्भजनित दोषों को कम करने के लिए भोजन तैयार होते ही सर्वप्रथम गाय, कुत्ता, कौआ, अग्नि एवं अतिथि इन पांचों के लिए ग्रास निकाला जाय। शील, तप या भाव का विधान वहाँ सभी गृहस्थों के लिए नहीं किया गया है। इस दृष्टि से भी दान को प्रथम स्थान दिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए परमात्मप्रकाश में स्पष्ट कहा है गृहस्थों के लिए आहारदान आदि परमधर्म हैं।[4]

दान को प्राथमिकता देने का एक कारण यह भी सम्भव है कि जगत् में निःस्पृह, त्यागी साधु, सन्त या तीर्थंकर आदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का उपदेश, प्रेरणा या मार्गदर्शन न देते या न दें तो मनुष्य दुर्लभबोधि, बर्बर, नरभक्षी या पिशाचवत् अतिस्वार्थी बना रहता। अफ्रीका के नरभक्षी मनुष्यों को मानव (इन्सान) बनाने में वहाँ के साधुओं (पादरियों व धर्मगुरुओं) ने बहुत कष्टसाध्य तप किया है। परन्तु उनमें जो भिक्षाजीवी या गृहस्थों के दान पर आश्रित साधु, सन्त हैं, उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ गृहस्थ लोग दान में देकर पूर्ति करें तभी वे साधु अपने शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वस्थ और सशक्त रखकर संघ (समाज) सेवा का उक्त महान् कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार के मुनियों, श्रमणों या साधु-सन्तों को आहारादि दान देकर गृहस्थ को शेष अन्न को प्रसाद के रूप सेवन करना चाहिए। सत्पात्र को दान देना श्रावक का मुख्य धर्म बताया है। रयणसार में इसी बात का समर्थन स्पष्टरूप से किया गया है—

जो मुणिभुत्तसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणवददिट्ठं।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥[5]
दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा।[6]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जो भव्य जीव मुनिवरों को आहार देने के पश्चात् अवशेष अन्न को प्रसाद समझ कर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को पाता है और क्रमशः उत्तम मोक्षसुख को भी प्राप्त कर लेता है।

सुपात्र को आहारादि चार प्रकार का दान देना श्रावक का मुख्य धर्म है। जो इन दोनों को मुख्य कर्त्तव्य मानकर पालन करता है, वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि है। दान के बिना श्रावक श्रावक नहीं रहता।

इस पर से जाना जा सकता है कि दान जब जीवन में अनिवार्य कर्त्तव्य है, तो उसे प्राथमिकता दिया जाना कथमपि अनुचित नहीं है।

दान को पहला स्थान केवल इस लोक में ही नहीं, देवलोक में भी दिया जाता है। यहाँ से आयुष्य पूर्ण करके जो भी व्यक्ति स्वर्ग में पहुँचता है, उसके लिए पहला प्रश्न यह अवश्य पूछा जाता है--किं वा दच्चा, किं वा भुच्चा, किं वा किच्चा, किं वा समायरित्ता ? अर्थात् यह मनुष्यलोक से स्वर्ग में आया हुआ जीव वहाँ क्या दान देकर, क्या उपभोग करके, क्या कार्य करके अथवा क्या आचरण करके आया है ? मतलब यह है कि देवलोक में पहुँचते ही सर्वप्रथम और बातों का स्मरण न करके दान के विषय में ही पूछा जाता है, दान की ही बात सबसे पहले याद की जाती है, अन्य बातें बाद में पूछी जाती हैं।

इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि महापुरुषों ने दान को धर्म के चार अंगों या मोक्ष के चार मार्गों में पहला स्थान क्यों दिया है !

सन्दर्भ

1. 'दानं सीलं च तवो भावो एवं चउविहो धम्मो।
   सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुआचरिते हिं ।।
   — सप्ततिशतस्थान प्रकरण गा. 96.
2. दुर्गति-प्रपतज्जन्तुधारणाद् धर्म उच्यते।
   दानशील-तपोभावभेदात् स तु चतुर्विधः ।।
   —त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित 1.11.52

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. कस्मात् स एव परमोधर्म इति चेत् निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरतानां निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति ।

—परमात्मप्रकाश टीका 2.111

4. गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः ।

— परमात्म प्रकाश टीका 2.111

5. रयणसार 22

6. रयणसार 11 □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान और पुण्य : एक विवेचन

☐ उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म.

भारतीय संस्कृति के सभी चिन्तकों ने पुण्य-पाप के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन किया है। मीमांसक दर्शन ने पुण्य-साधन पर अत्यधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि पुण्य से स्वर्ग के अनुपम सुख प्राप्त होते हैं। उन स्वर्गीय सुखों का उपभोग करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, पर जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' है। मोक्ष का अर्थ है—पुण्य-पाप रूप समस्त कर्मों से मुक्ति पाना।[1] यह देहातीत या संसारातीत अवस्था है। जब तक प्राणी संसार में रहता है, देह धारण किये हुए है, तब तक उसे संसार-व्यवहार चलाना पड़ता है और उसके लिए पुण्य कर्म का सहारा लेना पड़ता है। पाप कर्म से प्राणी दुःखी होता है, पुण्य कर्म से सुखी। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वस्थ शरीर, दीर्घ आयुष्य, धन-वैभव, परिवार, यश-प्रतिष्ठा —आदि की कामना प्राणी मात्र करता है। सुख की कामना करने से सुख नहीं मिलता, किन्तु सुख प्राप्ति के कार्य-सत्कर्म (धर्माचरण) करने से ही सुख मिलता है। उस सत्कर्म को ही शुभयोग कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः[2]

शुद्ध योग पुण्य का आस्रव (आगमन) करता है, और अशुद्ध योग पाप का।

शुभयोग, शुभभाव अथवा शुभपरिणाम तथा सत्कर्म प्रायः एक ही अर्थ रखते हैं। केवल शब्द-व्यवहार का अन्तर है।

मतलब यह हुआ कि सुख चाहने वाले को शुभयोग का आश्रय लेना होगा। शुभयोग से ही पुण्यबंध होता है। एक बार कालोदायी श्रमण ने भगवान् महावीर से पूछा—'जीवों को सुख रूप शुभफल (पुण्य) की प्राप्ति कैसे होती है ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर में भगवान् महावीर ने बताया—

कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणाकम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ।[3]

कालोदायी ! जीवों द्वारा किए गए शुभ कर्म ही उनके लिए शुभ फल देने वाले होते हैं।

वास्तव में धर्म की क्रिया द्वारा, शुभप्रवृत्ति द्वारा दो कार्य निष्पन्न होते हैं—अशुभ कर्म की निर्जरा और शुभकर्म का बन्ध। अर्थात् पाप का क्षय और पुण्य का बन्ध। पाप-क्षय से आत्मा उज्ज्वल होती है और पुण्य बन्ध से जीव को सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य की परिभाषा ही यही है—

सुहहेउ कम्मपगइ पुन्नं ।[4]

—सुख की हेतुभूत कर्म प्रकृति पुण्य है।

पुण्य के सम्बन्ध में पहली एक सर्वसम्मत मान्यता तो यह है कि पुण्य भी बन्ध है, कर्मसंग्रह है और मोक्षकामी जीव के लिए वह बन्धन रूप होने से त्याज्य ही है। पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की बेड़ी है। बेड़ी टूटने से ही मुक्ति होगी चाहे सोने की हो या लोहे की। किन्तु यह भी सभी आचार्यों ने माना है कि पहले लोहे की बेड़ी तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् पाप नाश के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए। पुण्य क्षय के लिए कोई भी समझदार व्यक्ति प्रयत्न नहीं करता और न यह उचित ही है। क्योंकि पुण्य का भोग ही पुण्य का स्वतः क्षय करता है अतः मुक्तिकामी को भी पुण्य के विषय में अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। अपितु पुण्यबन्ध के हेतु भूत—शुभ कर्मों का आचरण करना चाहिए।

दूसरी एक मान्यता है जिसमें दो मत हैं। एक परम्परा है—जो शुभकर्म, धर्माचरण, दान, सेवा, दया, उपकार आदि कार्य से धर्म भी मानती है और पुण्य भी। जैसे व्रती, संयती आदि को दान देना, उनकी सेवा करना धर्म है, इससे संवर तथा निर्जरा रूप धर्म की वृद्धि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। अशुभ कर्म का निरोध होना संवर है, बन्धे हुए अशुभ कर्मों का क्षय होना निर्जरा है और नए शुभ कर्म का बन्धना पुण्य है। तो संयती आदि को दान आदि देने से संवर-निर्जरा रूप धर्म भी होता है। किन्तु जो पूर्णव्रती नहीं है, संयतासंयती या असंयती है, फिर भी दान या सेवा के पात्र हैं, तो उनको दान देने से, उन पर अनुकम्पा करने से, उनकी सेवा करने से भले ही संवर रूप धर्म न हो, किन्तु पुण्य का बन्ध अवश्य होता है। उस सेवा-दान-अनुकम्पा आदि के फलस्वरूप जीव को पुण्य की प्राप्ति होती है। जैसा कि आचार्य उमास्वाति ने बताया कि—

"भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग-संयम, शांति और शौच—ये छह साता वेदनीय कर्म (सुख) के हेतु हैं।[5]

इस मान्यता के अनुसार जिस प्रवृत्ति में धर्म नहीं उसमें पुण्य भी नहीं।[6] व्रती, संयमी को दान देना, उनकी सेवा करना इसी में धर्म है और इसी में पुण्य है। अव्रती तथा व्रताव्रती की सेवा तथा दान में धर्म भी नहीं और पुण्य भी नहीं।

यह मान्यता सिर्फ एक सम्प्रदाय की है, जैन जगत् के प्रायः मूर्धन्य विचारकों और विद्वानों ने इस धारणा का डटकर खण्डन किया है। क्योंकि इससे दान, सेवा आदि का क्षेत्र बहुत ही संकुचित हो जाता है, सिर्फ साधु को दान देना ही उनकी दृष्टि में धर्म है, पुण्य है, बाकी सब पाप है। पाप शब्द की जगह भले ही वे 'लोक व्यवहार' अथवा 'सामाजिक कर्तव्य' आदि मधुर शब्दों का प्रयोग करते हों, किन्तु इनसे उनका आशय तो 'पाप' ही है। उनसे पूछा जाय कि पाप-पुण्य के अलावा तीसरा कोई तत्त्व है क्या ? जिस कार्य में आप पुण्य नहीं मानते उससे विपरीत उसे 'पाप' कहने में क्यों हिचकते हैं ? अगर वास्तव में ही संयती के अतिरिक्त किसी को देना पाप है तो उसे स्पष्ट रूप से, निर्भीक होकर मानना और कहना चाहिए अन्यथा मान्यता में परिष्कार करना चाहिए। वह सिद्धान्त क्या काम का, जिसे स्पष्ट कहने में भी डर लगे, जीभ अटके और जी कतराये ? फिर आगम की कसौटी पर भी तो वह कहाँ खरा उतरेगा ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों में बताया है—तीर्थंकरदेव दीक्षा लेने से पहले वर्षीदान देते हैं ?[7] यह दान कौन लेते हैं ? क्या त्यागी श्रमण, संयती यह दान लेने जाते हैं ? नहीं। यह दान लेने जाते हैं—कृपण, दीन, भिक्षुक, अनाथ आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें स्वर्ण-मणि आदि की आवश्यकता या कामना है, और वे तो स्पष्ट ही अव्रती या व्रताव्रती (श्रावक) की कोटि में ही आयेंगे। तो क्या उन लोगों को दान देने में तीर्थंकर देव को संवर रूप धर्म होता है ? नहीं, किन्तु हमारे पड़ौसी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार अगर उसमें धर्म नहीं है तो एकान्त पाप ही है ? जबकि अन्य समस्त जैनाचार्यों ने इस दान को पुण्य हेतुक माना है। और वास्तव में ही वह पुण्य है। अगर पुण्य नहीं होता तो तीर्थंकर देव—भगवान् महावीर आदि दीक्षा लेने के पूर्व इतना बड़ा पाप कृत्य क्यों करते ? इधर तो करोड़ों अरबों-खरबों स्वर्णमुद्राओं का दान और इधर पाप का बन्धन। क्या समझदारी है ? अतः इस एक उदाहरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कार्य में धर्म नहीं हो, उसमें भी पुण्य हो सकता है। बहुत से कृत्य धर्मवर्द्धक नहीं हैं, किन्तु पुण्यकारक हैं, जैसे तीर्थंकरों का वर्षीदान।

रायपसेणी सूत्र में राजा प्रदेशी का जीवनवृत्त है। वह जब केशी-कुमार श्रमण से श्रावकधर्म अंगीकार करता है तब अपने राज्य कोष को चार भागों में बाँटता है। जिसके एक भाग में वह अपने राज्य में दानशालाएँ, भोजनशालाएँ, औषधालय, कुएँ, अनाथाश्रम आदि खुलवाता है जहाँ हजारों अनाथ, रुग्ण, भिक्षुक आदि आकर आश्रय लेते हैं, अपनी क्षुधापिपासा शांत करते हैं और औषधि आदि प्राप्त कर स्वास्थ्य लाभ लेते हैं। अगर इन प्रवृत्तियों में पुण्य नहीं होता तो केशीकुमार श्रमण अपने श्रावक राजा प्रदेशी को स्पष्ट ही कह देते—यह कार्य पुण्य का नहीं है, अतः करने में क्या लाभ है ? और फिर श्रावक व्रतधारी चतुर राजा भी यह सब आयोजन क्यों करता ? अतः आगम की इस घटना से भी स्पष्ट सूचित होता है कि बहुत से अनुकम्पापूर्ण कार्यों में धर्म भले ही न हो, किन्तु पुण्यबन्ध तो होता ही है और इसी पुण्य हेतु व्यक्ति शुभ आचरण करता है। इससे दीन-अनाथ एवं अनुकम्पा पात्र व्यक्तियों को भी सुखसाता पहुँचती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुण्य के नौ भेद

पुण्य की चर्चा में अधिक गहरे नहीं जाकर हम अपने विषय क्षेत्र में ही रहना चाहते हैं। क्योंकि दान का प्रकरण चल रहा है और इस प्रकरण में हमें दान और पुण्य पर कुछ विचार करना है। क्या दान में एकान्त धर्म ही होता है, या जहाँ धर्म नहीं, वहाँ पुण्य भी हो सकता है ? यह प्रश्न हमारे सामने है। और इसी सन्दर्भ में हमने उक्त विचार प्रकट किये हैं कि आगमों में उक्त दोनों विचारों का स्पष्ट समर्थन मिलता है।

स्थानांग सूत्र में पुण्य के नौ स्थान (कारण) बताये हैं—जैसे[8] -

1. अन्न पुण्णे
2. पाण पुण्णे
3. वत्थ पुण्णे
4. लयण पुण्णे
5. सयण पुण्णे
6. मण पुण्णे
7. वयण पुण्णे
8. काय पुण्णे
9. नमोक्कार पुण्णे

यहाँ पुण्य का अर्थ है पुण्य कर्म की उत्पत्ति के हेतु कार्य। अन्न, पान (पानी) वस्त्र, स्थान, शयन (बिछौना) आदि के दान से तथा मन, वचन, काया आदि की शुभ (परोपकार प्रधान) प्रवृत्ति से एवं योग्य गुणी को नमस्कार करने से पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है। ये पुण्य के कारण हैं, कारण में कार्य का उपचार कर इन कारणों को पुण्य की संज्ञा दी गई है। अर्थात् अन्नदान से अन्न पुण्य, पान (जल) दान से पान पुण्य इसी प्रकार अमुक कारण से जो पुण्य होगा उसे वही संज्ञा दी गई है।

पुण्यजनक दान : एक चर्चा

कुछ लोगों का कहना है कि पूर्वोक्त नौ प्रकार का पुण्य तो केवल महाव्रती साधु-साध्वियों को देने से ही फलित होता है, अन्य को देने से नहीं। उनका यह तर्क है, अगर गृहस्थ को दान देने से ही फलित होता है तो वहां धनपुण्य, हस्तिपुण्य या वाहनपुण्य आदि का भी उल्लेख होता; परन्तु ऐसा उल्लेख नहीं है। वहाँ साधुवर्ग के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पनीय, ऐषणीय या ग्राह्य वस्तुओं का ही उल्लेख है। इसका समाधान यह है कि अन्य दानों की गणना तो दस प्रकार के दानों में आ ही जाती है, सिर्फ वे दान, जिनसे कर्मक्षय न होकर पुण्यबन्ध होता है, उनका उल्लेख करना शेष रह गया था, इसलिए सद्गृहस्थों को या अनुकम्पा पात्रों को देने योग्य सामान्य वस्तुएँ गिनाई गई हैं। धन या हाथी की अपेक्षा मुसीबत में पड़े मनुष्य को अन्न, वस्त्र और आवास की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। इसलिए नौ प्रकार के पुण्योत्पादक दान सर्वसाधारण, अनुकम्पापात्र या तथाविध पात्र के लिए हैं और फिर साधु-साध्वी को ये वस्तुएँ देने से तो पुण्य बन्ध से भी आगे बढ़कर कर्म-निर्जरा होती है जिसका साक्षी भगवती सूत्र का पाठ है। अन्न की अपेक्षा उनके लिए अभीष्ट चतुर्विध आहार का दान कल्पनीय होता है। इस दृष्टि से भी साधु वर्ग की अपेक्षा सद्गृहस्थों या अनुकम्पा के पात्र को देने से नवविध पुण्य का होना अधिक प्रमाणित या संभावित है। अगर साधुवर्ग को देने में ही इस नवविध पुण्य को परिसमाप्त कर दिया जाएगा तो फिर जहाँ साधुवर्ग नहीं पहुँच पाता है, जहाँ उसके दर्शन भी दुर्लभ हैं, वहाँ तो पुण्य वृद्धि या पुण्योपार्जन का कोई कारण नहीं रहेगा। वहाँ के लोग तो पूर्व पुण्य क्षीण कर देंगे, नये पुण्य का उपार्जन नहीं कर सकेंगे। फिर तो उनके लिए पुण्योपार्जन की कहीं भी कोई गुंजाइश नहीं रहेगी। परन्तु ऐसा है नहीं। नौ प्रकार के पुण्य तो सर्वसाधारण योग्य पात्र को सार्वजनिक रूप में या व्यक्तिगत रूप में दान करने से उपार्जित हो सकते हैं, होते हैं, हुए हैं। ऐसा अर्थ ही अधिक संगत मालूम होता है।

इस अर्थ से प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, जाति-कौम या देश-कुल का हो, अपने स्थान या क्षेत्र में रह कर भी पुण्य उपार्जित कर सकता है। शास्त्र में जैसे पापार्जन के १८ प्रकार बताए हैं, वैसे ही पुण्योपार्जन के ये ९ भेद बताए हैं। इन्हीं ९ प्रकारों में संसार के सभी प्रमुख पदार्थ आ जाते हैं, जिनसे पुण्योपार्जन किया जाता है, बशर्ते कि ये ९ पदार्थ तद्योग्य पात्र को परिस्थिति देखकर दिए जाएँ। इसी कारण हमने दान के प्रकारों में इन नवविध पुण्योत्पादक दानों का उल्लेख और विश्लेषण किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

1. कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः । – तत्त्वार्थसूत्र 1/4 (सर्वार्थसिद्धि)
2. उमास्वातीयनवतत्त्वप्रकरणं (आस्रवतत्त्व प्रकरण),
3. भगवती सूत्र 7.10
4. श्री देवेन्द्रसूरि कृत नवतत्त्व प्रकरण, गा. 28
5. तत्त्वार्थसूत्र 6.12
6. आचार्य भिक्षुकृत-नवपदार्थ (पुण्य पदार्थ गा. 54-56)
7. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध
8. स्थानांग सूत्र 9.3.676 □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय साहित्य में दान की महिमा

☐ श्री विजय मुनि, शास्त्री

भारत के समस्त धर्मों में, इस तथ्य में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है, कि 'दान' एक महान् धर्म है। दान की व्याख्या अलग हो सकती है, दान की परिभाषा विभिन्न हो सकती है, और दान के भेद-प्रभेद भी विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु 'दान एक प्रशस्त धर्म है' इस सत्य में जरा भी अन्तर नहीं है। दान धर्म, उतना ही पुराना है, जितनी पुरानी मानव-जाति है। मानव-जाति में, दान कब से प्रारम्भ हुआ ? इसका उत्तर सरल न होगा। परन्तु यह सत्य है कि दान का पूर्व रूप सहयोग ही रहा होगा। संकट के अवसर पर मनुष्यों ने एक-दूसरे को पहले सहयोग देना ही सीखा होगा। सहअस्तित्व के लिए परस्पर सहयोग आवश्यक भी था। सहयोग के अभाव में समाज में सुदृढ़ता तथा स्थिरता कैसे आ पाती ? समाज में सभी प्रकार के मनुष्य होते थे – दुर्बल भी और सबल भी। अशक्त मनुष्य अपने जीवन को कैसे धारण कर सकता है ? जीवन धारण करने के लिए भी शक्ति की आवश्यकता है। शक्तिमान् मनुष्य ही अपने जीवन को सुचारु रूप से चला सकता था, और वह दुर्बल साथी को सहयोग भी कर सकता था। यह **'सहयोग'** समानता के आधार पर किया जाता था, और बिना किसी प्रकार की शर्त के किया जाता था। न तो सहयोग देने वाले में अहंभाव होता था, और न सहयोग पाने वाले में दैन्य भाव होता था। भगवान् महावीर ने अपनी भाषा में, परस्पर के इस सहयोग को **'संविभाग'** कहा था। संविभाग का अर्थ है--सम्यक् रूप से विभाजन करना। जो कुछ तुम्हें उपलब्ध हुआ है, वह सब तुम्हारा अपना ही नहीं है, तुम्हारे साथी का तथा तुम्हारे पड़ौसी का भी उसमें सहभाव तथा सहयोग रहा हुआ है। महावीर के इस 'संविभाग' में न अहं का भाव है, और न दीनता का भाव। इसमें एकमात्र समत्व भाव ही विद्यमान है। लेने वाले के मन में जरा भी ग्लानि नहीं है, क्योंकि वह अपना ही हक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण कर रहा है, और देने वाला भी यही समझ रहा है, कि मैं यह देकर कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ। लेने वाला मेरा अपना ही भाई है, कोई दूसरा नहीं है। इस प्रकार यह संविभाग शब्द अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

बाद में आया 'दान' शब्द। इसमें न 'सहयोग' की सहृदयता है और न संविभाग की व्यापकता एवं दार्शनिकता ही। आज के युग में 'दान' शब्द काफी बदनाम हो चुका है। देने वाला दाता देता है, अहंकार में और लेने वाला ग्रहीता लेता है, सिर नीचा करके। देने वाला अपने को उपकारी मानता है और लेने वाला अपने को उपकृत। लेने वाला बाध्य होकर लेता है, और देने वाला भी दबाव से ही देता है। आज के समाज की स्थिति ही इस प्रकार की हो गई है, कि लेना भी पड़ता है, और देना भी पड़ता है। न लेने वाला प्रसन्न है, और न देने वाला ही। यही कारण है, कि 'दान' शब्द से पूर्व कुछ विशेषण जोड़ दिए गए हैं—"करुणा दान, अनुकम्पादान एवं कीर्तिदान आदि।"

'दान' शब्द का अर्थ है—देना। क्या देना? किसको देना? क्यों देना? इसका कोई अर्थ-बोध दान शब्द से नहीं निकल पाता। शायद, इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए 'दान' शब्द को युग-युगान्तर में परिभाषित करना पड़ा है। परन्तु कोई भी परिभाषा 'दान' शब्द को बाँधने में समर्थ नहीं हो सकी। 'दान' शब्द के सम्बन्ध में भेद-प्रभेद होते ही रहे हैं, मत-मतान्तर चलते ही रहे हैं, वाद-विवाद बढ़ते ही रहे हैं। धर्म के भवन में, मतवाद की जो भयंकर आग एक बार भभक उठती है, वह कभी भी बुझ नहीं पाती।

दान की मान्यता पर मतभेद

दान की मान्यता के सम्बन्ध में, जो मतवाद की आग कभी प्रज्वलित हुई थी, उसके तीन विस्फोटक परिणाम सामने आए—(१) दान पुण्य का कारण है, (२) दान पाप का कारण है और (३) दान धर्म का कारण है। जो लोग दान को शुभ भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पुण्य होगा और पुण्य से सुख। जो दान को अशुभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव मानते हैं, उनके अनुसार दान से पाप होगा, पाप से दुःख। शुभ उपयोग पुण्य का हेतु है और अशुभ उपयोग पाप का। पुण्य और पाप--दोनों आस्रव हैं, संसार के कारण हैं। उनसे कभी धर्म नहीं हो सकता। धर्म है संवर। धर्म है निर्जरा। संवर और निर्जरा—दोनों ही मोक्ष के हेतु हैं, संसार के विपरीत, मोक्ष के कारण हैं। तब, दान से संसार ही मिला, मोक्ष नहीं। दान का फल मोक्ष कैसे हो सकता है ? इस मान्यता के अनुसार दान, दया, व्रत और उपवास आदि पुण्य बन्ध के ही कारण हैं। क्योंकि ये सब शुभ भाव हैं।

इसके विपरीत एक दूसरी मान्यता भी रही है, जिसके अनुसार दान भी और दया भी—दोनों पाप के कारण हैं। पाप के कारण तभी हो सकते हैं, जबकि दोनों को अशुभ भाव माना जाए। अतः उनका तर्क है, कि दया सावद्य होती है। जो सावद्य है, वह अशुभ होगा ही। जो अशुभ है, वह निश्चय ही पाप का कारण है। दान के सम्बन्ध में, उनका कथन विभज्यवाद पर आश्रित है। उन लोगों का तर्क है, कि दान दो प्रकार का हो सकता है—संयतदान और असंयतदान। साधु को दिया गया दान, धर्म-दान है। अतएव उसका फल मोक्ष है। क्योंकि साधु को देने से निर्जरा होती है, और निर्जरा का फल मोक्ष ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। परन्तु असंयत दान, अधर्म दान है। उसका फल पाप है। पाप, कभी शान्ति का कारण नहीं हो सकता। यह पापवाद की मान्यता है।

पुण्यवाद और पापवाद के अतिरिक्त, एक धर्मवाद की मान्यता भी रही है। इसके अनुसार दान भी धर्म है, और दया भी धर्म है। दान, यदि पाप का कारण होता, तो तीर्थंकर दीक्षा से पूर्व वर्षीदान क्यों करते ? दान-परम्परा की स्थापना न करके निषेध ही करते। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने दान दिया था। उन लोगों का तर्क यह है कि दान की क्रिया ममता और परिग्रह को कम करती है। ममता और परिग्रह का अभाव ही तो धर्म है। जितना दिया उतनी ममता कम हुई और जितना दिया उतना परिग्रह भी कम ही हुआ है। अतः दान से धर्म होता है। ममता और परिग्रह को कम करने से तथा उनका नाश करने से दान धर्म ही हो सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, पाप कभी नहीं। यही धर्मवादी मान्यता है।

पुण्यवाद, पापवाद और धर्मवाद की गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझाने का समझाने का समय-समय पर प्रयास हुआ है, परन्तु कोई भी मान्यता जब रूढ़ हो जाती है, तब वह मिट नहीं पाती। किसी भी मान्यता को मिटाने का प्रयास भी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। मानव जाति के विचार के विकास की भी एक कड़ी है, उसकी अपनी उपयोगिता है, अपना एक महत्त्व है।

भारत के वैदिक षड्दर्शनों में एक मीमांसा दर्शन ही पुण्यवादी दर्शन कहा जा सकता है। उसकी मान्यता है कि यज्ञ से पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है, स्वर्ग में सुख है। पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार है। मोक्ष की स्थिति में उसे जरा भी रुचि नहीं है। यज्ञ से, तप से, जप से और दान से पुण्य होता है, यह इसी मीमांसा दर्शन की मान्यता रही है। यज्ञ नहीं करोगे, तो पाप होगा और यज्ञ करोगे तो पुण्य होगा। पाप और पुण्य की मीमांसा करना ही, मीमांसा दर्शन का प्रधान ध्येय रहा है। दान पर सबसे अधिक बल भी इसी दर्शन ने दिया है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण को दान देने से सबसे बड़ा पुण्य होता है। श्रमण परम्परा के दोनों सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध, कहते हैं कि ब्राह्मण को दिया गया दान, पुण्य का कारण नहीं है। वह पाप दान है, वह धर्म नहीं हो सकता। मीमांसा दर्शन भी जैन श्रमणों को और बौद्ध भिक्षुओं को दिए गए दान को पाप का कारण मानता है, धर्म का नहीं। इस प्रकार की मान्यताओं ने दान की पवित्रता को नष्ट कर डाला। अपनी मान्यताओं में आबद्ध कर दिया। अपनों को देना धर्म, और दूसरों को देना पाप मानना इसी का परिणाम है।

वेद विरोधी दर्शनों में एक चार्वाक दर्शन ही यह कहता है कि न दान करने से पुण्य होता है, न नहीं करने से पाप। पाप और पुण्य यह लुब्धक लोगों की परिकल्पना है, अन्य कुछ नहीं। न पाप है न पुण्य है, न लोक है न परलोक है। जो कुछ है, यहीं है, अभी है, आज ही है, कल कुछ भी नहीं। उसकी इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता के कारण ही चार्वाक दर्शन में दान पर कुछ मीमाँसा नहीं हो सकी। दान पर विचार का अवसर ही वहाँ पर उपलब्ध नहीं है। वर्तमान भोग ही वहाँ जीवन है।

वैदिक दर्शनों में दान-मीमांसा

वेदगत परम्परा के षड्दर्शनों में सांख्यदर्शन और वेदान्तदर्शन ज्ञान-प्रधान रहे हैं। दोनों में ज्ञान को अत्यन्त महत्त्व मिला है। वहाँ आचार को गौण स्थान मिला है। सांख्य भेदविज्ञान से मोक्ष मानता है। प्रकृति और पुरुष का भेदविज्ञान ही साधना का मुख्य तत्त्व माना गया है। वहाँ प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्त्वों का ही विश्लेषण किया गया है। इन दोनों का सयोग ही संसार है, इन दोनों का वियोग ही मोक्ष है। प्रकृति मोक्ष-शून्य है, तो पुरुष कर्तृत्व-शून्य है। इस दर्शन में कहीं पर भी आचार को महत्त्व नहीं मिला। करना कुछ भी नहीं है, जो कुछ है, जानना है और समझना है। आचार पक्ष की गौणता होने के कारण 'दान' की मीमांसा नहीं हो सकी। दान का सम्बन्ध करने से है, आचार से है, क्रिया और कर्म से सम्बद्ध है।

वेदान्त दर्शन की स्थिति भी यही रही है। कुछ मौलिक भेद अवश्य है। सांख्य द्वैतवादी है, तो वेदान्त अद्वैतवादी रहा है। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यदि कुछ भी प्रतीत होता है, तो वह मिथ्या ही है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस भावना से समग्र बन्धन परिसमाप्त हो जाते हैं। वस्तुतः बन्धन है ही कहाँ ? उसकी तो प्रतीति मात्र हो रही है। अपने को प्रकृति और जीव न समझकर, एकमात्र ब्रह्म समझना ही विमुक्ति है। इस दर्शन में भी ज्ञान की प्रधानता होने से आकार की गौणता ही है। शम तथा दम आदि कुछ साधनों की चर्चा अवश्य की गई है, परन्तु वे साधना के अनिवार्य अंग नहीं हैं। यही कारण है कि वेदान्तदर्शन में भी दान की मीमांसा नहीं हो पाई। दान का सम्बन्ध चारित्र से है, और उसकी वहाँ गौणता है।

न्यायदर्शन में तथा वैशेषिकदर्शन में, पदार्थ-ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है। वैशेषिकदर्शन में सप्त पदार्थों का तथा न्याय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन में षोडश पदार्थों का अधिगम ही मुख्य माना गया है। न्याय-शास्त्र में तो पदार्थ भी गौण है, मुख्य है प्रमाणों की मीमांसा। वैशेषिक की पदार्थ-मीमांसा और न्याय की प्रमाण-मीमांसा प्रसिद्ध है। साधना अथवा आचार का वहाँ कुछ भी स्थान नहीं है। फिर दान की मीमांसा को वहाँ स्थान मिलता भी कैसे ? अतः वहाँ पर दान का कोई विशेष महत्त्व नहीं कहा जा सकता। उसका कोई दार्शनिक आधार नहीं है। न्यायदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए समग्र शक्ति लगा दी, और वैशेषिक ने परमाणु को सिद्ध करने के लिए। जीवन की व्याख्या वहाँ नहीं हो पाई।

योगदर्शन अवश्य ज्ञान-प्रधान न होकर क्रिया-प्रधान है। आचार का वहाँ विशेष महत्त्व माना गया है। मनुष्य के चित्त की वृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसकी साधना का मुख्य लक्ष्य है—समाधि की सम्प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। यमों में अपरिग्रह और नियमों में सन्तोष का ग्रहण किया गया है। परन्तु दान की मीमांसा को कहीं पर भी अवसर नहीं मिला। दान का साधन के रूप में कहीं उल्लेख नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि वेद मूलक षड्-दर्शनों में एक मीमांसा दर्शन को छोड़कर शेष पाँच दर्शनों में दान का कोई महत्त्व नहीं है। न उसका विधान है और न उसकी व्याख्या ही की गई है।

श्रमण परम्परा में दान मीमांसा

वेद विरुद्ध श्रमण परम्परा के तीन सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—जैन, बौद्ध और आजीवक। आजीवक परम्परा का प्रवर्तक गोशालक था। वह नियतिवादी के रूप में भारतीय दर्शनों में बहुचर्चित एवं विख्यात था। उसकी मान्यता थी कि जो भाव नियत है, उन्हें बदला नहीं जा सकता। संसार के किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ में कोई मनुष्य किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता। सब अपने आप में नियत है। आज के इस वर्तमान युग में, आजीवक सम्प्रदाय का एक भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अतः दान के सम्बन्ध में गोशालक के क्या विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थे ? कुछ भी कहा नहीं जा सकता। उसके नियतिवादी सिद्धान्त के अनुसार तो उसकी विचारधारा में दान का कोई फल नहीं है। दान से कोई लाभ नहीं और नहीं देने से कोई हानि भी नहीं।

बौद्ध परम्परा में आचार की प्रधानता रही। प्रज्ञा और समाधि का महत्त्व भी कम नहीं है, फिर भी प्रधानता शील की ही है। शील शब्द यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनुष्य जीवन के उत्थान के लिए जितने भी प्रकार के सत्कर्म हैं वे सब शील में समाहित हो जाते हैं। बुद्ध ने शील को बहुत ही महत्त्व दिया है। तत्त्व पर इतना जोर नहीं दिया गया, जितना शील पर दिया गया है, जितना सदाचार पर दिया गया है। दान भी एक सत्कर्म है, अतः यह भी शील की ही सीमा के अन्दर आ जाता है। बौद्ध धर्म में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जिन दशपारमिताओं का वर्णन किया गया है, उनमें से एक पारमिता दान को भी माना गया है। दान की पूर्णता भी बुद्धत्व लाभ का मुख्य कारण माना गया है। दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने 'दीर्घनिकाय' में कहा है कि "सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथ से दान दो, मन से दान दो, दोष रहित पवित्र दान दो।" इस कथन में दान के विषय में चार बातें कही गई हैं – दान सत्कारपूर्वक हो, अपने हाथ से दिया गया हो, भावना पूर्वक दिया हो और दोष शून्य हो। इस प्रकार के दान को पवित्र दान कहा गया है। 'संयुत्तनिकाय' में भी बुद्ध ने कहा है—"श्रद्धा से दिया गया दान, प्रशस्त है। दान से भी बढ़कर धर्म के स्वरूप को समझाया है।" इस कथन में स्पष्ट है कि यदि दान में श्रद्धा भाव नहीं है, तो वह दान, तुच्छ दान है। जो भी देना हो, जितना भी देना हो, वह श्रद्धा से दिया जाना चाहिए, तभी देने की सार्थकता कही जा सकती है। हीन भाव से दिया गया दान अथवा अनादर से दिया गया दान, प्रशस्त दान नहीं कहा जा सकता। 'धम्मपद' में भी दान के सम्बन्ध में बुद्ध ने बहुत सुन्दर कहा है "धर्म का दान, सब दानों से बढ़कर है। धर्म का रस, सब रसों से श्रेष्ठ है।" धर्म-विमुख मनुष्य को धर्मपथ पर लगा देना भी एक दान ही है।

बौद्ध परम्परा में अनेक व्यक्तियों ने संघ को दान दिया था। अनाथपिण्ड ने जेतवन का दान बौद्ध संघ को दिया था। राजगृह में,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेणुवन भी दान में ही मिला है। वैशाली में आम्रपाली ने अपना उपवन बुद्ध को दान में दे दिया था। सम्राट् अशोक ने भी हजारों विहार बौद्ध भिक्षुओं के आवास के लिए दान में दे डाले थे। बौद्ध परम्परा का इतिहास दान की महिमा से और दान की गरिमा से भरा पड़ा है। बौद्ध धर्म में दान को एक महान् सत्कर्म माना गया है। यह एक महान् धर्म है। यही कारण है कि इस धर्म में दान को बहुत बड़ा महत्त्व मिला है।

जैन-परम्परा में भी दान को एक सत्कर्म माना गया है। जैन धर्म न एकान्त क्रियावादी है, न एकान्त ज्ञानवादी है और न एकान्त श्रद्धा-वादी ही है। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण—इन तीनों के समन्वय से ही मोक्ष की संप्राप्ति होती है। फिर भी जैन धर्म को आचार-प्रधान कहा जा सकता है। ज्ञान कितना भी ऊँचा हो, यदि साथ में उसका आचरण नहीं है, तो जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। जैन-परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग कहा गया है। दान का सम्बन्ध चारित्र से ही माना गया है। आहारदान, औषधदान और अभयदान आदि अनेक प्रकार के दानों का वर्णन विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृतांग' सूत्र में अभयदान को सबसे श्रेष्ठ दान कहा है– दाणाठा सेट्ठम भयप्पयाणं।" दूसरों के प्राणों की रक्षा ही अभयदान है। आज की भाषा में इसे ही जीवनदान कहा गया है। दान के सम्बन्ध में महा-वीर ने, 'स्थानांग सूत्र' में कहा है--"मेघ चार प्रकार के होते हैं—एक गर्जना करता है, पर वर्षा नहीं करता। दूसरा वर्षा करता है, पर गर्जना नहीं करता। तीसरा गर्जना भी करता है और वर्षा भी करता है। चौथा न गर्जना करता है और न वर्षा करता है।" मेघ के समान मनुष्य भी चार प्रकार के हैं–कुछ बोलते हैं, देते नहीं। कुछ देते हैं, किन्तु कभी बोलते नहीं। कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं। कुछ न बोलते हैं, न देते ही हैं। महावीर के इस कथन से दान की महिमा एवं गरिमा स्पष्ट हो जाती है। जैन परम्परा में धर्म के चार अंग स्वीकार किए हैं—दान, शील, तप एवं भाव। इनमें दान ही मुख्य एवं प्रथम है। "सुखविपाक सूत्र" में दान का ही गौरव गाया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में दान-विचार

वेद-परम्परा के साहित्य में भी दान की मीमांसा पर्याप्त हुई है। मूल वेदों में भी यत्र-तत्र दान की महिमा है। उपनिषदों में ज्ञान-साधना की प्रधानता होने से आचारों को गौण स्थान मिला है। परन्तु आचार-मूलक ब्राह्मण-साहित्य में, आरण्यक-साहित्य में और स्मृति-साहित्य में दान के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। आरण्यक में कहा गया है कि "सभी प्राणी दान की प्रशंसा करते हैं, दान से बढ़कर अन्य कुछ दुर्लभ नहीं है।" इस वाक्य में दान को दुर्लभ कहा गया है, जिसका अभिप्राय है कि दान करना आसान काम नहीं है। हर कोई दान नहीं कर सकता है। सम्पत्ति बहुतों के पास हो सकती है, पर उसका मोह छोड़ना सरल नहीं है। वस्तु पर से जब तक ममता न छूटे, तब तक दान नहीं किया जा सकता। ममता को जीतना ही दान है। एक दूसरे स्थान पर भी 'आरण्यक' में कहा गया है—"दान से शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, दान में सब कुछ प्रतिष्ठित है।" इस वस्तु में दान को जीवन का आधार माना गया है और दान की व्यापक व्याख्या की गई है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में दान का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। पाराशर स्मृति में दान के सम्बन्ध में कहा है—"ग्रहीता के पास स्वयं जाकर दान देना, उत्तम दान है। उसे अपने पास बुलाकर देना, मध्यम दान है। उसके बार-बार माँगने पर देना, अधम दान है। उससे खूब सेवा कराकर देना, निष्फल दान है।" इसमें दान के चार प्रकार कहे गये हैं। चतुर्थ प्रकार के दान को ही हीन कोटि का कहा गया है। देना भी, पर परेशान करके देना, सेवा कराकर देना, उसे लज्जित करके देना उत्कृष्ट दान नहीं है। दान की घोषणा करना पर देना कुछ भी नहीं भी उचित नहीं है।

गीता के १७वें अध्याय के श्लोक २०, २१ एवं २२ में तीन प्रकार के दानों का कथन मिलता है—"सात्त्विक दान, राजस दान और तामस दान।" जो दान कर्त्तव्य समझकर दिया जाता है तथा जो देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है, जो दान अनुपकारी को दिया जाता है, उसे गीता में श्रेष्ठ दान, उत्तम दान एवं सात्त्विक दान कहा गया है। यह दान किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा से रहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। जो दान क्लेशमूलक हो, फल की आशा रखकर दिया गया हो, फल को दृष्टि में रखकर दिया गया हो, वह दान मध्यम है, उसे राजस दान कहा गया है। जो दान, बिना सत्कार के दिया गया हो, अपमान के साथ दिया गया हो, देश, काल और पात्र का विचार किए बिना दिया गया हो, जो दान किसी कुपात्र को दिया गया हो, वह अधम दान है। वह दान तामसदान कहा गया है। इस प्रकार गीता के तीन श्लोकों में दान की जो मीमांसा की गई है, वह दान की दार्शनिक व्याख्या है। इन श्लोकों में दान की केवल गरिमा तथा महिमा का वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि दान की व्याख्या, दान की परिभाषा और दान की मीमांसा की गई है। कहा गया है कि अपनी वस्तु भर किसी को दे डालना दान नहीं कहा जा सकता। उसमें दाता के भाव का भी मूल्य है। देश और काल की परिस्थिति पर भी विचार किया जाना चाहिए। दान किसको दिया जा रहा है, उस पात्र की, उस ग्रहीता की योग्यता पर भी विचार करना चाहिए। किसी को कुछ देने भर से ही दान नहीं हो जाता। गीताकार ने दान की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। अतः यह व्याख्या अत्यन्त ही सुन्दर रही है। मनुष्य के चित्त में उठने वाले सत्त्वभाव, रजोभाव और तमोभाव के आधार पर दान के परिणाम भी तीन प्रकार के बताए गये हैं। सत्त्वभाव से दिया गया दान दाता और पात्र दोनों के लिए हितकर है। रजोभाव से दिया गया दान, चित्त में चंचलता ही उत्पन्न करता है। तमोभाव से दिया गया दान, चित्त में मूढ़ता ही उत्पन्न करता है।

भगवान् महावीर ने बहुत सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया है—**मुधादायी** और **मुधाजीवी**। दान वही श्रेष्ठ है, जिससे दाता का भी कल्याण हो और ग्रहीता का भी कल्याण हो। दाता स्वार्थ रहित होकर दे और पात्र भी स्वार्थ-शून्य होकर ग्रहण करे। भारतीय साहित्य में इन दो शब्दों से सुन्दर शब्द, दान के सम्बन्ध में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। दाता और ग्रहीता तथा दाता और पात्र—शब्दों में वह गरिमा नहीं है, जो मुधादायी और मुधाजीवी में है। 'मुधा' शब्द का अभिधेय अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ है - व्यर्थ। परन्तु लक्षणा के द्वारा इसका लक्ष्यार्थ होगा --स्वार्थ रहित। व्यञ्जना के द्वारा व्यंग्यार्थ होगा—वह दान,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके देने से दाता के मन में अहंभाव न हो और लेने वाले के मन में दैन्यभाव न हो। इस प्रकार का दान विशुद्ध दान है, यह दान ही वस्तुतः मोक्ष का कारण है। न देने वाले को किसी प्रकार का भार और न लेने वाले को किसी प्रकार की ग्लानि। यह एक प्रकार का धर्मदान कहा जा सकता है। शास्त्रों में जो दान की महिमा का कथन किया गया है, वह इसी प्रकार के दान का है। यह भव-बन्धन काटने वाला है। यह भव-परम्परा का अन्त करने वाला दान है।

रामायण-महाभारत में दान की महिमा

संस्कृत साहित्य के इतिहास में, जिसे इतिहासविद् विद्वानों ने महाकाव्य काल कहा है, उसमें भी दान के सम्बन्ध में उदात्त विचारों की झलक मिलती है। महाकाव्य काल के काव्यों में सबसे महान् एवं विशाल काव्य दो हैं—रामायण और महाभारत। अन्य महाकाव्यों के प्रेरणा-स्रोत ये ही महाकाव्य हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने अपने प्रसिद्ध काव्यशास्त्र ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में कहा है—" 'रामायण' महाकाव्य है, करुण रस उसका मुख्य रस है, अन्य रस उसके अंगभूत हैं। 'महाभारत' भी एक महाकाव्य है, शान्त रस उसका प्रधान रस है। शान्त रस अंगी है, और अन्य रस उसके अंग हैं।" इन दोनों महाकाव्यों में यथाप्रसंग अनेक स्थानों पर दान के सम्बन्ध में वर्णन उपलब्ध होते हैं। कुछ प्रसंग तो अत्यन्त हृदयस्पर्शी कहे जा सकते हैं। 'रामायण' में एक प्रसंग है—राजा दशरथ अपनी रानी कैकेयी को राम के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में समझा रहे हैं। राम के गुणों का वर्णन करते हुए दशरथ कह रहे हैं—"सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, नम्रता, विद्या और गुरुजनों की सेवा—ये सब गुण राम में निश्चित रूप से विद्यमान हैं।" यही राम का व्यक्तित्व है। इन गुणों में दान की भी परिगणना की गई है। यह कथन 'अयोध्या काण्ड' में किया गया है। दान से सर्वजन प्रियता उपलब्ध होती है। राम अपने मित्रों के प्रति ही उदार नहीं थे, अपने विरुद्ध आचरण करने वालों के प्रति भी उदार थे। उदार व्यक्ति में ही दाता होने की क्षमता होती है। राम के दान गुण का रामायण में अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। एक प्रसंग पर राम ने कहा है कि दान देना हो, तो मधुर वचन के साथ दो।

महाभारत में विस्तार के साथ दान का वर्णन अनेक प्रसंगों पर किया गया है। 'महाभारत' में कर्ण, 'दानवीर' के रूप में प्रसिद्ध है। अपने द्वार पर आने वाले किसी भी व्यक्ति को वह निराश नहीं लौटने देता। अपनी कितनी भी हानि हो, पर याचक को वह निराश नहीं लौटने देता। धर्मराज युधिष्ठिर का भी जीवन अत्यन्त उदार वर्णित किया गया है। महाभारत के एक प्रसंग पर कहा गया है—"तप, दान, श्रम, दम, लज्जा, सरलता, सर्वभूतों पर दया सन्तों ने स्वर्ग के ये सात द्वार कहे हैं।" इस कथन में भी दान की महिमा गाई गई है। एक अन्य प्रसग पर कहा गया है—"धन का फल दान और भोग है।" धन प्राप्त करके भी जिसने अपने जीवन में न तो दान ही दिया और न उसका उपभोग ही किया है, उसका धन प्राप्त करना ही निष्फल कहा गया है। महाभारत में युधिष्ठिर और नागराज के संवाद में कहा गया है—"सत्य, दम, तप, दान अहिंसा, धर्म-परायणता आदि सद्गुण ही मनुष्य की सिद्धि के हेतु हैं, उसकी जाति और कुल नहीं।" इस कथन से फलित होता है, कि दान आदि मनुष्य की महानता के मुख्य कारण रहे हैं। किसी जाति में जन्म लेना और किसी कुल में उत्पन्न होना, उसकी महानता के कारण नहीं हैं। इस प्रकार महाभारत में स्थान-स्थान पर दान की गरिमा और दान की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। दान भव्यता का द्वार है, दान स्वर्ग का द्वार है, दान मोक्ष का द्वार है। दान से महान् अन्य कौन-सा धर्म होगा ? इन महाकाव्यों में दान का वर्णन व्याख्या रूप में ही नहीं, आख्यान रूप में भी किया गया है। कथाओं के आधार पर दान का गौरव बताया गया है।

संस्कृत महाकाव्यों में दान पर विचार

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों को दो विभागों में विभक्त किया गया है लघुत्रयी और बृहत्त्रयी। लघुत्रयी में महाकवि कालिदास कृत तीन काव्यों की गणना की गई है—'रघुवंश', 'कुमार सम्भव' और 'मेघदूत'। मेघदूत एक खण्ड काव्य है, शृंगार प्रधान काव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काव्यगत गुणों की दृष्टि से यह श्रेष्ठ काव्य माना गया है। इसमें दान की महिमा के प्रसंग अत्यन्त विरल रहे हैं, फिर भी शून्यता नहीं रही। काव्य का नायक यक्ष अपने मित्र मेघ से कहता है—हे मित्र ! याचना करनी हो, तो महान् व्यक्ति से करो, भले ही निष्फल हो जाए, परन्तु नीच व्यक्ति से कभी न माँगो भले ही वह सफल भी हो जाए।' इसमें कहा गया है कि महान् व्यक्ति से ही दान की माँग करो, हीन व्यक्ति से नहीं, इस कथन में कालिदास ने दान का महान् रहस्य प्रकट कर दिया है।

'कुमार सम्भव' महाकाव्य में महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती का वर्णन किया है। यथाप्रसंग जीवन के अनेक रहस्यों के मर्म का प्रकाशन भी किया है। शिव को कवि ने आशुतोष कहा है। शिव सबको वरदान देते हैं, किसी को भी अभिशाप नहीं। कवि ने अनेक स्थलों पर शिव की दान-वीरता का मधुर भाषा में वर्णन किया है। शिव ने अपनी भोग साधना में विघ्न डालने वाले कामदेव को जब तृतीय नेत्र से भस्म कर दिया, तो उसकी पत्नी रति विलाप करती हुई, शिव के समक्ष उपस्थित होकर, अपने पति के पुनर्जीवन का वरदान माँगती है। रति के शोक से अभिभूत होकर शिव उसे जीवनदान का वरदान दे बैठते हैं। यह कवि की अलंकृत भाषा है। परन्तु इस कथन से शिव की दान-शीलता का स्पष्ट चित्रण हो जाता है, यही अभीष्ट भी है।

कवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'रघुवंश' में रघुवंश के राजाओं का विस्तार से वर्णन किया है। दिलीप, रघु, अज, दशरथ राम और लव-कुश आदि रघुवंशीय राजाओं की दानशीलता का कवि ने प्रस्तुत काव्य के अनेक सर्गों में वर्णन किया है। एक स्थल पर कहा गया है—'जैसे मेघ पृथ्वी से पानी खींच कर, फिर वर्षा के रूप में उसे पुनः लौटा देता है वैसे ही रघुवंशीय राजा अपने प्रजाओं से कर लेकर, दान के रूप में वापस लौटा देते हैं।' रघुवंश काव्य में ही एक दूसरा सुन्दर प्रसंग है—'वरतन्तु का शिष्य कौत्स, अपने गुरु को दक्षिणा देने का संकल्प करता है। वह याचना करने के लिए राजा रघु के द्वार पर पहुँचा, पर पता लगा, कि राजा सर्वस्व का दान कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुका है। निराश लौटने को तैयार, पर रघु लौटने नहीं देता। तीन दिनों तक रुक जाने की प्रार्थना करता है। राजा रघु उसकी इच्छा पूरी करके उसे गुरु के आश्रम में भेजता है।' रघुवंश महाकाव्य का यह प्रसंग अत्यन्त सुन्दर हृदयस्पर्शी और मार्मिक बन पड़ा है। दान की गरिमा का और दान की महिमा का इससे सुन्दर चित्रण अन्यत्र दुर्लभ ही है।

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के मधुर उद्गाता कवि हैं। अपने तीन नाटकों—शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में भी अनेक स्थलों पर दान के सुन्दर प्रसंगों की चर्चा की है, कहीं संकेत देकर ही आगे बढ़ गये हैं। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य में और नाटकों में दान के सम्बन्ध में काफी कहा गया है। यहां पर अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही उल्लेख किया गया है।

संस्कृत महाकाव्यों में बृहत्त्रयी में तीन का समावेश होता है—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधचरित। महाकवि भारवि ने अपने काव्य 'किरातार्जुनीय' में किरातरूपधारी शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन किया है। शिव के वरदान का और उसकी दानशीलता का काव्यमय भव्य वर्णन किया है। महाकवि माघ ने 'शिशुपाल वध' में अनेक स्थलों पर दान का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। माघ स्वयं भी उदार एवं दानी माने जाते रहे हैं। कोई भी याचक द्वार से खाली हाथ नहीं लौट पाता था। कवि का यह दान गुण उनके समस्त काव्य में परिव्याप्त है। श्री हर्ष ने अपने प्रसिद्ध काव्य नैषध में राजा नल और दमयन्ती का वर्णन किया है, जिसमें राजा नल की उदारता और दान-शीलता का भव्य वर्णन किया गया है।

संस्कृत के पुराण साहित्य में दान

संस्कृत के पुराण साहित्य में, दान का विविध वर्णन विस्तार से किया गया है। व्यास रचित अष्टादशपुराणों में से एक भी पुराण इस प्रकार का नहीं है, जिसमें दान का वर्णन नहीं किया गया हो। दान के विषय में उपदेश और कथाएँ भरी पड़ी हैं। रूपक तथा कथाओं के माध्यम से दान के सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन किया गया है। जैन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परम्परा के पुराणों में – आदिपुराण, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि में दान सम्बन्धी उपदेश तथा कथाएँ प्रचुर मात्रा में आज भी उपलब्ध हैं, जिनमें विस्तार के साथ दान की महिमा वर्णित है। इसके अतिरिक्त धन्यचरित्र, शालिभद्रचरित्र तथा अन्य चरित्रों में दान की महिमा, दान का फल और दान के लाभ बताए गए हैं। बौद्ध परम्परा के जातकों में दान सम्बन्धी कथाएँ विस्तार के साथ वर्णित हैं। बुद्ध के पूर्वभवों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध है। बुद्ध ने अपने पूर्व भवों में दान कैसे दिया और किसको दिया और कब दिया आदि विषयों का उल्लेख जातक कथाओं में विशदरूप में किया गया है। जैन-परम्परा के आगमों की संस्कृत टीकाओं में तथा प्राकृत टीकाओं में तीर्थंकरों के पूर्वभवों का जो वर्णन उपलब्ध है, उसमें भी दान के विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है। आहार दान, शास्त्रदान, वस्त्रदान और औषध दान के सम्बन्ध में कहीं पर कथाओं के आधार से तथा कहीं पर उपदेश के रूप में दान की महिमा का उल्लेख बहुत ही विस्तार से हुआ है। इन दानों में विशेष उल्लेख योग्य है – शास्त्र दान। हजारों श्रावक एवं भक्त जन साधुओं को लिखित शास्त्रों का दान करते रहे हैं। अन्य दानों की अपेक्षा इस दान का विशेष महत्त्व माना जाता था। शिष्य दान का भी उल्लेख शास्त्रों में आया है। पुराणों में आश्रम दान, भूमिदान और अन्नदान का स्थान-स्थान पर उल्लेख उपलब्ध है। जैन-परम्परा के श्रमण, मुनि और तपस्वी आश्रम और भूमि को दान के रूप में ग्रहण नहीं करते थे। रजत और सुवर्ण आदि का दान भी ये ग्रहण नहीं करते थे। परन्तु संन्यासी, तापस और बौद्ध भिक्षु इस प्रकार के दानों को सहर्ष स्वीकार करते रहे हैं, और दाताओं की खूब प्रशंसा भी करते रहे हैं।

संस्कृत-साहित्य के पुराणों में भागवत पुराण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसमें कृष्ण जीवन पर बहुत लिखा गया है, साथ ही दान के विषय में विस्तार से लिखा गया है। भागवत के दशम स्कन्ध के पञ्चम अध्याय में, दान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है "दान न करने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है, दरिद्र होने से वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप करने लगता है, पाप के प्रभाव से वह नरकगामी बन जाता है, और बार-बार दरिद्र तथा पापी होता रहता है।" दान न देने के कितने भयंकर परिणाम भोगने पड़ते हैं। दान के अभाव में मनुष्य का कैसा एवं कितना पतन हो जाता है। फिर उससे अगले ही श्लोक में, दान के सद्भाव का वर्णन किया गया है "सत्पात्र को दान देने से मनुष्य धन-सम्पन्न हो जाता है, धनवान् होकर वह पुण्य का उपार्जन करता है, फिर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गगामी बन जाता है, और फिर बार-बार धनवान् और दाता बनता रहता है।" इसमें बताया गया है, कि दान का परिणाम कितना सुखद और कितना सुन्दर होता है। दान न करने से क्या हानि हो सकती है और दान करने से क्या लाभ हो सकता है ? गुण-दोषों का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है। अन्य पुराणों में भी दान के सम्बन्ध में यथाप्रसंग काफी लिखा गया है। कहीं पर उपदेश के द्वारा, तो कहीं पर कथा के द्वारा दान की गरिमा तथा दान की महिमा का विशद निरूपण किया गया है। सत्पात्र को देने से पुण्य और अपात्र को देने से पाप होता है, इसका भी उल्लेख किया गया है। दाता की प्रशंसा और अदाता की निन्दा भी की है।

संस्कृत के नीति-काव्यों में दान की गरिमा

जैन परम्परा के कथात्मक नीति ग्रन्थों में दान का बहुत विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। महाकवि धनपाल द्वारा रचित 'तिलक-मञ्जरी' में जीवन से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों का वर्णन सुन्दर और मधुर शैली में तथा प्राञ्जल भाषा में हुआ है। उसमें दान की महिमा का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। दान का फल क्या है ? दान कैसे देना चाहिए ? दान किसको देना चाहिए ? इन विषयों पर विस्तार से लिखा गया है। आचार्य सोमदेवसूरि कृत 'यशस्तिल-कचम्पू' में धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अध्यात्म भावों का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण हुआ है। संस्कृत साहित्य में यह ग्रन्थ अद्वितीय एवं अनुपम माना जाता है। मनुष्य जीवन से सम्बद्ध बहुविध सामग्री उसमें उपलब्ध होती है। साधु जीवन और गृहस्थ जीवन के सुन्दर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। भाव, भाषा और शैली सुन्दर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही है। उसमें यथाप्रसंग अनेक स्थलों पर दान की महिमा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य काव्य ग्रन्थों में, कथात्मक ग्रन्थों में और चरित्रात्मक ग्रन्थों में भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार में वर्णन हुआ है। जैन-परम्परा के नीति-प्रधान उपदेश ग्रन्थों में तथा संस्कृत और प्राकृत के सुभाषित ग्रन्थों में और धर्मग्रन्थों में भी दान का बहुमुखी वर्णन उपलब्ध होता है। कुछ ग्रन्थ तो केवल दान के सम्बन्ध में ही लिखे गये हैं। अतः दान के विषय पर लिखे गये ग्रन्थों की बहुलता रही है। नीतिवाक्यामृत और अर्हन्नीति जैसे ग्रन्थों में अन्य विषयों के प्रतिपादन के साथ-साथ दान के विषय पर भी काफी प्रकाश डाला गया है, जो आज भी उपलब्ध होता है।

संस्कृत-साहित्य के नीति-प्रधान ग्रन्थों में भर्तृहरिकृत शृंगार-शतक, वैराग्य-शतक तथा नीतिशतक जैसे मधुर नीति काव्यों में मनुष्य जीवन को सुन्दर एवं सुखद बनाने के लिए बहुत कुछ लिखा गया है। भर्तृहरि ने अपने दीर्घ जीवन के अनुभवों के आधार पर जो कुछभी लिखा था, वह आज भी उतना ही सत्य एवं जनप्रिय माना जाता है। उनके शतकत्रय में दान के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। उन्होंने दान को अमृत भी कहा है। दान मनुष्य जीवन का एक श्रेष्ठ गुण कहा गया है। मनुष्य के आचरण से सम्बन्ध रखने वाले गुणों में दान सबसे ऊँचा गुण माना गया है। एक स्थल पर कहा गया है—"मनुष्य के धन की तीन ही गति हैं—दान, भोग और नाश। जो मनुष्य न दान करता हो, न उपभोग करता हो, उसका धन पड़ा-पड़ा नष्ट हो जाता है। "संस्कृत के नीति काव्यों में 'कवि-कण्ठाभरण' भी बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। उसमें दान के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। 'सुभाषित रत्नभाण्डागार' एक विशालकाय महाग्रन्थ है, जिसमें दान के विषय में अनेक प्रकरण हैं। 'सूक्ति सुधा संग्रह' सुभाषित वचनों का एक सुन्दर संग्रह ग्रन्थ है, उसमें भी दान के सम्बन्ध में बहुत लिखा गया है। 'सुभाषित सप्तशती' में भी दान के विषय में बहुत सुभाषित कथन मिलते हैं। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रन्थ भी सूक्तियों का एक विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और पालि ग्रन्थों से संग्रह किया गया है। इसमें दान के विषय में अद्भुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्री प्रस्तुत की गयी है । वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के धर्मग्रन्थ और अध्यात्म ग्रन्थों से दान के विषय में काफी सुन्दर संकलन किया गया है। यह प्रवक्ता, लेखक और उपदेशकों के लिए एक सुन्दर कृति कही जा सकती है। एक ही इस ग्रन्थ में तीन परम्पराओं के दान सम्बन्धी विचार उपलब्ध हो जाते हैं। अपने-अपने युग में वैदिक, जैन और बौद्ध आचार्यों ने लोककल्याण के लिए, लोक मंगल के लिए और जीवन उत्थान के लिए बहुत-से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था । उनमें से दान भी एक मुख्य सिद्धान्त रहा है। प्रत्येक परम्परा ने दान के विषय में अपने देश और काल के अनुसार दान की मीमांसा की है, दान पर विचार-चर्चा की है और दान पर अपनी मान्यताओं का विश्लेषण भी किया है। दान की मर्यादा, दान की सीमा, दान की परिभाषा और दान की व्याख्या सबकी एक जैसी न भी हो, परन्तु दान को भारत की समस्त परम्पराओं ने सहर्ष स्वीकार किया है, उसकी महिमा का गान किया है ।

हिन्दी काव्य और दान

हिन्दी साहित्य की नीति-प्रधान कविताओं में भी दान के विषय में काफी लिखा गया है। 'तुलसी दोहावली', 'रहीम दोहावली' और 'बिहारी सतसई' तथा सूर के पदों में भी दान की गरिमा का और दान की महिमा का विस्तार से उल्लेख हुआ है। तुलसी का 'रामचरितमानस' तो एक प्रकार का सागर ही है, जिसमें दान के विषय में अनेक स्थलों पर बहुत कुछ लिखा गया है। हिन्दी के अनेक कवियों ने इस प्रकार के जीवन चरितों की रचना भी की है, जिनमें विशेष रूप से दान की महिमा का ही वर्णन किया गया है। राम भक्त कवियों ने, कृष्ण भक्त कवियों ने और प्रेममार्गी सूफी कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों में, दान के विषय में यथाप्रसंग काफी लिखा है। दान की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सका है। कबीर ने भी अपने पदों में और दोहों में दान के विषय में यथाप्रसंग बहुत लिखा है। अपने एक दोहे में कबीर ने कहा है—'यदि नाव में जल बढ़ जाए और घर में दाम बढ़ जाए तो उसे दोनों हाथों से बाहर निकाल देना चाहिए, बुद्धिमानों का यही समझदारी का काम है।' तुलसी दोहावली में भी दान के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय में कहा गया है सरिता में से, यदि पक्षी थोड़ा जल पान कर लेता है, तो क्या उसका पानी कम पड़ जाएगा ? नहीं। ठीक इसी प्रकार दान देने से भी धन घटता नहीं है।' स्वामी रामतीर्थ ने दान के सम्बन्ध में कहा है—'दान देना ही धन पाने का एक मात्र द्वार है।' सन्त विनोबा ने कहा है—'बुद्धि और भावना के सहयोग से जो क्रिया होती है, वही सुन्दर है। दान का अर्थ—फेंकना नहीं, बल्कि बोना ही है।'

भारत के अपने धर्मों के समान बाहर से आकर पनपे ईसाई और मुस्लिम धर्मों में भी दान का बड़ा ही महत्त्व माना गया है। बाइबिल और कुरान में भी ईसा और मुहम्मद ने अनेक स्थलों पर दान की महिमा का यथाप्रसंग वर्णन ही नहीं किया, बल्कि उस पर पर्याप्त बल भी डाला है। दान के अभाव में ईसा मनुष्य का कल्याण नहीं मानते थे। ईसा ने प्रार्थना और सेवा पर विशेष बल दिया था, पर दान को भी कम महत्त्व नहीं दिया। बाइबिल में दान के विषय में कहा गया है 'तुम्हारा दाँया हाथ जो देता है, उसे बाँया हाथ न जान सके, ऐसा दान दो।' इस कथन का अभिप्राय इतना ही है, कि दान देकर उसका प्रचार मत करो। अपनी प्रशंसा मत करो। जो दे दिया, सो दे दिया। उसका कथन भी न करो। कुरान में दान के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कहा गया है 'प्रार्थना ईश्वर की तरफ आधे रास्ते तक ले जाती है। उपवास महल के द्वार तक पहुँचा देता है, और दान से हम अन्दर प्रवेश करते हैं।' इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जीवन में दान का कितना महत्त्व रहा है। प्रार्थना और उपवास से भी अधिक महत्त्व यहाँ पर दान का माना गया है। मुस्लिम विद्वान् शेखसादी ने कहा है—'दानी के पास धन नहीं होता और धनी कभी दानी नहीं होता।' कितनी सुन्दर बात कही गई है। जिसमें देने की शक्ति है, उसके पास देने को कुछ भी नहीं, और जिसमें देने की शक्ति न हो उसके पास सब कुछ इकठ्ठा होता रहता है। अतः दान देना, उतना सरल नहीं है, जितना समझ लिया गया है। दान से बढ़कर, अन्य कोई पवित्र धर्म नहीं है।

जो अपनी सम्पदा को जोड़-जोड़कर जमा करता रहता है। उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाषाण हृदय को क्या मालूम कि दान में कितनी मिठास है। जो बिना माँगे ही देता हो, वही श्रेष्ठ दाता है। एक कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है –'दान से सभी प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया भी अपना हो जाता है। अधिक क्या कहें, दान सभी विपत्तियों का नाश कर देता है।' कवि के इस कथन से दान की गरिमा और दान की महिमा स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समग्र साहित्य दान की महिमा से भरा पड़ा है। संसार में न कभी दाताओं की कमी रही है, और न दान लेने वाले लोगों की ही कमी रही है। दान की परम्परा संसार में सदा चलती ही रहेगी।

आचार-शास्त्र में दान की मीमांसा

जैन-परम्परा के आचार-शास्त्र के ग्रन्थों में, फिर भले ही वे ग्रंथ संस्कृत भाषा में हों, अथवा प्राकृत-अपभ्रंश भाषा में भी लिखे गए हों, सब ग्रन्थों में आचार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कहीं पर संक्षेप में और कहीं पर विस्तार में किया गया है। साधु जीवन के आचार का भी वर्णन किया गया है। परन्तु इस प्रकार के ग्रन्थों की भी भूयसी संख्या है, जिनमें केवल श्रावक के आचार का ही वर्णन किया गया है। उन ग्रन्थों में सागारधर्मामृत, वसुनन्दी श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, उपासकाऽध्ययन, ज्ञानार्णव, योग-शास्त्र तथा उपासकदशांग सूत्र मुख्य कहे जा सकते हैं। इनमें आचार के सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकार के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है। त्यागी जीवन से सम्बद्ध सभी बातों का समावेश इन ग्रन्थों में कर दिया गया है।

श्रावक के इस आचार में दान का भी समावेश हो जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ में दान की गरिमा और दान की महिमा का वर्णन किया गया है। उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है। बताया गया है, कि दान देना क्यों आवश्यक है ? देना, जीवन के विकास का एक अनिवार्य सिद्धान्त है। दान देने से किस गुण की अभिवृद्धि होती है ? दान किस प्रकार का होना चाहिए ? दान का स्वरूप क्या है ? दान के प्रकार कितने हैं ? दाता के भाव कैसे रहने चाहिए ? दान देते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय दान लेने वाला पात्र अथवा ग्रहीता कैसा होना चाहिए ? जो वस्तु दी जा रही है, वह कैसी होनी चाहिए। दान देने की विधि क्या है ? इस प्रकार दान के सम्बन्ध में बहुमुखी विचार इन ग्रन्थों में किया गया है।

जैन-परम्परा के आचार्यों में, जिन्होंने आचार ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें आचार्य अमितगति एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ है—'अमितगति श्रावकाचार।' इसमें बड़े ही विस्तार के साथ दान की मीमांसा की गई है। यह ग्रन्थ पञ्चदश परिच्छेदों में विभक्त है। उसके नवम, दशम और एकादश परिच्छेदों में दान से सम्बद्ध समस्त सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्य विषयों की अपेक्षा, दान का विचार बहुत ही लम्बा है। दान के सम्बन्ध में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार प्रस्तुत किए गए हैं। दान का इतना विस्तार, अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि, सम्भवतः यह ग्रन्थ आचार्य ने दान की महिमा के लिए ही लिखा हो।

नवम परिच्छेद के प्रारम्भ में ही आचार्य ने कहा है—दान, पूजा, शील और उपवास ये चारों ही भवरूप वन को भस्म करने के लिए, आग के समान हैं। पूजा का अर्थ है—जिनदेव की भक्ति। भाव के स्थान पर पूजा का प्रयोग आचार्य ने किया है। दान क्रिया के पाँच अंग माने गए हैं -- दाता, देयवस्तु, पात्र, विधि और मति। यहाँ पर मति का अर्थ है विचार। बिना विचार के, बिना भाव के दान कैसे दिया जा सकता है ? आचार्य अमितगति ने दाता के सात भेदों का उल्लेख किया है – भक्तिमान् हो, प्रसन्नचित्त हो, श्रद्धावान् हो, विज्ञान सहित हो, लोलुपता रहित हो, शक्तिमान् हो और क्षमावान् हो। 'विज्ञान वाला हो' से अभिप्राय यह है कि दाता, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञाता हो। अन्यथा, दान की क्रिया निष्फल हो सकती है, अथवा दान का विपरीत परिणाम भी हो सकता है। दाता के कुछ विशेष गुणों का भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है—विनीत हो, भोगों में निःस्पृह हो, समदर्शी हो, प्रियवादी हो, मत्सर-रहित हो, संघवत्सल हो और वह सेवा परायण भी हो। दान की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है –"जिस घर में से योगी को भोजन न दिया गया हो, उस गृहस्थ के भोजन से क्या प्रयोजन ? कुबेर की निधि भी उसे मिल जाये, तो क्या ? योगी की शोभा ध्यान से होती है, तपस्वी की शोभा संयम से होती है, राजा की शोभा सत्य-वचन से और गृहस्थ की शोभा दान से होती है।" आचार्य ने यह भी कहा है – जो भोजन करने से पूर्व साधु के आगमन की प्रतीक्षा करता है, साधु का लाभ न मिलने पर भी वह दान का भागी है।

विधि सहित दान का महत्त्व बताते हुए आचार्य ने कहा—"विधिपूर्वक दिया गया थोड़ा दान भी महाफल प्रदान करता है। जिस प्रकार धरती में बोया गया छोटा-सा वट-बीज भी समय पर एक विशाल वृक्ष के रूप में चारों ओर फैल जाता है, जिसकी छाया में हजारों प्राणी सुख भोग करते हैं, उसी प्रकार विधि सहित छोटा दान भी महाफल देता है।" दान के फल के सम्बन्ध में, आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा है—"जैसे मेघ से गिरने वाला जल एक रूप होकर भी नीचे आधार को पाकर अनेक रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही एक ही दाता से मिलने वाला दान विभिन्न उत्तम, मध्यम और जघन्य पात्रों को पाकर विभिन्न फल वाला हो जाता है।" कितनी सुन्दर उपमा दी गई है। अपात्र को दिए गए दान के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है—"जैसे कच्चे घड़े में डाला गया जल अधिक देर तक नहीं टिक पाता और घड़ा भी फूट जाता है, वैसे ही विगुण अर्थात् अपात्र को दिया गया दान भी निष्फल हो जाता है, और लेने वाला नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार आचार्य अमितगति ने अपने श्रावकाचार ग्रन्थ में और उसके दशम परिच्छेद में दान, दान का फल आदि विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ विचार किया है।

एकादश परिच्छेद में आचार्य ने विस्तार के साथ अभयदान, अन्नदान, औषधदान और ज्ञानदान—इन चार प्रकार के दानों का वर्णन किया है। वस्तुतः देने योग्य जो वस्तु है, वे चार ही होती हैं, अभय, अन्न, औषध और ज्ञान अर्थात् विवेक। अभय को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अभय से बढ़कर अन्य कोई वस्तु इस जगत् में हो नहीं सकती। भीत को अभय देना ही परमदान है। अन्न अर्थात् आहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देना भी एक दान है । यह शरीर, जिससे मनुष्य धर्म की साधना करता है, बिना अन्न के कैसे टिक सकता है ? संयमी को, त्यागी को भी अपने संयम को स्थिर रखने के लिए अन्न की आवश्यकता पड़ती है । अन्न के अभाव में साधना भी कब तक चल सकती है ? कितना भी बड़ा तपस्वी हो, कितना भी लम्बा तप किया जाए, आखिर अन्न की शरण में तो जाना ही पड़ता है । स्वस्थ शरीर से ही धर्म और कर्म किया जा सकता है । रुग्ण काय से मनुष्य न धर्म कर सकता है, और न कोई शुभ या अशुभ कर्म ही कर सकता है । आरोग्य परम सुख है । उसका साधन है, औषध । अतः शास्त्रकारों ने औषध को भी दान में परिगणित किया है, देय वस्तुओं में उसकी गणना की है । ज्ञान, आत्मा का गुण है । वह तो सदा ही संप्राप्त रहता है । अतः ज्ञान का अर्थ है, विवेक । विवेक का अर्थ है--करने योग्य और न करने योग्य का निर्णय करना । यह शास्त्र के द्वारा ही हो सकता है । जिसने शास्त्र नहीं पढ़े, उसे अन्धा कहा गया है । विधि और निषेध का निर्णय शास्त्र के द्वारा ही होता है । अतः शास्त्र का भी दान कहा गया है ।

इतिहास के संदर्भ में दान-विचार

भारत देश एक धर्म प्रधान देश रहा है । भारत के जन-जन के जीवन में धर्म के संस्कार गहरे और अमिट हैं । यहां का मनुष्य अपने कर्म को, धर्म की कसौटी पर कस कर देखता है । भारत का मनुष्य धन को, जन को, परिवार को, समाज को, अपने जीवन को भी छोड़ सकता है, परन्तु अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता । धर्म उसे अत्यन्त प्रिय रहा है । धर्म के व्याख्याकार ऋषि एवं मुनि सदा नगर से दूर वनों में रहा करते थे । गुरुकुल और आश्रमों की स्थापना नगरों में नहीं, दूर वनों में की गई थी । गुरुकुल और आश्रमों में हजारों छात्र तथा हजारों साधक रहा करते थे । भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था का प्रश्न बड़ा जटिल था । छात्रों के अध्ययन में किसी प्रकार का विघ्न न हो, और साधकों की साधना में किसी प्रकार की बाधा न पड़े इसलिए राजा और सेठ-साहूकार गुरुकुलों को और आश्रमों को दान दिया करते थे । दान के बिना संस्थाओं का चलना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैसे सम्भव हो सकता था ? दान का प्रारम्भ इन गुरुकुलों और आश्रमों से हुआ था। फिर मन्दिर आदि धर्मस्थानों को तथा तीर्थ-भूमि को भी दान की आवश्यकता पड़ी। दान के क्षेत्रों का नया-नया विकास होता रहा और दान की सीमा का विस्तार भी धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहा।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि भारत के तीन विश्व-विद्यालय थे—नालन्दा, तक्षशिला और विक्रमशिला। इन विश्वविद्यालयों में हजारों छात्र अध्ययन करते थे और हजारों अध्यापक अध्यापन कराते थे। ये सब विद्यालय भी दान पर ही जीवित थे, दान पर ही चला करते थे। दान के बिना इन संस्थाओं का जीवित रहना ही सम्भव नहीं था। राजा और सेठ-साहूकारों के उदार दान से ही ये सब चलते रहते थे। साहित्य रचनाओं में भी दान की आवश्यकता पड़ती थी। अजन्ता की गुफाओं का निर्माण, आबू के कलात्मक मन्दिरों का निर्माण बिना दान के कैसे हो सकता था। दान एक व्यक्ति का हो, या फिर अनेक व्यक्तियों के सहयोग से मिला हो, पर सब था, दान पर अवलम्बित ही। कवि को यदि रोटी की चिन्ता बनी रहे, तो वह काव्य की रचना कर ही नहीं सकता। कलाकार यदि जीवन की व्यवस्था में ही लगा रहे, तो कैसे कला का विकास होगा ? कवि को, दार्शनिक को, शिल्पी को और कलाकार को चिन्ताओं से मुक्त करना ही होगा, तभी वह निर्माण कर सकता है। इन समस्याओं के समाधान में से ही दान का जन्म हुआ है। व्यक्ति अकेला जीवित नहीं रह सकता, वह समाजगत होकर ही अपना विकास कर सकता है। अतः दान की प्रतिष्ठा समाज के क्षेत्र में निरन्तर बढ़ती रही है। आज भी संस्थाओं को दान की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कभी पहले थी। संस्था कैसी भी हो, धार्मिक, सामाजिक हो और चाहे राष्ट्रीय हो सब को दान की आवश्यकता रही है, और आज भी उसकी उतनी ही उपयोगिता है। शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, विवेकानन्द आश्रम और गांधीजी के आश्रम—इन सबका जीवन ही दान रहा है। जिसके दान का स्रोत सूख गया, उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। अतः दान की आवश्यकता आज भी उतनी है, जितनी कभी पहले रही है। भारत के इतिहास में अनेक सम्राटों का वर्णन आया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, जिन्होंने जनकल्याण के लिए अपना सर्वस्व दान कर दिया था। सम्राट् अशोक के दान का उल्लेख स्तूपों पर और चट्टानों पर अंकित है। सम्राट हर्ष प्रति पञ्चवर्ष के बाद अपना सब कुछ दान कर डालते थे। संन्यासी, तपस्वी, मुनि और भिक्षुओं को सत्कारपूर्वक दान दिया जाता था। ब्राह्मणों को भी दान दिया जाता था। साधु, संन्यासी, भिक्षु और ब्राह्मण— ये चारों परोपजीवी रहे हैं। दान पर ही ये सब जीवित हैं। दान की परम्परा विलुप्त हो जाए, तो सब समाप्त हो जाए। स्मृति में कहा गया है, कि गृहस्थ जीवन धन्य है, जो सबके भार को उठाकर चल रहा है। गृहस्थ जीवन पर ही सब संस्थाएँ चल रही हैं। अन्य सब दानोपजीवी हैं, एकमात्र गृहस्थ ही दाता है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा बनाम दया

☐ महात्मा गाँधी

अहिंसा और दया में उतना ही अन्तर है जितना सोने में और सोने के गहने में, बीज में और वृक्ष में। जहां दया नहीं वहां अहिंसा नहीं। अतः यों कह सकते हैं कि जिसमें जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है। अपने पर आक्रमण करने वाले को मैं न मारूँ, उसमें अहिंसा भी हो सकती है और नहीं भी। यदि उसे भयवश न मारूँ तो वह अहिंसा नहीं हो सकती। दयाभाव से ज्ञानपूर्वक न मारने में ही अहिंसा है।

जो बात शुद्ध अर्थशास्त्र के विरुद्ध हो वह अहिंसा नहीं हो सकती। जिसमें परम अर्थ हो वह शुद्ध है। अहिंसा का व्यापार घाटे का व्यापार नहीं होता। अहिंसा के दो पलड़ों का जमा खर्च शून्य होता है। अर्थात् उसके दोनों पलड़े समान होते हैं। जो जीने के लिए खाता है, सेवा करने के लिए जीता है, मात्र पेट पालने के लिए कमाता है वह काम करते हुए भी अक्रिय है। क्रियाहीन अहिंसा आकाश कुसुम के समान है क्रिया हाथ पैर से ही होती हो, ऐसा नहीं, मन हाथ-पैर की अपेक्षा बहुत ज्यादा काम करता है। विचार मात्र क्रिया है। विचार रहित अहिंसा हो ही नहीं सकती। अतएव ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अहिंसा निष्क्रिय है और दया सक्रिय है, बल्कि दोनों ही सक्रिय हैं।

सर्वभक्षी जब दया से प्रेरित होकर भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा निश्चित करता है तब उस हद तक वह अहिंसा धर्म का पालन करता है। इसके विपरीत जो रूढ़ि के कारण मांसादि नहीं खाता, वह अच्छा तो करता है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अहिंसा का भाव है ही। जहाँ अहिंसा है वहां ज्ञानपूर्वक दया होनी ही चाहिए।

लेकिन अहिंसा धर्म सच्चा धर्म हो तो व्यवहार में हर तरह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका आचरण करना भूल नहीं बल्कि कर्त्तव्य है। व्यवहार और धर्म के बीच विरोध नहीं होना चाहिए। धर्म का विरोधी व्यवहार छोड़ देने योग्य है। सब जगह सब समय सम्पूर्ण अहिंसा सम्भव नहीं, ऐसा कहकर अहिंसा को एक ओर रख देना हिंसा, मोह और अज्ञान है। सच्चा पुरुषार्थ तो इसमें है कि हमारा आचरण सदा अहिंसा के अनुसार हो। इस तरह आचरण करने वाला मनुष्य अन्त में परम पद प्राप्त करेगा, क्योंकि वह सम्पूर्णतया अहिंसा का पालन करने योग्य बनेगा और यों देहधारी के लिए सम्पूर्ण अहिंसा बीज रूप ही रहेगी। देह धारण के मूल में ही हिंसा है इसी कारण देहधारी के पालने योग्य धर्म का सूचक शब्द निषेधात्मक अहिंसा के रूप में प्रकट हुआ है।

(नव जीवन से साभार)

सारांश

(1) अहिंसा और दया में उतना ही अन्तर है, जितना सोने और सोने के गहने में, बीज और वृक्ष में। (2) जहां दया नहीं वहां अहिंसा नहीं है। (3) क्रियाहीन (निषेधात्मक) अहिंसा आकाश कुसुम के समान है कारण कि विचार मात्र क्रिया है और विचार रहित अहिंसा नहीं हो सकती (4) हिंसा का पूर्ण त्याग ही अहिंसा नहीं है, हिंसा में कमी करना, घटाना, सीमित करना भी अहिंसा का विस्तार है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणा के विविध रूप

☐ मुनि श्री भद्रगुप्त विजय जी

संसार के प्रत्येक जीवात्मा को मित्र मान लिया, मित्र के प्रति स्नेह जाग्रत हो गया, फिर यदि मित्र दुःख में आ गया तो उसका दुःख दूर करने की भावना पैदा होगी ही। 'परदुःखविनाशिनी करुणा' करुणा दूसरों के दुःख मिटाने की प्रेरणा देती ही है। मित्र का दुःख कैसे देखा जाय ! मित्र दुःख में हो और अपन चैन से रहें, ऐसा हो सकता है क्या ?

आत्मा की क्रमिक विकास यात्रा में जब आत्मा काल की अपेक्षा से चरम 'पुद्गल परावर्त' में आता है यानी 'अब वह, निश्चित-निर्धारित काल में मोक्ष पायेगा,' ऐसा केवलज्ञानी की दृष्टि में निश्चित होता है, तब उस जीवात्मा में तीन विशेषताएँ प्रकट होती हैं।

1. दुःखी जीवों के प्रति अत्यन्त दया।
2. गुणवान् पुरुषों के प्रति अद्वेष, और
3. सर्वत्र उचित प्रवृत्ति का पालन।

देखिये, यहाँ सर्व प्रथम बात कौन-सी बतायी ? दया बतायी न ? दया कहो, करुणा कहो, एक ही बात है। मामूली दया नहीं, अत्यन्त दया होती है उस जीवात्मा में। मामूली करुणा और अत्यन्त करुणा का भेद समझ लो। दुःखी जीव को देखकर हृदय में विचार आये कि 'बेचारा दुःखी है, कुछ दूं भूखा है चवन्नी दे दूं खा लेगा कुछ !" यह हुई मामूली करुणा ! चूंकि आप के पास उसको भरपेट खिलाने के पैसे होते हुए भी आपने चवन्नी देकर ही संतोष कर लिया ! अत्यंत करुणा क्या करवाती है, जानते हो ? उसको पेटभर के खिलायेगा। चाहे एक रुपया लगो या दो रुपया लगो। करुणा के चार प्रकार 'षोड़शक' ग्रन्थ में आचार्यदेव ने बताये हैं :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. मोहयुक्त-करुणा
2. असुख-करुणा
3. संवेग करुणा
4. अन्यहित-करुणा

इन चारों प्रकार की करुणा को समझ लो। करुणा का इतना तल-स्पर्शी विवेचन दूसरे ग्रन्थों में नहीं मिलता है। हरिभद्रसूरिजी ने मनो-वैज्ञानिक ढंग से 'षोड़शक' में बहुत ही अच्छा विवेचन किया है।

1. **मोहयुक्त करुणा**—एक करुणा मोह अथवा अज्ञानमूलक होती है। जैसे, एक मां है, उसका लड़का बीमार पड़ा, वैद्य-डॉक्टर ने कहा है : 'इस बच्चे को मिठाई मत खिलाना, तला हुआ कोई पदार्थ मत खिलाना।' घर में मिठाई बनी है, लड़का मिठाई मांगता है मां को लड़के के प्रति खूब प्रेम है, प्रेम के बहाव में वह लड़के को मिठाई खिला देती है। इसको अज्ञानमूलक, मोहजन्य करुणा कहते हैं। माता को ज्ञान नहीं कि मिठाई खाने से लड़के का ज्वर बढ़ जायेगा, बीमारी बढ़ जायेगी ...।' स्वास्थ्य विषयक अज्ञानता के कारण वह खिला देती है मिठाई।

2. **असुख-करुणा**—असुख यानी दुःख। जिसके पास सुख के साधन नहीं है, रहने को घर नहीं, पहनने को वस्त्र नहीं, खाने को अन्न नहीं ऐसे मनुष्यों को मकान, वस्त्र, भोजन आदि देना, करुणा का दूसरा प्रकार है। कोई बीमार है, उसको दवाई देना, सेवा करना, किसी की संकट में सहायता करना, उपद्रव से मुक्त करना वगैरह का करुणा के दूसरे प्रकार में ही समावेश होता है।

दुःखी जीवों के प्रति हृदय में अत्यन्त करुणा होनी चाहिए। जिस मनुष्य में ऐसी करुणा होती है, वह अपने सुख-दुःख का विचार नहीं करता है। अपना सुख देकर भी वह दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है।

3. **संवेग-करुणा**—संवेग का अर्थ होता है मोक्ष की अभिलाषा। जिस पुरुष में ऐसी मोक्षाभिलाषा पैदा हुई हो, वह चाहता है कि 'मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकेला ही मोक्ष में जाऊँ इससे क्या, सब जीव मोक्ष पायें ···परम सुख, परमानन्द, परम शान्ति प्राप्त करें तो बहुत अच्छा !' ऐसे महानुभावों में, संसार के भौतिक सुखों से समृद्ध जीवों के प्रति भी करुणा होती है : 'ये बेचारे संसार के सुखों में लीन हो जायेंगे, राग-रंग और भोगविलास में डूब जायेंगे तो इनकी दुर्गति हो जायेगी भविष्य में दुःखी हो जायेंगे मैं उनको इन क्षणिक सुखों का त्यागी बना दूं अथवा मैं चाहता हूँ कि वे इन सुखों के त्यागी बनें !'

4. **अन्यहित-करुणा**--इस करुणा का क्षेत्र विशाल है। अपितु सर्व जीवों के प्रति हित कामना। सर्व जीवों के प्रति अनुकम्पा अनुग्रहपरकता। प्रीतिजन्य, स्नेहजन्य कोई सम्बन्ध से करुणा नहीं, अपितु सर्व जीवों के प्रति सहज, स्वाभाविक करुणा।

मोहजन्य करुणा का मैंने आपको उदाहरण एक ही दिया है, ऐसे अनेक उदाहरण हैं इसके। यह करुणा उपादेय नहीं हैं। ऐसी करुणा से दूसरे जीवों का हित नहीं होता है, अहित होता है। दूसरे जीव सुखी नहीं बनते, दुःखी बनते हैं। इसलिये करुणा ज्ञानजन्या होनी चाहिए। 'अपने उपाय से सामने वाला जीव सुखी बनेगा या दुःखी, इसका ज्ञान होना चाहिए अपने को। दुःख दूर करने के उपायों का सही ज्ञान होना चाहिए। यदि ऐसा ज्ञान नहीं हो तो 'इसका दुःख दूर हो', इतनी सद्भावना रखनी चाहिए।

दुःखी जीवों के प्रति निर्दयता, कृपाहीनता, उपेक्षावृत्ति, मन की एक बहुत बड़ी अशुद्धि है मलीनता है। 'वह दुःखी है तो मैं क्या करूं ? उसके ऐसे पापकर्म होंगे, अतः भोग रहा है।' यह सोचना घोर निर्दयता है। 'वह तो दुःखी होना ही चाहिए··· उसने कईयों को दुःख दिये हैं····अब उसको मरने दो····।' यह निष्ठुर हृदय का विचार है। 'मुझे उससे क्या लेना-देना है ? वह सुखी हो तो भले, दुःखी हो तो भले····।' यह उपेक्षावृत्ति है, मन की रोगी अवस्था है। ऐसा मन धर्म आराधना के लिए योग्य नहीं है। दुःखी जीवों के प्रति अत्यन्त दया-करुणा होना अनिवार्य माना गया है धर्मक्षेत्र में। दया और करुणा के बिना धर्मक्षेत्र में प्रवेश नहीं हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा मनुष्य भूखा मर रहा हो और आप मजे से मिठाई खा सकते हो ? दूसरा मनुष्य नंगा फिर रहा हो और आप खूब शृंगार सजा सकते हो ? दूसरा व्यक्ति रास्ते में धूली पर सो रहा हो और आप बंगले में 'डनलप' की गद्दी पर सो सकते हो ? दूसरा मनुष्य रोग और व्याधि से कराह रहा हो और आप आनन्द प्रमोद कर सकते हो ? यदि 'हां' तो आपका हृदय निर्दय है, करुणाहीन है, आप परमात्मा जिनेश्वरदेव का धर्म पाने के पात्र नहीं हो। पात्रता के बिना धर्म पाया नहीं जा सकता। धर्म आत्मसात् नहीं बनता।

यदि आप दूसरे जीवों के दुःख से दुःखी होते हों, यदि आप दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करते हों, अपना सुख देकर भी दूसरों को दुःखमुक्त करने का कार्य करते हों तो आप सुपात्र हैं, आपकी कोमल आत्मा में धर्मतत्त्व का प्रवेश होगा। मृदु जमीन में पानी उतर जाता है, पथरीली जमीन में पानी प्रवेश नहीं पाता है।

संसार में दुःखी जीव दो प्रकार के होते हैं, एक द्रव्य से दुःखी, दूसरे भाव से दुःखी। जिनके पास खाने को नहीं, पीने को नहीं, पहनने को नहीं, वे लोग द्रव्य से दुःखी हैं। शरीर रोगी है, निर्धनता है, अनाथता है यह सब द्रव्य दुःख है यानी बाह्य दुःख है। जिनके जीवन में धर्म नहीं है, पाप है, वे भाव से दुःखी हैं। हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, दुराचारी हैं, परिग्रही हैं, क्रोध करते हैं, अभिमान करते हैं, माया-कपट करते हैं ये सब आन्तर दुःखी हैं। पापाचरण करने वाले आन्तर दुःखी हैं। पापकर्म के उदय से जो दुःखी हैं वे बाह्य दुःखी हैं। जिनको पापकर्मों का उदय है और यहां भी पापाचरण करते हैं वे बाह्य और आन्तर दोनों दृष्टि से दुःखी हैं। ऐसे भी जीव संसार में बहुत हैं, जो यहां दुःखी हैं फिर भी पापाचरण नहीं छोड़ते। ऐसे जीव करुणापात्र हैं।

ऐसे जीवों के प्रति अपने हृदय में करुणा होनी चाहिए। 'मोहमूढ़ बनकर यह बेचारा पाप करता है दुर्गति में चला जायेगा, घोर दुःख पायेगा' ऐसा विचार करना चाहिए। 'मेरा वश चले तो मैं उसको पापों से रोक दूं, पापों से बचा लूं भले, मुझे कष्ट उठाना पड़े तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उठाऊंगा परन्तु उसको बचा लूं ।' ऐसा विचार करना चाहिए।

धनवान है, परन्तु दान नहीं देता, तन्दुरुस्त है, परन्तु तप नहीं करता बूढा हो गया है, परन्तु शीलव्रत का पालन नहीं करता है, समय एवं शक्ति है फिर भी परोपकार के कार्य नहीं करता है बुद्धि है फिर भी तत्त्वज्ञान पाने का पुरुषार्थ नहीं करता है ऐसे मनुष्य के प्रति धिक्कार या तिरस्कार नहीं करना चाहिए। आजकल तिरस्कार करना सामान्य बात बन गई है। द्वेषपूर्ण समालोचना करना साधारण बात बन गई है। चूंकि आजकल मनुष्य का हृदय करुणाहीन बनता जा रहा है। बाह्यदृष्टि से दुःखी जीवों के प्रति करुणा नहीं है तो आन्तर दृष्टि से दुःखी जीवों के प्रति करुणा करने की तो बात ही कहां ? निर्धन, रोगी, दीन-हीन जीवों के प्रति दया आती है क्या? दूसरे नहीं, अपने स्नेही, अपने स्वजन ऐसी स्थिति में आ गये हों, उनके प्रति भी दया आती है क्या ? एक भगत को मैंने कहा : 'आपका भाई बहुत दुःखी स्थिति में है, आप उसको सहाय करें तो उसकी स्थिति सुधर जाये।' झट भगत ने मुझे कहा : 'महाराज सा. आप उसको अच्छी तरह नहीं जानते। वह तो ऐसा ऐसा है ।' भगत ने अपने भाई की खूब बुराई की। मैंने कहा : 'आपने अपने भाई में जो जो बुराई बतायी, क्या आप में ऐसी कोई बुराई नहीं है ? दूसरी बात, भाई बुरा है, उसका परिवार तो वैसा खराब नहीं है न ? आप परिवार को तो सहाय कर सकते हैं न ?' ऐसे हैं भगत लोग ! अब कहिए, आपसे क्या अपेक्षा रक्खूं ?

एक बात समझ लो, यदि हृदय में मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भाव धारण नहीं किये तो आपकी कोई भी धर्मक्रिया 'धर्म' नहीं बनेगी। आपको ऐसी भावशून्य क्रियायें दुर्गति से नहीं बचायेंगी। आप विश्वास में रह जाओगे कि 'इतनी इतनी धर्मक्रियायें करते हैं.... अपन नरक में नहीं जायेंगे।' परन्तु आप नहीं बच सकोगे। इसलिये कहता हूँ कि मैत्री वगैरह भावनाओं का अभ्यास करो, आत्मसात् करो। चित्त को शुद्ध करो। शुद्ध चित्त ही धर्म है। शुद्ध चित्त ही पुण्यानुबंधी पुण्य से पुष्ट बनता है। शुद्ध और पुष्ट चित्त ही मोक्षप्राप्ति का असाधारण कारण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवृत्ति और प्रवृत्ति

☐ पं. सुखलाल संघवी

निवृत्ति-प्रवृत्ति

जैन कुल में जन्म लेनेवाले बच्चों में कुछ ऐसे सुसंस्कार मातृ स्तन्यपान के साथ बीजरूप में आते हैं जो पीछे से अनेक प्रयत्नों के द्वारा भी दुर्लभ हैं। उदाहरणार्थ – निर्मांस भोजन, मद्य जैसी नशीली चीजों के प्रति घृणा, किसी को न सताने की तथा किसी के प्राण न लेने की मनोवृत्ति तथा केवल असहाय मनुष्य को ही नहीं, बल्कि प्राणिमात्र को संभवित सहायता पहुँचाने की वृत्ति। जन्मजात जैन व्यक्ति में उक्त संस्कार स्वतःसिद्ध होते हुए भी उनकी प्रच्छन्न शक्ति का भान सामान्य रूप से खुद जैनों में भी कम पाया जाता है, जबकि ऐसे ही संस्कारों की भित्ति पर महावीर, बुद्ध, क्राईस्ट और गाँधीजी जैसों के लोक-कल्याणकारी जीवन का विकास हुआ देखा जाता है। इसलिये हम जैनों को अपने विरासती सुसंस्कारों को पहिचानने की दृष्टि का विकास करना सबसे पहले आवश्यक है। अनेक लोग संन्यास-प्रधान होने के कारण जैन-परम्परा को केवल निवृत्ति-मार्गी समझते हैं और कम समझदार खुद जैन भी अपनी धर्म परम्परा को निवृत्ति-मार्गी मानने-मनवाने में गौरव लेते हैं। इससे प्रत्येक नई जैन पीढ़ी के मन में एक ऐसा अकर्मण्यता का संस्कार जाने-अनजाने पड़ता है जो उसके जन्मसिद्ध अनेक सुसंस्कारों के विकास में बाधक बनता है। इसलिए प्रस्तुत मौके पर यह विचार करना जरूरी है कि वास्तव में जैन परम्परा की दृष्टि से निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का सच्चा माने क्या है।

उक्त प्रश्नों का उत्तर हमें जैन सिद्धान्त में भी मिलता है और जैन परम्परा के ऐतिहासिक विकास में से भी।

सैद्धान्तिक दृष्टि

जैन सिद्धान्त यह है कि साधक अथवा धर्म का पालक व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अपना दोष दूर करे, अपने आपको शुद्ध करे—तब उसकी सत्-प्रवृत्ति सार्थक बन सकती है। दोष दूर करने का अर्थ है दोष से निवृत्त होना। साधक का पहला धार्मिक प्रयत्न दोष या दोषों से निवृत्त होने का ही रहता है। गुरु भी पहले उसी पर भार देते हैं। अतएव जितनी धर्म प्रतिज्ञायें या धार्मिक व्रत हैं, वे मुख्यतया निवृत्ति की भाषा में हैं। गृहस्थ हो या साधु, उसकी छोटी-मोटी सभी प्रतिज्ञायें, सभी मुख्य व्रत दोष निवृत्ति से शुरू होते हैं। गृहस्थ स्थूल प्राणहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल परिग्रह आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेता है और ऐसी प्रतिज्ञा निबाहने का प्रयत्न भी करता है। जबकि साधु सब प्रकार की प्राणहिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा लेकर उसे निबाहने का भरसक प्रयत्न करता है। गृहस्थ और साधुओं की मुख्य प्रतिज्ञाएँ निवृत्तिसूचक शब्दों में होने से तथा दोष से निवृत्त होने का उनका प्रथम प्रयत्न होने से सामान्य समझवालों का यह ख्याल बन जाना स्वाभाविक है कि जैन धर्म मात्र निवृत्तिगामी है। निवृत्ति के नाम पर आवश्यक कर्त्तव्यों की उपेक्षा का भाव भी धर्म संघों में आ जाता है। इसके और भी दो मुख्य कारण हैं। एक तो मानव-प्रकृति में प्रमाद या परोपजीविता रूप विकृति का होना और दूसरा बिना परिश्रम से या अल्प परिश्रम से जीवन की जरूरतों की पूर्त्ति हो सके, ऐसी परिस्थिति में रहना। पर जैन सिद्धान्त इतने में ही सीमित नहीं है। वह तो स्पष्टतया यह कहता है कि प्रवृत्ति करे पर आसक्ति से नहीं, अनासक्ति से या दोषत्याग पूर्वक प्रवृत्ति करे। दूसरे शब्दों में वह यह कहता है कि जो कुछ किया जाय वह यतनापूर्वक किया जाय। यतना के बिना कुछ न किया जाय। यतना का अर्थ है विवेक और अनासक्ति। हम इन शास्त्राज्ञाओं में स्पष्टतया यह देख सकते हैं कि इनमें निषेध, त्याग या निवृत्ति का जो विधान है वह दोष के निषेध का है, न कि प्रवृत्ति मात्र के निषेध का। यदि प्रवृत्तिमात्र के त्याग का विधान होता तो यतना-पूर्वक जीवन में प्रवृत्ति करने के आदेश का कोई भी अर्थ नहीं रहता और प्रवृत्ति न करना इतना मात्र कहा जाता।[1]

दूसरी बात यह है कि शास्त्र में गुप्ति और समिति-ऐसे धर्म के दो मार्ग हैं। दोनों पर बिना चले धर्म की पूर्णता कभी सिद्ध नहीं हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती। गुप्ति का मतलब है दोषों से मन, वचन, काया को विरत रखना और समिति का मतलब है विवेक से स्वपरहितावह सत्प्रवृत्ति को करते रहना। सत्प्रवृत्ति बनाए रखने की दृष्टि से जो असत्प्रवृत्ति या दोष के त्याग पर अत्यधिक भार दिया गया है उसी को कम समझ वाले लोगों ने पूर्ण मानकर ऐसा समझ लिया कि दोष निवृत्ति से आगे फिर विशेष कर्त्तव्य नहीं रहता। जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सच बात यह फलित होती है कि जैसे-जैसे साधना में दोष-निवृत्ति होती और बढ़ती जाए वैसे-वैसे सत्प्रवृत्ति की बाजू विकसित होती जानी चाहिए।

जैसे दोष-निवृत्ति के सिवाय सत्प्रवृत्ति असम्भव है वैसे ही सत्प्रवृत्ति की गति के सिवाय दोष निवृत्ति को स्थिरता टिकना भी असम्भव है। यही कारण है कि जैन-परम्परा में जितने आदर्श पुरुष तीर्थंकर रूप से माने गये हैं उन सभी ने अपना समग्र पुरुषार्थ आत्म-शुद्धि करने के बाद सत्प्रवृत्ति में ही लगाया है। इसलिये हम जैन अपने को जब निवृत्तिगामी कहें तब इतना ही अर्थ समझ लेना चाहिए कि निवृत्ति तो हमारी यथार्थ प्रवृत्तिगामी धार्मिक-जीवन की प्राथमिक तैयारी मात्र है।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो भी उपर्युक्त बात का ही समर्थन होता है। शरीर से भी मन और मन से भी चेतना विशेष शक्तिशाली या गतिशील है। अब हम देखें कि अगर शरीर और मन की गति दोषों से रुकी, चेतना का सामर्थ्य दोषों की ओर गति करने से रुका, तो उनकी गति-दिशा कौनसी रहेगी? वह सामर्थ्य कभी निष्क्रिय या गति-शून्य तो रहेगा ही नहीं। अगर उस सदास्फूर्त सामर्थ्य को किसी महान् उद्देश्य की साधना में लगाया न जाए तो फिर वह ऊर्ध्वगामी योग्य दिशा न पाकर पुराने वासनामय अधोगामी जीवन की ओर ही गति करेगा। यह सर्वसाधारण अनुभव है कि जब हम शुभ भावना रखते हुए भी कुछ नहीं करते तब अन्त में अशुभ मार्ग पर ही आ पड़ते हैं। बौद्ध, सांख्य, योग आदि सभी निवृत्ति-मार्गी कही जाने वाली धर्म-परम्पराओं का भी वही भाव है जो जैन धर्म-परम्परा का। जब गीता ने कर्मयोग या प्रवृत्ति मार्ग पर भार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिया तब वस्तुतः अनासक्त भाव पर ही भार दिया है।

निवृत्ति प्रवृत्ति की पूरक है और प्रवृत्ति निवृत्ति की। ये जीवन के सिक्के की दो बाजुएं (पहलू) हैं। पूरक का यह भी अर्थ नहीं है कि एक के बाद दूसरी हो, दोनों साथ न हों, जैसे जागृति व निद्रा। पर उसका यथार्थ भाव यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति एक साथ चलती रहती हैं भले ही कोई एक अंश प्रधान दिखाई दे। मन में दोषों की प्रवृत्ति चलती रहने पर भी अनेक बार स्थूल जीवन में निवृत्ति दिखाई देती है जो वास्तव में निवृत्ति नहीं है। इसी तरह अनेक बार मन में वासनाओं का विशेष दबाव न होने पर भी स्थूल जीवन में कल्याण-वह प्रवृत्ति का अभाव भी देखा जाता है जो वास्तव में निवृत्ति का ही घातक सिद्ध होता है। अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि दोष निवृत्ति और सद्गुण प्रवृत्ति का कोई विरोध नहीं, प्रत्युत दोनों का साहचर्य ही धार्मिक जीवन की आवश्यक शर्त है। विरोध है तो दोषों से ही निवृत्त होने का और दोषों में ही प्रवृत्त होने का। इसी तरह सद्गुणों में ही प्रवृत्ति करना और उन्हीं से निवृत्त भी होना, यह भी विरोध है।

असत्-निवृत्ति और सत्-प्रवृत्ति का परस्पर कैसा पोष्य-पोषक सम्बन्ध है, यह भी विचारने की वस्तु है। जो हिंसा एवं मृषावाद से थोड़ा या बहुत अंशों में निवृत्त हो पर मौका पड़ने पर प्राणिहित की विधायक प्रवृत्ति से उदासीन रहता है या सत्य भाषण की प्रत्यक्ष जवाबदेही की उपेक्षा करता है वह धीरे-धीरे हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति से संचित बल भी गँवा बैठता है। हिंसा एवं मृषावाद की निवृत्ति की सच्ची परीक्षा तभी होती है जब अनुकम्पा की एवं सत्य भाषण की विधायक प्रवृत्ति का प्रश्न सामने आता है। अगर मैं किसी प्राणी या मनुष्य को तकलीफ नहीं देता पर मेरे सामने कोई ऐसा प्राणी या मनुष्य उपस्थित है जो अन्य कारणों से संकटग्रस्त है और उसका संकट मेरे प्रयत्न के द्वारा दूर हो सकता है या कुछ हलका हो सकता है, या मेरी प्रत्यक्ष परिचर्या एवं सहानुभूति से उसे आश्वासन मिल सकता है, फिर भी मैं केवल निवृत्ति की बाजू को ही पूर्ण अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान लूँ तो मैं तो खुद अपनी सद्‌गुणाभिमुख विकासशील चेतना शक्ति का गला घोंटता हूँ।

एकान्त निवृत्ति संभव नहीं

समाज कोई भी हो वह एक मात्र निवृत्ति की भूलभुलैयों पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न माननेवाले आखिर में उस प्रवृत्ति के तूफान और आंधी में ही फंसकर मर सकते हैं तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय लिए बिना निवृत्ति हवा का किला ही बन जाता है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक वह दोषनिवृत्ति के साथ-ही-साथ सद्‌गुणों की ओर कल्याणमय प्रवृत्ति में बल न लगावे। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और पुष्टि-कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नहीं रह सकता। उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिए। शरीर से दूषित रक्त को निकालना जीवन के लिये अगर जरूरी है तो उतना ही जरूरी उसमें नए रुधिर का संचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति

ऋषभ से लेकर आज तक निवृत्तिगामी कहलाने वाली जैन-संस्कृति भी जो किसी-न-किसी प्रकार जीवित रही है वह मात्र निवृत्ति के बल पर नहीं, किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे पर। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी संस्कृति का ऐसा निर्माण किया है जो गीता में उज्जीवित होकर आज नए उपयोगी स्वरूप में गांधीजी के द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है तो निवृत्तिलक्षी जैन-संस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्ति का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति में जीना होगा। जैन-संस्कृति में तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आज तक पूँजी मानती आई है उनके आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मंगलमय योग साध सकती है जो सबके लिए क्षेमकर हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-परम्परा में प्रथम स्थान है त्यागियों का, दूसरा स्थान है गृहस्थों का। त्यागियों को जो पाँच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणों में प्रवृत्ति करने की या सद्गुण-पोषक-प्रवृत्ति के लिए बल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से बिना बचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो हो नहीं सकती और सद्गुणपोषक प्रवृत्ति को जीवन में स्थान दिये बिना हिंसा आदि से बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। इस देश में जो लोग दूसरे निवृत्ति-पंथों की तरह जैन-पंथ में भी एक मात्र निवृत्ति की ऐकान्तिक साधना की बात करते हैं वे उक्त सत्य भूल जाते हैं। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नहीं रखते उनके लिए जैन-परम्परा में अणुव्रतों की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढ़ने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषों से अंशतः बचने का विधान किया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषों से बचने का अभ्यास करें। किन्तु साथ ही यह आदेश है कि जिस जिस दोष को वे दूर करें उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणों को जीवन में स्थान देते जाएँ। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी ? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण पोषक प्रवृत्तियों में अपने आप को खपाना ही होगा। इस बात को ध्यान में रखकर जैन-संस्कृति पर यदि आज विचार किया जाए तो आजकल की कसौटी के काल में जैनों के लिए नीचे लिखी बातें कर्तव्यरूप फलित होती हैं।

जैन-वर्ग का कर्त्तव्य

1—देश में निरक्षरता, बहम और आलस्य व्याप्त है। जहाँ देखो वहाँ फूट ही फूट है। शराब और दूसरी नशीली चीजें जड़ पकड़ बैठी हैं। दुष्काल, अति-वृष्टि, परराज्य और युद्ध के कारण मानव-जीवन का एक मात्र आधार पशुधन नाम शेष हो रहा है। अतएव इस संबंध में विधायक प्रवृत्तियों की ओर सारे त्यागी वर्ग का ध्यान जाना चाहिए।

2—देश में गरीबी और बेकारी की कोई सीमा नहीं है। खेती-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाड़ी और उद्योग-धन्धे अपने अस्तित्व के लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहस की अपेक्षा कर रहे हैं। अतएव गृहस्थों का यह धर्म हो जाता है कि वे संपत्ति का उपयोग तथा विनियोग राष्ट्र के लिए करें। वे गाँधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल में लाएँ। बुद्धिसंपन्न और साहसिकों का धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामों में लग जाएँ जो राष्ट्र के लिए विधायक हैं। दलितों और अस्पृश्यों को भाई की तरह बिना अपनाए कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिक से अधिक अहिंसा के नजदीक हैं और एक मात्र आत्मौपम्य एवं अपरिग्रह धर्म के पोषक हैं उनको उत्तेजना दिये बिना कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसा का उपासक हूँ ? अतएव उपसंहार में इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरों और शक्ति के अपव्ययकारी प्रसंगों में अपनी संस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोड़कर उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करें, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों का ही क्या, सभी कौमों का मेल भी निहित है।

संस्कृति का संकेत

संस्कृति-मात्र का संकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी संभव ही नहीं, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली हैं वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी संभव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का संकेत करती है। जैन-संस्कृति यदि संस्कृति-सामान्य का अपवाद बने तो वह विकृत बनकर अंत में मिट सकती है।

संदर्भ

1 यद्यपि शास्त्रीय शब्दों का स्थूल अर्थ साधु-जीवन का आहार, विहार, निहार सम्बन्धी चर्या तक ही सीमित जान पड़ता है पर इसका तात्पर्य जीवन के सब क्षेत्रों की सब प्रवृत्तियों में यतना लागू करने का है। अगर ऐसा तात्पर्य न हो, तो यतना की व्याप्ति इतनी कम हो जाती है कि फिर वह यतना अहिंसा सिद्धान्त की समर्थ बाजू बन नहीं सकती। समिति शब्द का तात्पर्य भी जीवन की सब प्रवृत्तियों से है, न कि शब्दों में गिनाई हुई केवल आहार-विहार-निहार जैसी प्रवृत्तियों से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निवृत्ति एवं प्रवृत्तिपरक अहिंसा

☐ महासती श्री पुष्पवतीजी म.

निवृत्ति-प्रवृत्ति का रहस्य

यह सत्य है कि अहिंसा निवृत्त्यात्मक भी है, लेकिन किसी की हिंसा न करने में ही अहिंसा परिसमाप्त नहीं हो जाती। यह तो उसका एक पक्ष है; निवृत्तिरूप है। अहिंसा की धारा इतने में ही अवरुद्ध नहीं है। अहिंसा अगर प्रवृत्तिशून्य ही है तो उससे समाज में निष्क्रियता, जड़ता एवं असामाजिकता ही पैदा होगी। किन्तु समाज में पारस्परिक सहयोग का कार्य प्रवृत्ति के बिना चल नहीं सकता। मनुष्य के सामने परिवार, समाज, धर्म, संघ और राष्ट्र का उत्तर-दायित्व है, सेवा का क्षेत्र है। प्रवृत्तिशून्य अहिंसा को पकड़ने से यह उत्तरदायित्व कैसे पूर्ण हो सकता है?

इसलिए जैनधर्म की अहिंसा न एकान्त निवृत्तिपरक है और न एकान्त प्रवृत्तिपरक। निवृत्ति उसका एक पहलू है; जबकि उसका दूसरा पहलू प्रवृत्ति है। वह निवृत्ति की आधारभूमि पर प्रवृत्ति (विधि) का रूप लेकर आगे बढ़ती है। अहिंसा के ये दोनों रूप एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। अहिंसा भगवती के निवृत्ति और प्रवृत्ति ये दोनों ही चरण हैं। निवृत्ति, प्रवृत्ति के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार करती है, वह प्रवृत्ति के लिए दिशानिर्देश करती है। प्रवृत्ति से पहले निवृत्ति, प्रवृत्ति में विशुद्धि लाने के लिए आवश्यक है। विधेया-त्मक अहिंसा में प्रवृत्त होने से पहले व्यक्तिगत जीवन में हिंसा के द्रव्य-भावात्मक दोनों पहलुओं से निवृत्ति हुई है या नहीं? यह देखना बहुत आवश्यक है। अगर अहिंसा के साधक की हिंसा के दोषों से विरति नहीं हुई है और वह लोककल्याण, समाज-सेवा या सामाजिक चेतना के अभ्युदय के लिए प्रवृत्त होगा तो उसकी वह प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकेगी। किन्तु जब साधक अपने मर्यादाहीन व्यक्तिगत स्वार्थ, मोह, द्वेष, कषाय आदि हिंसा के रूपों से निवृत्त होकर समाज-सेवा या राष्ट्र-सेवा या समाज-कल्याण के लिए प्रवृत्ति करेगा तो उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह प्रवृत्ति विशुद्ध होगी, अहिंसा से पुनीत होगी, उसका जीवन और अन्तःकरण भी उक्त प्रवृत्ति से निर्मल होगा। व्यक्तिगत आकांक्षाओं, फलासक्ति एवं देहासक्ति से निवृत्ति लेकर अहिंसा की विधेयात्मक प्रवृत्ति करना ही जैनदर्शन का नैतिक विधान है। इसका हार्द यही है कि व्यक्तिगत जीवन में हिंसाजन्य दोषों से निवृत्ति और सामाजिक जीवन में लोकहिताय प्रवृत्ति हो। श्रावक, लोकसेवक, समाज या राष्ट्र का सेवक व्यक्तिगत स्वार्थों, कषायों आदि से दूर रहे और समाज या राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त हो, यही निवृत्ति का रहस्य है।

अहिंसा चारित्र का एक अंग है। साधक के चारित्र की जो व्याख्या की गई है, उसमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों को बराबर का स्थान दिया गया है। चारित्र न तो एकान्त निवृत्तिरूप है और न ही एकान्त प्रवृत्तिरूप। चारित्र का लक्षण करते हुए कहा है—

'असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं !'[1]

अर्थात्—अशुभ कार्यों, बुरे संकल्पों, दुर्वचनों एवं कुत्सित आचरणों से निवृत्ति करना और शुभ कार्यों, शुभ संकल्पों, सुवचनों एवं सदाचरणों में प्रवृत्ति करना ही चारित्र है।

साधक के लिए कहा गया है—"वह एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे।"[2]

सारांश यह है कि एक ओर किसी को कष्ट, दुःख या पीड़ा न पहुँचाओ, मारो-पीटो या सताओ मत, न किसी से वैर, द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि रखो, और न किसी से दुर्वचन या कटुवचन कहो. न ही किसी के प्रति बुरा संकल्प व दुश्चिन्तन ही करो। यह अहिंसा का निवृत्तिपरक पहलू है। दूसरी ओर प्राणिमात्र की सेवा, दया, करुणा, क्षमा, प्रेम, मैत्री, समर्पण आदि करना, पीड़ित जनों की पीड़ा दूर करना, उन्हें उचित सहयोग देना, स्वयं जीना और दूसरों को जिलाना आदि अहिंसा का प्रवृत्तिपरक पहलू है। यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रमण की अपनी मर्यादा है उसी में रहकर वह दूसरों की सेवा आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकता है, मर्यादा का अतिक्रमण करके नहीं। इसी प्रकार श्रावक की भी मर्यादाएँ हैं; किन्तु गृहस्थ होने के नाते सामाजिक कर्त्तव्यों को निभाना उसके लिए आवश्यक है। अतः उसके लिए सेवा आदि का विस्तृत क्षेत्र खुला रहता है।

इसलिए अगर आप अहिंसा के सिर्फ नकारात्मक (निवृत्तिरूप) पहलू पर ही सोचेंगे तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। अहिंसा की सम्पूर्ण साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी भलीभाँति विचार करना चाहिए। जैनागम प्रश्नव्याकरणसूत्र में जहाँ अहिंसा के 60 एकार्थक नाम दिये हैं वहाँ दया, खंती (क्षमा) रक्खा (रक्षा), अभय, समिई (समिति), जण्णो (यज्ञ) आदि विधेयात्मक (प्रवृत्तिपरक) नामों का भी निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र में, मित्तीं भूएसु कप्पए' (प्राणिमात्र के साथ मैत्री करो), 'वेयावच्च' (वैयावृत्य–सेवा), समता, दशवैकालिक सूत्र में सर्वभूतात्मभूत, दया आदि शब्द अहिंसा के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए अहिंसा प्रवृत्ति-निवृत्ति—उभयात्मक है। यदि वह प्रवृत्त्यात्मक नहीं है तो अकेली निवृत्ति का न तो कोई मूल्य हो है, न अस्तित्व ही। अनुकम्पा, अभयदान, सेवा आदि शब्द भी अहिंसा के प्रवृत्तिप्रधान रूप हैं। अहिंसा शब्द भाषा-शास्त्र की दृष्टि से निषेधवाचक जरूर है, लेकिन गहन चिन्तन के बाद स्वीकार करना होगा कि अहिंसा प्रवृत्तिपरक या विधेयात्मक भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है, दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो केवल निवृति को ही प्रधान मानकर चलता है, वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नहीं कर सकता, न ही अहिंसा की आत्मा को परख सकता है।

प्रवृत्ति की सीमा

जैनधर्म कहता है–प्रवृत्ति करो, पर वह निवृत्तिमूलक होनी चाहिए। यानी प्रवृत्ति (विधेयात्मक अहिंसामय) करते समय पहले देखो कि उस प्रवृत्ति से पहले निषेधात्मक अहिंसा (निवृत्ति) तुम्हारे जीवन में आई या नहीं ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान लीजिए, एक व्यक्ति धनाढ्य है। वह दान करता है, उसने यात्रियों के लिए धर्मशाला बनवा दी है, गरीबों की सेवा के लिए उसने कोई संस्था खोल दी है। किन्तु दूसरी ओर से वह शोषण का कुचक्र भी चला रहा है, अपने नौकरों से उनके सामर्थ्य से अधिक काम लेता है, जरा-सी देर से आने पर वेतन काट लेता है। तो ये बातें उस सेवा और दान के साथ कैसे मेल खा सकती हैं? यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई एक बोतल रक्त निकालकर बदले में एक-दो बूँदें रक्त दे दे, या सौ-दो सौ घाव करके एक-दो घावों पर मरहम-पट्टी कर दे। अतः ऐसे दान और ऐसी सेवा का क्या अर्थ है?

दूसरी बात यह है कि कोई व्यक्ति समाजकल्याण की प्रवृत्ति करे, लेकिन उसके साथ अपना स्वार्थ पूरा करने, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा न हो, अपना चारित्र-दोष दबाकर जनता की नजरों में धर्मात्मा, दयालु या सेवाभावी बनने की कल्पना न हो, अथवा सेवा, दया आदि के साथ अपना चारित्रिक पतन न करे, किसी सत्ताधीश या धनाढ्य के मुलाहिजे में आकर उनकी चाटुकारिता करके उच्च पद या प्रतिष्ठा पाने के लिए लोकसेवा या राष्ट्रसेवा न करे या लोकसेवा के नाम पर अपना उल्लू न सीधा करे, धन न बटोरे। ये कुछ सीमाएँ हैं, प्रवृत्ति के साथ-साथ जिनका ध्यान रखना जरूरी है।

मान लीजिए, एक राष्ट्रसेवक दीन-दुःखी या राष्ट्र के किसी पदाधिकारी की सेवा कर रहा है, उसकी प्रसन्नता के लिए कुछ ऐसी बातें जरूरी हो रही हैं, जिनसे चारित्रिक पतन की या किसी कुव्यसन में गिरने की सम्भावना है, ऐसी स्थिति में कुछ राष्ट्र या उनकी संस्कृतियाँ तो वैसा करने के लिए सहमत हो जाती हैं, जैसे कि जापान में जासूसी करने और दूसरे राष्ट्रों का भेद लेने के लिए दूसरे राष्ट्र के लोगों के पास ऐसी महिलाएँ भेजी जाती थीं, जो उनके साथ अपने शील का सौदा करके उसके देश की गुप्त बातें निकलवा लेती थीं। विदेश में कई जगह ऐसी प्रथा है कि मेहमान को प्रसन्न करने के लिए गृहिणियाँ उसके साथ ताश खेलती हैं और अनाचार-सेवन करने के लिए भी प्रवृत्त हो जाती हैं। किन्तु जैन धर्म इस बात से जरा भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहमत नहीं है कि आप किसी शुभ अहिंसक प्रवृत्ति के साथ इस प्रकार की हिंसा, असत्य या कुशील-सेवन की प्रवृत्ति करें । फिर तो वह सारी हो शुभ प्रवृत्ति अशुद्ध और भावहिंसायुक्त हो जाएगी ।

इसीलिए तो जैनधर्म विधेयात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति करने से पहले निषेधात्मक अहिंसा के स्वीकार की बात कहता है । वह कहता है कि प्रवृत्ति तो करो, पर पहले अपने दोषों से निवृत्ति करके करो । आपका कर्त्तव्य है कि आप समाज या राष्ट्र की सेवा करें, दीन-दुःखियों पर करुणा करें, जीवदया के कार्य करें, दूसरों के कल्याण के लिए अपनी सुख-सुविधाओं का बलिदान करें, अपने अधिकार की वस्तुओं को भी समर्पित कर दें, स्वयं भूख-प्यास और नींद का कष्ट सहकर भी प्रसन्न रहें, परन्तु उस सेवा, करुणा, दया, परोपकार, दान या सहयोग के नाम पर अपना चरित्र न बेचें, अपने जीवन की उज्ज्वलता को दाँव पर न रखें, अपने जीवन को किसी दुर्व्यसन से ग्रस्त न बनाएँ, अपने चरित्र और जीवन को किसी भी मूल्य पर कलंकित न होने दें ।

अपने चरित्र एवं जीवन को पवित्र व उज्ज्वल रखते हुए सेवा, करुणा आदि जो कुछ भी विधेयात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति की जाए, वह शुद्ध प्रवृत्ति होगी, निःस्वार्थ या निष्काम प्रवृत्ति होगी । इस प्रकार की शुद्ध प्रवृत्ति ही समाज के एवं अपने कल्याण के लिए उपादेय होती है । प्रवृत्ति की सीमा के सम्बन्ध में जैनधर्म का यह स्पष्ट दृष्टिकोण है ।

निवृत्ति की सीमा

इसी प्रकार जो निवृत्ति (निषेधात्मक अहिंसा) केवल निष्क्रियता पैदा करती हो, जो केवल अपने ही स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए या लोभवृत्ति से धारण की गई हो, वह निवृत्ति भी निरी आत्म-वंचना है, अशुद्ध निवृत्ति है ।

कई एकान्त निवृत्तिवादियों का यह कहना है कि कोई व्यक्ति दुःखी या पीड़ित हो रहा है, तो वह अपने ही कर्मों से हो रहा है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमने उसको दुःखी या पीड़ित नहीं किया और न ही ऐसा संकल्प किया कि वह दुःखी या पीड़ित हो, ऐसी दशा में अगर हम तटस्थ रहते हैं तो हमें कौन-सी हिंसा या कौन-सा पाप लगेगा ?

इस प्रश्न का समाधान तो जैनधर्म ने पहले ही कर दिया है, 'मित्ती मे सव्वभूएसु', 'अप्पसमं मन्निज छप्पि काए', आदि सेवा, दया, करुणा और मैत्री के ये पाठ जो प्रवृत्तिरूप हैं, वे किसलिए दिये हैं ? क्या वे केवल तटस्थ रहने के लिए दिये गये हैं ?

मान लीजिए, कोई जानवर आपके सामने मर रहा है। सम्भव है, उस समय आप दिल को कठोर बना कर बाहर से निवृत्ति भी कर लें, परन्तु ऐसे अवसर पर मन में उसे बचाने के संकल्प स्वाभाविक रूप से आया करते हैं। अगर आप उन शुभ संकल्पों को जबरन दबाते हैं या उनकी उपेक्षा कर देते हैं, रक्षात्मक प्रवृत्ति नहीं करते हैं तो आपके हृदय में प्रादुर्भूत दया कुचली जाती है। इस प्रकार अपनी आत्मा से ही अपनी आत्मा की बहुत बड़ी हिंसा हो जाती है। इस आत्महिंसा को रोकना और अपने आपको उससे बचाना बहुत ही आवश्यक है।

एक जगह एक आदमी किसी को मार रहा है या एक आदमी जिन्दगी से ऊबकर स्वयं आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो रहा है, उसी समय दो व्यक्ति वहाँ आ पहुँचते हैं। उनमें से एक तो तटस्थ होकर एक कोने में खड़ा-खड़ा देखने लग जाता है और दूसरा उस मारने वाले या आत्महत्या करने वाले को समझाता है, स्वयं बीच में पड़कर उसे बचाने के लिए, उसकी रक्षा के लिए तत्पर होता है। अर्थात्—एक आदमी तटस्थ रहकर निवृत्ति धारण कर लेता है, दूसरा तटस्थ न रहकर बचाने की प्रवृत्ति करता है, आपकी अन्तरात्मा ऐसे अवसर पर किसको अहिंसक या अधिक लाभ वाला कहेगी ?

मान लो, आप पर ही कोई ऐसा ही संकट आ पड़े तो आप तटस्थ रहने वाले को ठीक समझेंगे या आपकी रक्षा के लिए तत्पर व्यक्ति को ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः' अन्तःकरण की आवाज ही अधिक प्रमाणभूत मानी जा सकती है। भगवान् महावीर की दृष्टि में तो ऐसी दशा में तटस्थ रहना कायरता का लक्षण है। यह स्पष्टतया निवृत्ति की भ्रान्ति है।

भगवान् महावीर का तो स्पष्ट आदेश है कि यदि को कोई साध्वी नदी में डूब रही है, या कोई साधु दुर्घटनाग्रस्त होकर पानी में गिर पड़ा है तो उस समय दूसरे साधु (जो तैरना जानते हों) तटस्थ होकर खड़े न रहें, वे उक्त साध्वी या साधु को निकालें और सुरक्षित स्थान में ले जाएँ।[3]

यहाँ तटस्थवादी साधु यह कह सकता है कि मैंने न तो उक्त साधु या साध्वी को पानी में धक्का दिया है, न उनके डूबने का संकल्प किया है, गिरने वाला अपने कर्मवश गिर गया है, और डूबने लगा है, इसमें मेरा क्या अपराध है ? यदि मैं पानी में कूदूंगा या तैरकर जाऊँगा तो उस हलचल से अनेक जल-जन्तुओं तथा जल के आश्रित रहने वाले असख्य त्रसजीवों की भी हिंसा होगी, कई जन्तु भयभीत होंगे, कुचल जाएँगे। इससे तो अच्छा है, मैं तटस्थ ही रहूँ।

मैंने पहले कहा था कि ऐसे मौके पर तटस्थ रहने वाला साधु अपने अन्तःकरण में उठने वाली करुणा और अनुकम्पा को दबा देता है। दया के और दया से होने वाली असंख्यगुणी निर्जरा के उत्तम अवसर को वह हाथ से खो देता है। इसलिए स्पष्ट है कि वह घाटे में है। डूबते हुए साधु या साध्वी को बचाने के लिए जल में प्रवेश करने वाले उसके साथी साधु को शुभ संकल्प में लीन होने के कारण पुण्य-प्रकृति का बन्ध तो होता ही है, किन्तु अन्तःकरण में जो अनुकम्पा की लहरें उठती हैं, करुणा की अजस्र धारा फूटती है, दया-भाव में वह निमग्न हो जाता है, आत्मौपम्यभाव से विभोर हो उठता है; तब वह पाप-कर्मों की असंख्य-असंख्यगुणी निर्जरा कर लेता है। जल में प्रवेश करने के कारण जलीय या जलाश्रित जीवों की हिंसा अवश्य हुई है; लेकिन वह हिंसा हुई है, संकल्पपूर्वक की नहीं गई है, उससे पापकर्म का बन्धन कम और पुण्यबंध अधिक हुआ है, क्योंकि पुण्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या पाप का बन्ध भावों पर निर्भर है। साधु या साध्वी को निकालने के शुभ उद्देश्य से जो साधु पानी में जाता है, वह जीवों को मारने या पीड़ा पहुँचाने की नीयत से नहीं गया, अपितु एक संयमी को बचाने की पवित्र भावना लेकर गया है। किसी की स्वतः हिंसा होने में और संकल्पपूर्वक हिंसा करने में बहुत अन्तर है। इस तरह हिंसा-अहिंसा की स्थूल क्रिया से कर्तव्य की भावना बहुत ऊँची है।

यही बात प्रमार्जन (सफाई), प्रतिलेखन, खान-पान, शयन, आदि जीवन की हर प्रवृत्ति के विषय में भी समझ लेनी चाहिए कि ये प्रवृत्तियाँ यतना और अप्रमाद के साथ शुभ उद्देश्य से की जाती हैं, तो उनमें अहिंसा का ही स्वर झंकृत होगा। जैनधर्म में अहिंसा के उत्कृष्ट साधक के लिए पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का विधान है। पाँच समितियाँ प्रवृत्तिरूप हैं और तीन गुप्तियाँ निवृत्तिरूप हैं। सामान्यरूप से अहिंसा के साधक को यह ध्यान रखना है कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रवृत्ति करे, उस प्रवृत्ति के साथ अहिंसा के संकल्प को, दया की लहर को और आत्मौपम्य की भावना को जोड़ दे, तो उसकी प्रवृत्ति में एक नई चेतना, नया प्राण और नई जागृति आ जाएगी।

मानव-जीवन में निवृत्ति का भी महत्त्व है, पर है वह अमुक प्रसंग पर ही। जब भी मन में स्वार्थ, भोगाकांक्षा, लोभ, क्रोध और अहंकार के बादल उमड़-घुमड़कर आने लगें, तब निवृत्ति ही श्रेयस्कर है। जहाँ विधेयात्मक अहिंसारूप सेवा, परोपकार, करुणा, दया आदि का कार्य करने में अपने चरित्र और शील को दाँव पर लगाने का अवसर आए वहाँ उससे निवृत्ति धारण करना ही श्रेयस्कर है, किन्तु शुभकार्यों में—शुभभावों से प्रवृत्ति भी की जानी चाहिए।

संदर्भ

1. आचार्य नेमिचन्द्र।
2. एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्ति च, संजमे य पवत्तणं॥
3. बृहत्कल्पसूत्र 6/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों का वर्षीदान क्या विसर्जन नहीं है ?

□ संघ प्रमुख मुनि श्री चन्दनमल जी

पात्रे धर्म-निबन्धनं तदितरे श्रेष्ठं दयाख्यापकं,
मित्रे प्रीति-विवर्धनं तदितरे वैरापहारक्षमम् ।
भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सम्मान-सम्पादकम्
भट्टादौ सुयशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो ! निष्फलम् ।।
—सूक्तिमुक्तावलिः ।

आचार्य सोमप्रभ सिन्दूरप्रकर काव्य में दान की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि वितरण अर्थात् दान कहीं भी निष्फल नहीं है। जैसे—पात्र-दान धर्म का हेतु है, संवर निर्जरा का कारण बनता है। पात्रापात्र विवेचन के बिना दिया हुआ दान दयालुता का सूचक है, यानि वह व्यक्ति दयालु होता है जिसने दीन-दुःखियों की सहायता की है। मित्र को दिया हुआ दान प्रीति बढ़ाने वाला है, शत्रु को दिया हुआ दान वैर मिटाने में सक्षम सिद्ध होता है। भृत्य-नौकर-चाकरों को दिया हुआ दान उनमें अत्यन्त भक्ति उत्पन्न कर देता है। राजा महाराजा आदि को भेंट स्वरूप दिया हुआ दान सम्मान का सम्पादक है अर्थात् नगर-सेठ, राव आदि का गरिमापूर्ण पद दिलवाता है। वैसे ही चारण-भाट आदि को दिया हुआ दान सुयश फैलाता है। अन्त में आचार्य इंगित करते हैं कि बहुत क्या कहा जाय ? अहो ! दान कहीं भी निष्फल नहीं जाता।

विसर्जन और दान

आज तेरापंथ के सामने एक ज्वलंत प्रश्न पैदा होता है कि विसर्जन के नाम से किया या करवाया जा रहा दान दान से कुछ अलग है या नहीं। दान और विसर्जन दो शब्द हैं, किन्तु शारदीया नाम माला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा हैमी नाममाला में 'दानं त्यागो विसर्जनम्', 'दानमुत्सर्जनं त्यागः प्रदेशन-विसर्जने' इत्यादि नामों में दान का ही नाम त्याग और विसर्जन है फिर विसर्जन की ओट में दान क्यों अन्तर्हित किया जा रहा है ? हाँ, श्री भिक्षु स्वामी के सिद्धान्तानुसार संयती के सिवा अन्य को दान पाप-मूलक माना गया है। इसलिए श्री भिक्षु की मान्यता को अक्षरशः प्रमाणित मानने वाले आप महानुभावों के लिए दान शब्द उभारते कुछ मन कंपित होना स्वाभाविक है। सहज अन्तःकरण उद्वेलित होता है कि कल तक हम अनुकम्पा आदि दानों को एकान्त पाप मानते थे, आज दान के नाम से करोड़ों कैसे एकत्रित करवा सकते हैं ? यदि रुपये एकत्रित न करवाएं तो जैन 'विश्व भारती' जैसे भारी संस्थान कैसे चलाए जा सकते हैं ? फिर रास्ता तो निकालना ही पड़ता है। कोई गली तो खोजनी ही पड़ती है। पानी के नाम से एलर्जी है तो 'वाटर' नाम से ही काम चलाओ। पानी तो चाहिए ही। इसको हम कमजोरी कहें, मायाजाल कहें या दुस्साहस ? नाक को चाहे सीधे हाथ से पकड़ो या गले के पीछे से हाथ को घुमाकर पकड़ो, आखिर पकड़ना तो नाक को ही है। गजब है लाखों समझदार लोग इस यथार्थता के साथ आंख-मिचौनी खेल रहे हैं। या जानते हुए भी आई गई कर रहे हैं।

तीर्थङ्करों का वर्षीदान

हम एक प्रश्न उठाना चाहते हैं—तीर्थंकरों का वर्षीदान, जो प्रत्येक तीर्थंकर दीक्षा स्वीकार करने की भावना के बाद एक वर्ष तक खुले हाथों सोनैयों का दान करते हैं, वह क्या है ? वह विसर्जन नहीं है क्या ? वह शुभ है या अशुभ ? वह पुण्यबन्ध का हेतु है या पापबन्ध का। अरे भव्यात्माओं ! कुछ तो आँख उघाड़ो। 'एक ऊँट आगे चला पीछे हुई कतार' ऐसा तो मत करो। पाँच-पाँच सौ के एक लाख बोंड देकर पाँच करोड़ एकत्रित करें। किसे आपत्ति है ? पर सही स्थिति अवश्य हृदयंगम होनी चाहिए। मां के गर्भ में ही जिनको तीन ज्ञान होते हैं, दीक्षा देते ही जिनको चौथा मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न होने वाला है, ऐसे परम अवतारी पुरुष के दीक्षा लेने को उद्यत होने पर ख्याति-प्रलोभन-यश-कीर्ति आदि की भावना से कोसों दूर अभेद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव से दिये जाने वाले दान को तो सावद्य पाप का हेतु बतलाते हैं पर विसर्जन को तेरापंथ के आचार्य त्याग, संवर, निर्जरा और अनासक्ति घोषित कर रहे हैं। यह कितना बडा छलावा है। भद्र जनता के साथ कितनी बडी धोखाधड़ी है। तीर्थंकरों का वर्षीदान तो अशुभ है पर जैन विश्वभारती, जय तुलसी फाउन्डेशन या किसी जैन-भवन आदि के लिए किया जाने वाला दान (विसर्जन) संवर-निर्जरा का हेतु है। थोड़ा भी चिन्तनशील व्यक्ति इस वाक् प्रपंच को पकड़े बिना रह नहीं सकता। यह कहकर टालना भी बहाना मात्र है कि 'तीर्थंकरों की तो अनादि-काल से परम्परा चली आ रही है कि वार्षिक दान तो वे देकर ही संयम ग्रहण करते हैं। पर हम पूछना चाहते हैं कि यह परम्परा क्यों ? सर्व विरति लेने से पूर्व करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान क्या जन-साधारण को ममत्व-त्याग की विधि सिखलाने के लिए नहीं है ? गीता भी कहती है --

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

महापुरुष जो-जो आचरण करते हैं, इतर व्यक्ति सहजतया उसका आचरण करने लग जाते हैं। महामना जो कुछ प्रमाणित करते हैं, आम जनता उसका अनुकरण स्वतः करती है। अतः तीर्थंकरों का सांवत्सरिक दान सावद्य दान नहीं, बल्कि भव्य जनता के लिए ममत्व-त्याग का जीता-जागता निदर्शन है। स्थानकवासी-मंदिर मार्गियों में आज भी यह शब्द प्रचलित है कि श्रावकों ! कुछ ममत्व त्याग करो, अर्थात् जिस धन को अपनत्व के साथ जोड़ रखा है, उसका त्याग करो। यह जगत्प्रभु का परिग्रह-त्याग सिखाने का प्रयत्न है। मैं अपने सभी साथी संत-सतियों से सविनय अनुरोध करना चाहता हूँ कि आप इस यथार्थता को स्वीकारने में हिचकिचाहट न करें। क्योंकि आत्मा से तो आपका प्रबुद्ध मानस इसे शत-प्रतिशत स्वीकार कर चुका है फिर शब्दों में अभिव्यक्ति दें कि हम अनुकम्पा दान को शुभ दान के रूप में स्वीकार करते हैं। देखिए, तेरापंथ के जन्म से सैंकड़ों हजारों वर्ष पहले हमारे ज्योतिर्धर महामनीषी आचार्य स्पष्टतया स्वीकार कर चुके हैं। फिर उस यूथाधिप गन्धहस्ती के पथ पर हम उनके शिशु चलें तो कुछ भी शोचनीय नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे—

दाणं अणुकंपाए दीणाणाहाण सत्तितो णेयं ।
तित्थंकर-नातेण साहूणं य पत्तबुद्धिए ।।

दानं-वितरणम् अन्नादेः अनुकम्पया-दयया दीनानाथेभ्यः तत्र दीनाः क्षीणविभवत्वाद् दैन्यं प्राप्ताः त एव सानाथ्यकारिरहिताः अनाथा अतस्तेभ्यः शक्तितो वित्तगतं सामर्थ्यम् आश्रित्य इत्यर्थः ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । अथ दीनादीनामसंयतत्वात्, तद्दानस्य दोषपोषकत्वाद् असंगतं तद्-दानम् इत्याशङ्क्य आह-तीर्थंकरज्ञातेन जिनोदाहरणेन । तथाहि-संगतं दीनादि-दानं प्रभावनांगत्वात् जिनस्यैव । अथवा तीर्थंकरन्यायेन निर्विशेषतया इत्यर्थः । तीर्थंकर-प्रमाणतो वा । तथाहि-न दीनादिदानं अविधेयं, जिनाचरितत्वात्, महाव्रतानुपालनवदिति । दीनानामनु-कम्पा या तद्दानम् । अथ साधूनामपि किं तथैव इत्याशंकया आह-साधूनां संयतेभ्यः पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नभाजनमेतदिति धिया भक्त्या इति गाथार्थः ।।

अर्थ - दीन अनाथों को अनुकम्पा-दयाभाव से दान देना विहित है तीर्थंकरों के उदाहरण से । अथवा तीर्थंकरों को प्रमाण भूत मानते हुए उनके द्वारा आचरित होने के कारण यह दान संगत है और आचरणीय है । संयत साधुओं को जो दान दिया जाता है, वह पात्र बुद्धि से दिया जाता है । ये मुनिवर्य गुण रत्नों के भाजन है, इस दृष्टि से इस भावना से दान दिया जाता है । यह गाथा का अर्थ है । इसी संदर्भ में और भी अनेक स्पष्ट उल्लेख हमें प्राचीन ग्रंथों से मिलते हैं ।

सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं अणुकम्पादाणं सड्ढयाणं न कहिंपि पडिसिद्धं ।। अर्थ—सभी जिनेश्वर जो दुर्जय राग-द्वेष-मोह से ऊपर उठ चुके हैं । उन्होंने श्रावकों के लिए कहीं भी अनुकम्पा दान का निषेध नहीं किया है, निषेध करने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, जब स्वयं जिनेश्वरों ने वार्षिक दान देकर दीनों का उद्धार किया है । यथा—'श्रीजिनेनापि सांवत्सरिकदानेन दीनोद्धारः कृत एव ।' यदि आप यह शंका करें कि टीका-भाष्य-चूर्णि आदि के वर्णनों को छोड़िये, पर कहीं ग्यारह अंग, बारह उपांग आगमों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुकम्पादान का वर्णन है क्या ? इसी शंका का समाधान स्वयं टीकाकार करते हैं--"न कस्मिन्नपि सूत्रे प्रतिषिद्धं, प्रत्युत, देशनोद्धारेण राजप्रश्नीयोपांगे केशिनोपदेशितम् ।" अनुकम्पादान का किसी भी शास्त्र में प्रतिषेध नहीं किया गया है, बल्कि देशना द्वारा राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय) उपांग में स्वयं केशीस्वामी ने इसका उपदेश दिया है। जैसे "मा णं तुमं पएसी ! पुव्वि रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि" इत्यादि ।

इससे ज्यादा आप आगम का प्रमाण क्या लेना चाहेंगें ? अंग सूत्रों में स्थानांग में वर्णित दश दानों में अनुकम्पादान स्पष्ट वर्णित है ही। वह यदि अशुभ बंध का हेतु होता तो प्रदेशी राजा ने दान शाला में दान देते हुए और अणुव्रत पौषध-उपवास का पालन करते हुए विचरूंगा, ऐसी केशी स्वामी के सामने प्रतिज्ञा क्यों की ? और उसी के अनुमोदन में केशी स्वामी ने क्यों कहा कि प्रदेशी ! रमणीय बनकर अरमणीय मत बनना। यानि जिस भांति तू अभी धर्म में तत्पर बना है पीछे शिथिल मत बन जाना। इस पर इक्षु खेत आदि के चार दृष्टांत दिए गए।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरों का वार्षिक दान भिक्षु स्वामी सावद्य मानते हैं, उनके अनुयायी आज विसर्जन को संवर निर्जरा का हेतु मानते हैं। कैसी विडम्बना है ? कैसा भद्र जनता की बुद्धि के साथ खिलवाड़ है ? विसर्जन शब्द को भी एक ऐसा चोगा पहनाया है कि प्रश्नकर्ता को यह बड़े वाग्जाल से भ्रमित कर देता है। विसर्जन का अर्थ केवल धन के लिए नहीं है। विसर्जन क्रोध का, मान का, लोभ का, दुर्व्यसनों का तथा धन का भी होता है, पर हम पूछना चाहते हैं अपनी छाती पर हाथ रखकर स्पष्ट कहिए कि यह विसर्जन शब्द का प्रयोग क्या दान के स्थान पर नहीं किया गया ? क्या स्वामी जी ने भी कभी विसर्जन को संवर निर्जरा कहा है ? हमारा तो प्रश्न है कि किसी संस्था, समाज या सहायता के लिए किया गया धन का विसर्जन क्या संवर-निर्जरा, त्याग-अनासक्ति है ? यदि है, तो तीर्थंकरों के वर्षीदान को एकांत पाप बतलाना बुद्धिगम्य नहीं है, क्योंकि आज के तथाकथित धनी श्रावकों का विसर्जन तो एकान्त धर्म का हेतु है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और तीन ज्ञान के धनी द्रव्य तीर्थंकर का दान पाप का हेतु, कितना बड़ा अनर्थ है ? चिन्तन की कितनी दयनीयता है, कृपणता है। हाँ, तीर्थंकरों के दान का तो वह उच्च कोटि का स्वरूप है कि जिसकी तुलना में आज के महत्त्वाकांक्षियों का दान आ ही कहाँ सकता है ? उन महापुरुषों के दान में न कोई जान-पहचान का सम्बन्ध है, और न ही कोई यश-कीर्ति आदि की कामना है। जो आया सो ले गया। कौन ले गया ? क्या बोलकर ले गया, कोई विवरण नहीं है। बस दिया जा रहा है, लेने वाले ले रहे हैं। यह तो फलों से लदे हुए उस महा सहकार वृक्ष का दान है कि कोई जाए ले आए, न कोई हिसाब है न कोई गणना है और न ही किसी बात की प्रत्युपेक्षा है। अहो ! कहां वह त्रिलोकीनाथ का निःस्वार्थ अनवद्य दान और कहां आज का भारी सभाओं में लाउड स्पीकार पर जोर-जोर से तालियों की गड़गड़ाहट के साथ घोषित होने वाला विसर्जन।

कुछ अल्पज्ञ ऐसे ही कह देते हैं कि तीर्थंकरों द्वारा दिया जाने वाला अर्थ कौनसा उसका होता है। वह तो इन्द्र का लोकपाल वैश्रमण दान के लिए स्वर्ण-मुद्राओं का ढेर लगा देता है। प्रभु तो मात्र दिये जाते हैं। इसमें उनका क्या है ? यहाँ भी चिन्तन की अपेक्षा है। तीर्थंकरों के महाशुभनाम प्रकृति के उदय से वह अमित धनराशि वहाँ एकत्रित होती है। वह धन किसी और का नहीं उनके परम-पुण्य परिपाक का परिणाम है। शालिभद्र के स्वर्गवासी पिता अपने पुत्र के लिये प्रतिदिन अद्भुत वैभव सामग्री से परिपूर्ण तेंतीस पेटियां उसके महल में पहुँचाते थे। क्या उस धन का स्वामी शालिभद्र नहीं था ? अवश्य था ही। इसी भाँति तीर्थंकरों के प्रबल पुण्योदय से समुपस्थित होने वाले धन पर स्वामित्व उनका ही था, पर जन समुदाय को त्याग का प्रत्यक्ष पथ दिखलाने के लिए प्रभु ने दान का तरीका अपनाया। सोचो-सोचो गहराई से सोचो ! सत्य का साथ दो ! भव्यों ! जब से जगे तभी से प्रभात।

'सत्यमेव जयते नानृतम्' □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य और सेवाधर्म

□ श्री केदारनाथ

सेवावृत्ति का महत्त्व

हम मानते हैं कि मनुष्य अपने बौद्धिक बल से जगत् में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ है। परन्तु यह पूर्णतया सही नहीं है। थोड़ा विचार करने से हमारे खयाल में आ सकता है कि श्रेष्ठता उसे केवल बौद्धिक बल से प्राप्त नहीं हुई है; उसका कारण मनुष्य के अन्य कई सद्गुण हैं। बौद्धिक विकास के साथ यदि मनुष्य का मानसिक विकास न हुआ होता, तो उसमें आज की मानवता न दिखाई देती; वह एक बुद्धिमान् पशु बन गया होता और बुद्धि की वृद्धि के साथ उसमें केवल पशुता की वृद्धि ही दिखाई देती। मनुष्य में मानवता उत्पन्न होने में जो सद्गुण और सद्वृत्तियां कारणभूत बनी हैं, उसमें सेवावृत्ति का बहुत बड़ा महत्त्व समझना चाहिए। प्रेम, वात्सल्य, माता-पिता का भाव, करुणा, मैत्री, परोपकार आदि सारे भावों और भावनाओं का सेवा-वृत्ति के साथ निकट का सम्बन्ध है। इस सेवावृत्ति में से ही सेवा-धर्म का उदय हुआ है। इस धर्म के ही कारण वात्सल्य का महत्त्व है। मातृ-पितृ भाव का सम्बन्ध वात्सल्य के साथ ही है; इतना ही नहीं, वात्सल्य ही माता-पिता की सम्पत्ति है और वही उनकी वास्त-विक शक्ति है। इस वात्सल्य से ही उनकी सेवावृत्ति प्रकट होती है। उस वात्सल्य और उस सेवावृत्ति के कारण भावी पीढ़ी का पोषण, संगोपन और संवर्धन होता है। वात्सल्य के द्वारा किसी भी माता को स्वयं कष्ट, मुसीबतें और दुःख सहन करके अपने बालकों को सुखी बनाने की शिक्षा मिलती है। सेवा की अत्यन्त उत्कट भावना और उसके अनुरूप कार्य इस वात्सल्य से ही प्रकट होते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को सेवा का प्रथम लाभ उसकी माता से मिलता है। माता के हृदय के वात्सल्य से ही उसकी वृद्धि होती है। पैदा हुआ बालक अपनी माता से अनेक प्रकार की सेवा लेते-लेते मनुष्य बनता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उसका जीवन पूरी तरह माता पर अवलम्बित होता है। बाल्य-काल में माता का वात्सल्य और सेवावृत्ति ही उसके जीवन का मुख्य आधार होती है। इस दृष्टि से बाल्यकाल का विचार किया जाय तो हर तरह से और हर पहलू से असमर्थ और पराधीन स्थिति में से निकाल कर माता ही बालक को धीरे-धीरे समर्थ और स्वाधीन बनाती है। जिसके लिए उसे बालक की हर प्रकार की सेवा करनी पड़ती है। रात-दिन उसे बालक की ओर ही सारा ध्यान लगाना पड़ता है। यह सब वात्सल्य के बिना नहीं हो सकता। प्रेम के बिना वात्सल्य नहीं टिक सकता और उत्कट भावना के बिना प्रेम नहीं टिक सकता। इस उत्कटता, प्रेम, सेवावृत्ति और वात्सल्य को यदि माता से अलग कर लें, तो मातृत्व के रूप में उसके पास बाकी क्या रह जायगा? वह निरी स्त्री ही रह जायगी। जीवन की दृष्टि से केवल उसके स्त्री रूप का क्या मूल्य है?

सेवावृत्ति का विकास

इस दृष्टि से सोचें तो कहना पड़ेगा कि स्त्रियों में पाया जाने वाला मातृभाव और सेवाभाव सारे जगत् की सेवा करता है। उनकी इन भावनाओं के कारण जगत् का पालन, पोषण, संगोपन और संवर्धन होता है। उनकी सेवा-भावना के कारण ही प्रत्येक पीढ़ी में मानवता आती है। जगत् में आज तक जो बड़े-बड़े ज्ञानी-विज्ञानी, बड़े राजपुरुष, राजनीतिज्ञ, योद्धा, धर्म-संस्थापक, पैगम्बर अथवा अवतारी माने गये व्यक्ति हुए हैं, वे सब अपनी माता की सेवावृत्ति का लाभ उठाते-उठाते ही बड़े बने हैं। आधुनिक समय के ऐसे बड़े पुरुष भी इस विषय में अपनी माताओं के ऋणी हैं। जन्म से जिसकी मां का अवसान हो जाता है, उसे भी अन्य किसी स्त्री के मातृत्व का आधार मिल जाता है। किसी-न-किसी की सेवा भावना से ही उसका पालन-पोषण होता है। इस दृष्टि से हममें से प्रत्येक स्त्री-पुरुष, मनुष्य मात्र, मातृत्व का ही ऋणी है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसे अपने पिता, भाई, बहन तथा निकट के सगे-सम्बन्धियों के वात्सल्य, प्रेम और सेवाभाव का लाभ मिलने लगता है। इसके बिना उसका जीवन चल नहीं सकता। मनुष्य जैसे-जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बड़ा होता है, जैसे-जैसे उसके जीवन की आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं और उसका सम्बन्ध व्यापक होता जाता है, वैसे-वैसे माता के सिवा अन्य अलग-अलग व्यक्तियों के प्रेम, सहानुभूति, सेवा और सहकार की उसे जरूरत पड़ती है। इस प्रकार उसके जीवन के लिए दूसरों की सद्भावनाओं की भी आवश्यकता मालूम होने लगती है। इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते मनुष्य जब कुछ समर्थ हो जाता है, तब एक ओर वह दूसरों की सहानुभूति, प्रेम और सहकार स्वीकार करता है तो दूसरी ओर अपनी इन्हीं भावनाओं द्वारा दूसरों की सेवा करने योग्य भी बनता है। उस समय जैसे उसे दूसरों की सेवा लेनी पड़ती है, उसी तरह सेवावृत्ति से दूसरों की सहायता भी करनी पड़ती है। जिस दृष्टि से देखने पर हम सब मनुष्य—मानव जाति - परस्पर प्रेम, करुणा, वात्सल्य, सेवाभाव आदि सद्भावनाओं पर अपना जीवन-व्यापार चलाते रहते हैं। हमारे सद्गुण ही हम सबके लिए परस्पर उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन एक-दूसरे की सहायता से चलता है। बचपन में हमसे बड़े और ज्ञानी लोगों की वात्सल्य, प्रेम आदि भावनाओं द्वारा हम सेवा लेते हैं, तो बड़ी उम्र में ये ही भावनायें अपनी सन्तान के प्रति रखकर हम उनकी सेवा करते हैं। इसी प्रकार बचपन में हमारी सार-संभाल करने वाले तथा अनेक प्रकार से हमारे कल्याण के लिए सतत प्रयत्न करने वाले लोग जब बूढ़े होते हैं तब हम कृतज्ञतापूर्वक उनकी सेवा करते हैं। मनुष्य बचपन में जैसे असमर्थ और पराधीन होता है, वैसे ही वृद्धावस्था में, रोगी अवस्था में और जीवन के अन्तिम काल में भी वह पराधीन हो जाता है। उस समय सेवा करने का उसका काल पूरा होता है और दूसरों से सेवा लेने का अवसर आता है। ऐसे समय प्रेम और कृतज्ञतापूर्वक उसकी सेवा करना वर्तमान पीढ़ी का धर्म हो जाता है। सेवा करने वाला वृद्ध हो जाता है तब उसे भी भावी पीढ़ी पर अवलम्बित रहना पड़ता है। जन्म से मनुष्य पराधीन होता है और जीवन के अन्त में भी वह पराधीन हो जाता है। बचपन में उसे पुरानी पीढ़ी से सेवा लेनी पड़ती है, बीच के काल में वह सेवा लेता है और दूसरों की सेवा करता है, और अन्तिम दिनों में उसे नई पीढ़ी से सेवा लेनी पड़ती है। इस तरह मानव-जीवन कभी स्वाधीन और कभी पराधीन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है, अतः उसमें सेवा करने के तथा सेवा लेने के अवसर आते हैं। उनसे वह बच नहीं सकता। ऐसी पराधीन अवस्था को छोड़कर भी जीवन का विचार करें तो मालूम होता है कि कोई भी मनुष्य अपने अकेले के सामर्थ्य और शक्ति-बुद्धि से अपना जीवन नहीं चला सकता। इसी कारण से परिवार, ग्राम, समाज, देश, राष्ट्र—इस प्रकार एक से एक अधिक व्यापक मानव-संस्थायें बनती आयी हैं। इन सब में परस्पर सहकारवृत्ति और सेवाधर्म द्वारा परस्पर उपयोगी बनने का भाव हो, तो ही ये संस्थायें कार्यक्षम, समर्थ और स्थायी रह सकती हैं और मानव जाति की पीढ़ियां अधिकाधिक सुसंगठित, सुसंस्कृत, व्यवस्थित, तेजस्वी, क्रियाशील और उन्नत बन सकती हैं। इस सबका आधार हमारी सेवा-परायणता और सेवाधर्म की निष्ठा पर टिका होता है।

इस सेवाधर्म के आधार पर ही मनुष्य छोटे से बड़ा होता है। यह सेवाधर्म स्त्रियों में न होता, उनके हृदय में मातृत्व का स्थान न होता, तो जगत् में मानवता का निर्माण ही न हुआ होता। इसी कारण से संसार में मातृत्व की इतनी महिमा मानी गई है। वात्सल्य के कारण ही उसे इतना महत्त्व प्रदान किया गया है। जीवन में जब-जब कठिन अवसर आते हैं, तब-तब उनमें से अपने को छुड़ाने के लिए हमें किसी करुणाशील, प्रेमल और समर्थ व्यक्ति की आवश्यकता महसूस होती है। ये सारे भाव वात्सल्य में हैं, और वह वात्सल्य माता में भरा होता है। बचपन में माता ही हमें सर्वस्व मालूम होती है। रोगी की दशा में भी मनुष्य को वात्सल्य की जरूरत मालूम होती है। इसलिए रोगी मनुष्य को वात्सल्यपूर्ण भाव से व प्रेम से, अपनी सेवा करने वाला व्यक्ति माता के समान प्रिय लगता है। परमेश्वर को कुछ संतों ने माता की, तो कुछ संतों ने पिता की उपमा दी है। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य को जीवनभर मातृ-पितृ-भाव की, वात्सल्य की और प्रेमपूर्ण सेवा की जरूरत रहती है।

जीवनव्यापी सेवावृत्ति

जीवन के प्रथम क्षण से आरंभ करके अंतिम क्षण तक मनुष्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा की आवश्यकता रहती है। सेवाधर्म में निष्ठा रहे बिना सच्ची सेवा नहीं हो सकती। इस धर्म में सारे सद्‌गुणों का समावेश हो जाता है। सद्‌गुणों के कारण मानवता का विकास होता आया है। जगत् में जितने भी धर्म हैं, उन सबमें सद्‌भावनाओं और सद्‌गुणों को महत्त्व दिया गया है। और किसी भी सद्‌भावना या सद्‌गुण की जांच करें तो उसके साथ सेवा का ही सम्बन्ध दिखाई देगा। प्रेम, करुणा, मैत्री, बंधुभाव, सहकार की भावना, उदारता, परोपकार-वृत्ति, समाज-देश-राष्ट्र आदि की भक्ति — इन सबमें मुख्यतः सेवावृत्ति ही पाई जायेगी। सद्‌गुणों पर ही जगत् के कल्याण का आधार है। इससे हमें यह बोध मिलता है कि हममें परस्पर सेवाभाव होना चाहिये। यह सेवा भाव किसी जगह हमें माता-पिता के प्रेम और वात्सल्य में प्रकट होता दिखाई देगा, किसी जगह भाई-बहन के प्रेम अथवा मित्र के प्रेम के रूप में दिखाई देगा और किसी जगह दान, परोपकार, उदारता, करुणा, सहानुभूति, सहकार आदि गुणों द्वारा प्रकट होगा। किसी जगह वह पति-पत्नी के जीवन में ओत प्रोत हुआ दिखाई देगा। इस प्रकार अनुभव से पता चलेगा कि सारी मानव-जाति सेवा-भावना के आधार पर ही जीती है। इस भावना की शुद्धि और वृद्धि लिए मानव-जीवन में सेवा धर्म का महत्त्व समझना अत्यंत आवश्यक है।

इस प्रकरण के आरंभ में ही कहा गया है कि दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में बुद्धि अधिक है, परन्तु उस बुद्धि के बल पर ही वह आज की श्रेष्ठता को नहीं पहुंचा है। बेशक, उसकी बुद्धि कुछ अंश तक इस श्रेष्ठता का कारण है। परन्तु सद्‌गुणों के रूप में बहुत हद तक व्यापक बने हुए सेवाभाव की वृद्धि मनुष्य में न हुई होती तो आज की श्रेष्ठता प्राप्त करना उसके लिए कभी संभव नहीं होता। मनुष्य जिस तरह बुद्धि-प्रधान प्राणी है, उसी तरह वह सामाजिक प्राणी भी है। समाज के बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं है। 'अस्तित्व नहीं है' से मेरा मतलब है कि जिस सांस्कृतिक अवस्था में आज वह है वह अवस्था उसके लिए संभव नहीं होती। उस सांस्कृतिक अवस्था की वृद्धि सेवाधर्म की निष्ठा के बिना नहीं हो सकती। ऐसी निष्ठा निर्माण करने और उसे दृढ़ बनाने का प्रयत्न आज तक अनेक महा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषों ने किया है। देश, काल और अवसर के अनुसार सेवा और सद्‌गुणों के महत्त्व का वर्णन उन्होंने अलग-अलग ढंग से किया है। त्याग के बिना सद्‌गुणों की वृद्धि नहीं होती; इतना ही नहीं, उसके बिना सद्‌गुण टिक ही नहीं सकते। इसलिए उन महापुरुषों ने बड़े आग्रह के साथ त्याग का उपदेश दिया है। एक ओर त्याग और दूसरी ओर किसी का हित—ये दोनों बातें साधने की शक्ति प्रत्येक सद्‌गुण में होनी चाहिये। सद्‌गुण में यह शक्ति हो तो ही वह आत्म-कल्याण-कारी और परोपकारी बनकर प्रभावशाली सिद्ध होता है। परहित-कारी कार्य करते समय भी यदि हमारे चित में सेवाभाव न हो, तो उस कार्य द्वारा हमारी उन्नति होने का विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि उससे किसी समय हमारे मन में अहंकार उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी वह काम हम लाचारी से करते हैं और इसलिए हमारे मन का झुकाव उसे टालने की ओर होता है; और इस सम्बन्ध में हमसे कुछ भी करते न बने तो वह कार्य हममें जड़ता अथवा गुलामी की वृत्ति पैदा करता है। अतः किसी भी कार्य में आत्म-कल्याण और परिहत जैसे दो उद्देश्य और सामर्थ्य हों, तो ही उससे हमारी और दूसरों की उन्नति हो सकती है। हमारे कार्य में, कर्म में, ऐसा सामर्थ्य उत्पन्न हो, इसके लिए हमारे मन में सेवाभाव होना चाहिये और यह भाव सदा बना रहे इसके लिए सेवाधर्म पर हमारी निष्ठा होना आवश्यक है।

त्याग और कर्त्तव्य-निष्ठा

हमारे कर्म इस निष्ठा से होते रहें, तो हममें मानवता का विकास होता रहेगा और हमारा समाज मानव-समाज के रूप में संसार में टिका रहेगा। योग्य कर्म के बिना जीवन चल ही नहीं सकता। शुद्ध विवेक के बिना उचित और अनुचित कर्म के बीच हम भेद नहीं कर सकेंगे। सेवाधर्म के बिना केवल कर्म से आत्म-कल्याण और परहित सिद्ध नहीं होगा। हम सेवाधर्म का पालन करें तो ही हमारे बीच सह-कार रहेगा। हम सब एक-दूसरे के लिए उदात्त भावना से कष्ट न सहें, तो हममें प्रेम, विश्वास आदि भाव न तो उत्पन्न होंगे और न बढ़ेंगे। प्रेम, विश्वास आदि भावों के बिना ऐक्य की स्थापना नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकती। ऐक्य के अभाव में समाज का टिकना शक्य नहीं है। त्याग के बिना हममें उदात्तता नहीं आ सकती। उदात्तता के बिना हम एक-दूसरे के लिए सन्तोषपूर्वक थोड़ा-बहुत कष्ट सहन नहीं कर सकते। संयम के अभाव में सच्चा त्याग नहीं सधेगा। और सच्चे त्याग के बिना संतोष का अनुभव नहीं होगा। संतोष के बिना आत्म-कल्याण संभव नहीं है। ये सब गुण सेवाधर्म और कर्त्तव्य पर निष्ठा रहे बिना सिद्ध नहीं किये जा सकते। ये सब परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं माना जा सकता।

पुत्र के लिए हर तरह से कष्ट उठाना माता-पिता को कौन सिखाता है? देश के लिए प्राण अर्पण करनेवाले, उसके लिए सदा दुःख भोगनेवाले, धर्म के लिए बलिदान देनेवाले, परिवार में एक-दूसरे के लिए संतोष के साथ कष्ट सहनेवाले—इन सबको अपनी निष्ठा से ही ऐसा करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। हमारा मानव-जीवन इस निष्ठा पर ही चलता है। इस कष्ट-सहन में जहां बाधा आती है, जहां केवल स्वार्थवृत्ति से हम चलते हैं, वहां मानवता का विकास रुक जाता है। यदि हम चाहते हों कि यह विकास सदा होता रहे, तो हमें अपने प्रत्येक कर्म में कर्तव्य-निष्ठा और सेवा-भावना रखने का प्रयत्न करना चाहिये। जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक मानव-जाति के सद्गुणों पर ही हमारे जीवन का आधार होता है। मानव-जाति में आज जो कुछ सुख, शांति, सन्तोष, आनन्द और उत्साह दिखाई देता है, उसका कारण हमारी मानवता अर्थात् हमारे सद्गुण हैं; और जो भी दुःख, आपत्ति और अनर्थ दिखाई देता है, उसका कारण हमारे दुर्गुण हैं। यह सब हमारे सद्गुणों और दुर्गुणों, सेवावृत्ति और स्वार्थ, धर्म और अधर्म का ही परिणाम है। यह बात ध्यान में रखकर हम सबको अपने जीवन में सद्गुणों को, सेवाधर्म को महत्त्व प्रदान करना चाहिये। मानवता को अपने जीवन का आदर्श समझना चाहिये। इस बात पर ध्यान देंगे तो हम सब अवश्य सुखी होंगें। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

☐ श्री काका कालेलकर

जैन दृष्टि की जीवन-साधना में अहिंसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमें अहिंसा का एक पहलू है जीवों के प्रति करुणा और दूसरा है स्वयं हिंसा के दोष से बचने की उत्कट कामना। दोनों में फर्क है। करुणा में प्राणी के दुःख निवारण करने की शुभ कामना होती है। प्राणियों का दुःख दूर हो, वे सुखी रहें, उनके जीवनानुभव में बाधा न पड़े, इस इच्छा के कारण मनुष्य जीवों के प्रति अपना प्रेम बढ़ाता है, सहानुभूति बढ़ाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौड़ता है।

दूसरी दृष्टि वाला कहता है कि सृष्टि में असंख्य प्राणी पैदा होते हैं, जीते हैं, मरते हैं, एक-दूसरे को मारते हैं, अपने को बचाने की कोशिश करते हैं। यह तो सब दुनिया में चलेगा ही। हर एक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियों को दुःख से बचा सकते हैं? दुःख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहंकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान् ने मनुष्य को दिया नहीं है। मनुष्य स्वयं अपने को हिंसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, मरावे या मारने में अनुमोदन देवे। अपने को हिंसा के पाप से बचाना यही है अहिंसा।

इस दूसरी दृष्टि में यह भी विचार आ जाता है कि हम ऐसा कोई काम न करें कि जिसके द्वारा जीवों की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पड़े। अगर हमने आस-पास की जमीन नाहक गीली कर दी, कीचड़ इकट्ठा होने दिया तो वहां कीट-सृष्टि होगी। पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिये हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले इतना तो हमें देखना ही चाहिये। यह भी अहिंसा की साधना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी वृत्ति से ब्रह्मचर्य का पालन अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नहीं होने दिया तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जायेंगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढ़ती है। उसमें कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियों को दुःख से बचाना, उनके भले के लिये स्वयं कष्ट उठाना, त्याग करना, संयम का पालन करना यह सब क्रियात्मक बातें अहिंसा में आ जाती हैं।

आजकल जैन समाज में इसकी चिन्ता नहीं चलती कि हम हिंसा के दोष से कैसे बचें। जो कुछ जैनियों के लिये आचार बताया गया है उसका पालन करके लोग संतोष मानते हैं। धर्म बुद्धि जाग्रत है, लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है तो साधक अणुव्रत का पालन करेंगे। साधना बढ़ने पर दीक्षा लेकर उग्र व्रतो का पालन करेंगे।

अब जिन लोगों ने जीवदया के अहिंसक आधार का विस्तार किया, उन लोगों ने अपने जमाने के ज्ञान के अनुसार बताया कि पानी गरम करके एकदम ठंडा करके पीना चाहिये। आलू, बैंगन जैसे पदार्थ नहीं खाने चाहिये। क्योंकि हर एक बीज के साथ और हर एक अंकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है। एक आलू खाने से जितने अंकुर उतने जीवों की हत्या करने का पाप लगेगा। सूक्ष्माति-सूक्ष्म जीवों की हत्या से बचने के लिये इतना सतर्क रहना पड़ता है कि वही जीवन-व्यापी साधना बना जाती है। पानी गरम करके एक-दम ठंडा करना, मुँहपत्ती लगाना, शाम के बाद भोजन नहीं करना इत्यादि रीतिधर्म का विकास हुआ।

शुरू-शुरू में यह सब वैज्ञानिक शोध-खोज थी। हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा बढ़ेगा उसके अनुसार हमारा अहिंसा का आकलन भी बढ़ेगा, बढ़ना चाहिये। उसके अनुसार आचार-धर्म में सूक्ष्मता भी आनी चाहिये। अगर अनुभव से कोई बात गलत साबित हुई तो पुराने आचार-धर्म बदलने भी चाहिये। अहिंसा धर्म जड रूढिधर्म नहीं है, वह वैज्ञानिक धर्म है। विज्ञान के द्वारा जैसे-जैसे हमारा जीव विज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणि विज्ञान बढ़ेगा वैसे-वैसे हमारा अहिंसा का आचार धर्म भी अधिकाधिक सूक्ष्म बनेगा। विशिष्ट प्राणी में या वस्तु में जीव है या नहीं है इसकी खोज तो होनी ही चाहिये। जैन तीर्थंकर और पूर्व आचार्यों के दिनों में जीव-सृष्टि का विज्ञान जहां तक बढ़ा था, उसके अनुसार उन्होंने अहिंसक धर्म का आचार-धर्म कैसा-कैसा होता है, यह बताया। वे लोग अपने जमाने के विज्ञान-निष्ठ थे।

आज उसी प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टि का हमने रूपान्तर कर दिया है वचननिष्ठा में और रूढिनिष्ठा में।

इधर आज की दुनिया में, विशेषकर पश्चिम में जीव-विज्ञान बहुत कुछ आगे बढ़ा है। जीव किसे कहें, किस चीज में जीव तत्त्व कितना है, उसका विकास कैसे होता है, जीवों को मरण क्यों आता है, मरण से बचाने के लिये क्या-क्या करना चाहिये आदि अनेक बातें नये ढंग से, नई दृष्टि से सोची जाती है और सोचनी चाहिये। यह है अनुसंधान का विषय, न कि तीर्थंकरों के, गणधरों के, आचार्यों के आप्त-वचनों का अर्थ करने का। अगर हम वैज्ञानिक दृष्टि छोड़ कर व्याकरण, तर्क और दृष्टि समन्वय के आधार पर चर्चा ही करते रहे तो वह दृष्टि वैज्ञानिक न रह कर वकीलों के जैसी चर्चात्मक ही बन जायेगी।

इसलिये हमें जीवविज्ञान में, मनोविज्ञान में और समाजविज्ञान में अनुसंधान करना होगा। प्रयोग और चिन्तन चला कर गहरा अनुसंधान करना पड़ेगा और वह भी हमारी निजी मौलिक दृष्टि से।

पश्चिम के प्रयोग-वीरों ने जो आज तक अनुसंधान किया है, उससे हम लाभ उठायेंगे जरूर, लेकिन उनका प्रस्थान ही हमें मान्य नहीं है। पश्चिम में वनस्पतिविज्ञान, कृमि-कीट आदि सूक्ष्म प्राणी-विज्ञान, आदि विज्ञान के अनेक विभाग अथवा क्षेत्र दिन-पर-दिन प्रगति करते जा रहे हैं, लेकिन उनका प्रस्थान ही गलत है। सामान्य तौर पर नीचे दिये गये सिद्धान्त ही उनके बुनियादी सिद्धान्त हैं।

(1) जिस तरह मिट्टी, पत्थर, पानी, सोना, चांदी, लोहा आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धातु, यह सारी भौतिक सृष्टि मनुष्य के उपयोग के लिये है, उसी तरह सारी-की-सारी मनुष्येतर सृष्टि भी मनुष्य के उपयोग के लिये है। वृक्ष, वनस्पति, कंद मूल, फल आदि वनस्पति-सृष्टि मनुष्य के उपभोग के लिये है; उसी तरह कीट-सृष्टि, पशु-पक्षी, आदि द्विपाद, चतुष्पाद और बहुपाद प्राणियों की सृष्टि; पशु-पक्षी आदि स्थलचर, साँप आदि सरिसृप और मछलियाँ आदि जलचर सब मनुष्य के आहार के लिये, सेवा के लिये, उपभोग और आनन्द के लिये हैं। इन्हें मार कर खाना, पकड़ कर काम में लाना और उन पर अपना स्वामित्व रखना यह सब मनुष्य के अधिकार में आता है।

(2) अगर इनकी संख्या कम होने लगी तो इनकी पैदाइश बढ़े, इनकी नई-नई नस्लें तैयार हो जायें और इनसे अधिकाधिक सेवा मिल जाय इसलिये सब तरह से पुरुषार्थ करने का भी मनुष्य को अधिकार है।

(3) वनस्पति-सृष्टि का और प्राणसृष्टि का उपयोग करते अगर कुछ नुकसान होता है, रोग होते हैं, बाधायें पहुँचती हैं, खतरे उठाने पड़ते हैं तो अपनी बुद्धि चलाकर इन सब चीजों का और प्राणियों का उपभोग निराबाध बन सके इसका इलाज भी ढूँढना है।

(4) और, इस तरह से वनस्पति और प्राणि-सृष्टि पर अधिकार जमने के बाद उनसे जो लाभ होता है वह सारी-की-सारी मनुष्य जाति को मिल सके इसलिये आवश्यक है वैज्ञानिक संशोधन करना, संगठन बढ़ाने की शक्ति बढ़ाना और अधिक-से-अधिक लाभ आसानी से मिल सके ऐसी व्यवस्था काम में लाना।

इन चारों पुरुषार्थों में मूल विचार है स्वामित्व प्राप्त करके उपभोग करने का। अहिंसा का प्रस्थान बिलकुल इसके विपरीत होगा। इसलिये हमारी फिजिकल लैबोरेटरी में वैज्ञानिक प्रयोगशाला में, एनिमल हसबेंडरी में—पशु-संवर्धन में हमारी दृष्टि ही अलग होगी।

हम कहेंगे कि वनस्पति, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर जीव-सृष्टि को जीने का स्वतन्त्र अधिकार है। न हम उनके मालिक हैं, न उन पर हमारा कोई अधिकार है। बात सही है कि इनके बिना हम जी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सकते, लेकिन इन्हें मारने का, इन्हें लूटने का, इनके परिश्रम से लाभ उठाने का हमें कोई नैतिक अधिकार नहीं है। इसलिये यह सारी स्वार्थी प्रवृत्ति घटाने की हमारी कोशिश होनी चाहिये। अहिंसा और मानवता की दृष्टि से हमें एक ऐसा क्रम बाँधना होगा, जिसके द्वारा अपने जीवन में हम हिंसा को उत्तरोत्तर कम करते जायं। आज गाय, बैल, भैंसे आदि बड़े-बड़े जानवरों को अभयदान दिया, कल बकरे, मेंढे, दुंबे, हिरण आदि छोटे जानवरों को मारना छोड़ दिया, परसों मांसाहार में मछलियाँ और अंडे के बाहर मांसाहार न करने का नियम बनाया, आगे जाकर प्राणी के शरीर से उत्पन्न होने वाले दूध, घी आदि स्वाभाविक आहार की मदद लेकर धान्य, फल, सब्जी, कंदमूल आदि अन्नाहार से संतोष माना, उसके बाद हिम्मत पूर्वक दूध आदि पदार्थ अंडे के जैसे ही त्याज्य मानकर उनके बिना चलाने की कोशिशें करना और दूध, घी आदि मांसाहार के प्रतीकों की जगह वनस्पति में से हम क्या-क्या पैदा कर सकते हैं इसके प्रयोग करना, यह होगी हमारी अहिंसावृत्ति की शोध खोज।

अगर दूध देने वाली गाय पवित्र है, तो शहद देने वाली मधुमक्खी भी उतनी ही पवित्र है। गौहत्या महापाप है तो शहद की मक्खियों को मारना, उनके छत्तों का नाश करना, धुआँ और आग के प्रयोग से उनका नाश करना, यह सब हिंसा है, घातकता है और अनावश्यक क्रूरता है, यह भी समाज को समझाना चाहिये।

रेशम के लिये जो हम कीट-सृष्टि में भयानक संहार चलाते हैं उसका भी हमें विचार करना होगा। इसमें इतना कहने से नहीं चलेगा कि इतनी हिंसा हम मान्य रखते हैं, बाकी की मान्य नहीं रखते। केवल मान्यता की ही बात सोची जाय तो उसमें अनेक पंथ पैदा होंगे ही और ऐसे पंथों को मान्य रखना ही धर्म्य होगा।

मनुष्य को मार कर खाने वाले समाज भी इस दुनिया में थे। प्राचीन या मध्यकालीन जैन मुनियों ने ऐसे लोगों के बीच जाकर भी उन्हें अहिंसा की ओर आकृष्ट किया। इसके आगे जाकर पशु-पक्षी का मांस खाने वाले लोगों ने गाय-बैल का मांस छोड़ा, यह भी एक प्रगति हुई। लेकिन इतने पर से गाय-बैल का मांस खाने वाले को हम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापी या पतित नहीं कह सकते, उनसे घृणा भी नहीं कर सकते। दुनिया में बहुमत उनका है। उनकी धर्मबुद्धि और हमारी धर्मबुद्धि में फर्क है। ऐसे करोड़ों हिन्दू हैं, जो पूज्यभाव के कारण गाय-बैल का मांस नहीं खाते, किन्तु इतर पशु-पक्षियों का मांस खाते हैं। ऐसे भी हिन्दू हैं जो बतक के अंडे खाते हैं, किन्तु घृणा के कारण मुर्गी के अंडे नहीं खाते। मुसलमान ऐसी ही घृणा के कारण सूअर का मांस नहीं खाते। यहूदियों के भी अपने नियम हैं। और, हिन्दुओं में भी गोमांस खाने वाले नहीं सो नहीं।

यह सारा विस्तार इसलिये किया है कि हम केवल आदर और तिरस्कार पर आधारित मनोवृत्ति के वश न होकर वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग करते जायँ और सब के प्रति हम सहानुभूति रखें।

और, अब अहिंसा की हमारी साधना को केवल शास्त्र-वचनों पर धार्मिक रस्म-रिवाजों पर आधारित न रखकर उसे वैज्ञानिक संशोधन का विषय बनावें।

आज तक पशु-हिंसा, निरामिषाहार, तपस्या और आहार-शुद्धि इतनी ही दृष्टि को प्रधान बना कर अहिंसा का विचार और प्रचार किया और पुराने जमाने की स्थूल वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार एकेन्द्रिय प्राणी, पंचेन्द्रिय प्राणी आदि भेदों की बुनियाद पर अहिंसा के नियम बनाये। अब जब विज्ञान और खास करके जीव विज्ञान बहुत कुछ बढ़ा है और हम नई बुनियाद लेकर जीव विज्ञान बढ़ा सकते हैं, तब पुराने, कालग्रस्त जीव विज्ञान से हम संतोष न मानें। जो बुनियाद मजबूत नहीं है उसे छोड़ दें और वचन-प्रामाण्य एवं पुराने धर्मकारों के अनुयायित्व से संतोष न मान कर आध्यात्मिक दृष्टि से नये-नये प्रयोग करने के लिए हम तैयार हो जाएँ।

इसके लिए पश्चिम की प्रयोगशालाओं से भिन्न अहिंसा-परायण प्रयोगशालाओं की स्थापना करनी होगी। प्रयोग-वीर अध्यापक उसमें काम करेंगे। सिद्धान्त और व्यवहार का समन्वय करके मानव जाति के उत्कर्ष के लिए वे नसीहत देते जायेंगे। उनकी नसीहत धर्म-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषों की आज्ञा का रूप नहीं लेगी। जिसमें सत्य निष्ठा है और अहिंसा की सार्वभौम दृष्टि जिसे मंजूर है, उसके लिए अंदरूनी प्रेरणा से जो बात मान्य होगी सो मान्य। हर एक जमाने के मानव-हितचिन्तक तटस्थ तपस्वियों की नसीहत ही धर्मजीवन के लिए अन्तिम प्रमाण होगी और अन्तिम आधार हृदय के संतोष का ही होगा। 'शुद्धहृदयेन हि धर्मं जानाति।' इसलिये केवल प्राचीन धर्मग्रंथ और धर्मकारों के वचन से बाहर नहीं सोचने का स्वभाव छोड़कर हमें वैज्ञानिक ढंग से शुद्ध निर्णय पर आना होगा।

केवल आहार और आजीविका के साधन के क्षेत्र से अपने को मर्यादित न करके अहिंसा-जैसे सार्वभौम, सर्वकल्याणकारी सिद्धान्त का उपयोग और विनियोग, युद्ध और शांति-जैसे जगत्व्यापी सवालों का सर्वोदयी हल ढूँढ़ने में ऐसा करना जरूरी हो गया है। वंशसंघर्ष, वर्गसंघर्ष आदि विश्वव्यापी भयानक संघर्षों का निराकरण करके समन्वय की स्थापना करने के लिये अहिंसा की मदद कैसी हो सकती है, यह देखने के लिये कृषि-तुल्य चिन्तन और विज्ञानवीरों की प्रयोग-परायणता एकत्र करनी होगी। ऐसा मिलान करने से ही संजीवनी विद्या प्राप्त होगी।

इस दिशा में प्रारम्भ करना ही सब से महत्त्व की बात है। प्रारम्भ होने पर भगवान् की ओर से बुद्धियोग मिलेगा और योग्य व्यक्तियों का सहयोग तथा दिशा-दर्शन भी मिलेगा। पूर्व के और पश्चिम के मनीषियों ने आज तक जो चिन्तन किया है, अनुभव पाया है, और प्रयोग भी किये हैं, उनको एकत्र लाने से भविष्य की दिशा स्पष्ट हो सकेगी। किसी ने ठीक ही कहा है कि प्राचीनों की योगविद्या और आधुनिक काल की प्रयोग-विद्या दोनों के समन्वय से सत्ययुग की और धर्मयुग की स्थापना हो सकेगी। यह समय ऐसे नये प्रस्थान का है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मक्षय और प्रवृत्ति

☐ श्री किशोरदास घ. मशरुवाला

एक सज्जन मित्र लिखते हैं : कुछ लोग कहते हैं कि कर्म का संपूर्ण क्षय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, और कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय की संभावना नहीं है। इसलिये निवृत्ति मार्ग ही आत्मज्ञान अथवा मोक्ष का मार्ग है। क्योंकि जो भी कर्म किया जाता है, उसका फल अवश्य मिलता है। अर्थात् मनुष्य जब तक कर्म में प्रवृत्त रहेगा तब तक, वह चाहे अनासक्ति से कर्म करता हो तो भी कर्मफल के भार से मुक्त नहीं हो सकता। इससे कर्मबंधन का आवरण हटने के बदले उलटा घना होगा। इसके फलस्वरूप उसकी साधना खंडित होगी। लोक-कल्याण की दृष्टि से भले ही अनासक्ति वाला कर्मयोग इष्ट हो, परन्तु उससे आत्मज्ञान की साधना सफल नहीं होगी। इस विषय में मैं आपके विचार जानना चाहता हूँ।"

मेरी राय में कर्म, कर्म का बंधन और क्षय, प्रवृत्ति और निवृत्ति, आत्मज्ञान और मोक्ष इत्यादि की हमारी कल्पनाएँ बहुत ही अस्पष्ट हैं। अतएव इस संबंध में हम उलझन में पड़ जाते हैं और साधनों में गोते लगाते रहते हैं।

इस संबंध में पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि शरीर, वाणी और मन की क्रिया मात्र कर्म है। कर्म का यदि हम यह अर्थ लेते हैं तो जब तक देह है तब तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिलकुल छोड़ नहीं सकता। कथाओं में आता है उस तरह कोई मुनि चाहे तो वर्ष-भर तक निर्विकल्प समाधि में निश्चेष्ट होकर पड़ा रहे, परन्तु जिस क्षण वह उठता है उस क्षण वह कुछ-न-कुछ कर्म अवश्य करेगा। इसके अलावा यदि हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देह से पूरे जन्म-जन्मान्तर पाने वाला जीवरूप है, तब तो देह के बिना भी वह क्रियावान् रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हो सके तो उसका अर्थ हुआ कि कर्मक्षय होने की कभी भी संभावना नहीं है।

इसलिये निवृत्ति अथवा निष्कर्मता का अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझने में भूल होती है। निष्कर्मता एक सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात् बौद्धिक, मानसिक, नैतिक भावना का विषय और इससे भी परे जीवात्मक है। क, ख, ग, घ नाम के चार व्यक्ति प, फ, ब, भ नाम के चार भूखे आदमियों को एक-सा अन्न देते हैं। चारों बाह्य कर्म करते हैं और चारों को समान स्थूल तृप्ति होती है। परन्तु संभव है कि 'क' लोभ से देता हो, 'ख' तिरस्कार से देता हो, 'ग' पुण्येच्छा से देता हो और 'घ' आत्मभाव से स्वभावतः देता हो। उसी तरह 'प' दुःख मानकर लेता हो, 'फ' मेहरवानी मानकर लेता हो, 'ब' उपकारक भावना से लेता हो, और 'भ' मित्र भाव से लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधातृप्ति रूपी बाह्य फल सबका समान होने पर भी देने के भेदों के कारण कर्म के बंधन और क्षय की दृष्टि से बहुत फर्क पड़ जाता है। उसी तरह क, ख, ग, घ से प, फ, ब, भ, अन्न मांगें और चारों व्यक्ति उन्हें भोजन नहीं करावें, तो इसमें कर्म से समान परावृत्ति है, और चारों को स्थूल भूख पर इसका समान परिणाम होता है। फिर भी भोजन न करावें या जल न पाने के पीछे रही बुद्धि भावना नीति, संवेदना, इत्यादि भेद से इस कर्म-परावृत्ति से कर्म के बंधन और क्षय एक-से नहीं होते।

तो यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के साथ परावृत्ति और वृत्ति शब्द भी याद रखने जैसे हैं। परावृत्ति का अर्थ निवृत्ति नहीं है। परन्तु बहुत-से लोग परावृत्ति को ही निवृत्ति मान बैठते हैं। और वृत्ति अथवा वर्तन का अर्थ प्रवृत्ति नहीं है। परन्तु बहुत-से लोग वृत्ति को ही प्रवृत्ति समझते हैं। वृत्ति का अर्थ है केवल बरतना। प्रवृत्ति का अर्थ है विशेष प्रकार के आध्यात्मिक भावों से बरतना। परावृत्ति का अर्थ है वर्तन का अभाव, निवृत्ति का अर्थ है वृत्ति तथा परावृत्ति-संबंधी प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार की विशिष्ट आध्यात्मिक संवेदना।

अब कर्म-बंधन और कर्मक्षय के विषय में बहुतों का ऐसा ख्याल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मालूम होता है, मानों कर्म नाम की हर एक के पास एक तरह की पूंजी है। पांच हजार रुपये ट्रंक में रखे हुए हों और उनमें किसी तरह की वृद्धि न हो, परन्तु उनका खर्च होता रहे, तो दो-चार वर्ष में या पच्चीस वर्ष में तो वे सब अवश्य खर्च हो जायेंगे। परन्तु यदि मनुष्य उन्हें किसी कारोबार में लगाता है तो उनमें कमीबेशी होगी और संभव है कि पाँच हजार के लाख भी हो जायें या लाख न होकर उल्टा कर्ज हो जाय। यह घाटा भी चिंता और दुःख उत्पन्न करता है। सामान्य रूप से मनुष्य ऐसी चिन्ता और दुःख की संभावना से घबराते नहीं और लाख होने की संभावना से प्रसन्न नहीं होते। वे न तो रुपयों का क्षय करना चाहते हैं और न रुपयों के बंधन में पड़ने से दुःखी होते हैं। निवृत्ति-मार्गी साधु भी मन्दिरों में और पुस्तकालयों में बढ़ने वाले परिग्रह से चिंतातुर नहीं होते। परन्तु कर्म नाम की पूंजी की हमने कुछ ऐसी कल्पना की है मानो वह एक बड़ी गठरी है और उसको खोलकर, जैसे बने वैसे उसे खत्म कर डालने में ही मनुष्य का श्रेय है, कर्म का व्यापार करके उससे लाभ उठाने नहीं। कर्म को पूंजी की तरह समझने के कारण उसे खत्म करने की ऐसी कल्पना पैदा हुई है।

परन्तु कर्म का बंधन रुपयों की गठरी जैसा नहीं है। और वृत्ति परावृत्ति (अथवा स्थूल प्रवृत्ति-निवृत्ति) से यह गठरी घटती-बढ़ती नहीं है। जगत् में कोई भी क्रिया हो चाहे जानने में हो या अनजान में, वह विविध प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म परिणाम एक ही समय में या भिन्न-भिन्न समय में, तुरन्त या कालान्तर में एक ही साथ या रह-रहकर पैदा करती है। इन परिणामों में से एक परिणाम कर्म करने वाले के ज्ञान और चारित्र के ऊपर किसी तरह का रजकण जितना ही असर उपजाने का होता है। करोड़ों कर्मों के ऐसे करोड़ों असरों के परिणाम स्वरूप हर एक जीव का ज्ञान-चारित्र का व्यक्तित्व बनता बनता है। यह निर्माण यदि उत्तरोतर शुद्ध होता जाय और ज्ञान, धर्म, वैराग्य इत्यादि की ओर अधिकाधिक झुकता जाये तो उसके कर्म का क्षय होता है, ऐसा कहा जायेगा। यदि वह उत्तरोतर अशुद्ध होता जाय तो उसके कर्म का संचय होता है, ऐसा कहा जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह कर्मों की वृत्ति-परावृत्ति नहीं, परन्तु कर्म कर्म का जीव के ज्ञान-चारित्र पर होने वाला असर ही बन्धन और मोक्ष का कारण है। जीवन काल में मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है ऐसी उच्च स्थिति का आदर्श जिस स्थिति के प्राप्त होने के बाद उस व्यक्ति के ज्ञान-चारित्र पर ऐसा असर पैदा हो कि उसमें पुनः अशुद्धि घुस सके।

इसके लिए कर्त्तव्य कर्मों का विवेक तो अवश्य करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ अपकर्म नहीं करने चाहिए, सत्कर्म ही करने चाहिए, कर्त्तव्य रूप कर्म तो करने ही चाहिये, अकर्त्तव्य कर्म छोड़ने ही चाहिये। चित्तशुद्धि में सहायक सिद्ध होने वाले कर्म दान, तप और भक्ति के कर्म करने चाहिये इत्यादि। इसी तरह कर्म करने की रीति में भी विवेक करना पड़ेगा। जैसे, ज्ञान पूर्वक कर्म करना, सावधानी-पूर्वक करना, सत्य अहिंसा आदि नियमों का पालन करते हुए करना, निष्काम भाव से अथवा अनासक्ति भाव से करना इत्यादि। परन्तु यह कल्पना गलत है कि कर्मों से परावृत्ति होने पर कर्मक्षय होता है। कर्त्तव्य रूप कर्म परावृत्त होने की अपेक्षा कदाचित् सकाम भाव से अथवा आसक्ति भाव से किये हुए सत्कर्मों से अधिक कर्म-बन्धन होने की पूरी सम्भावना है। इसकी अधिक सविस्तार चर्चा के लिये गीता मंथन नाम पुस्तक पढ़ें। (संसार और धर्म से साभार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करुणा मोह का अंश नहीं, ध्वंस है

□ आचार्य श्री विद्यासागर जी म.

(1)

वासना का विलास मोह है।
दया का विकास मोक्ष है।
एक जीवन को बुरी तरह जलाती है
भयंकर है, अंगार है।
एक जीवन को पूरी तरह जिलाती है
शुभंकर है, शृंगार है।
हाँ ! हाँ !!
अधूरी दया करुणा
मोह का अंश नहीं है
अपितु आंशिक मोह का ध्वंस है।
वासना की जीवन-परिधि
अचेतन है.....वन है।
दया-करुणा निरवधि है
करुणा का केन्द्र वह
संवेदन धर्मा चेतन है
पीयूष का निकेतन है।
करुणा की कणिका से
अविरल झरती है
समता की सौरभ-सुगंध
ऐसी स्थिति में
कौन कहता है
कि
करुणा का वासना से सम्बन्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2)

पर पर दया करना
बहिर्दृष्टि-सा मोह-मूढता-सा····
स्व-परिचय से वंचित-सा····
अध्यात्म से दूर····
प्रायः लगता है
ऐसी एकान्त धारणा से
अध्यात्म की विराधना होती है ।
क्योंकि, सुनो !
स्व के साथ पर का
और
पर के साथ स्व का
ज्ञान होता ही है,
गौण-मुख्यता भले ही हो ।
चन्द्र-मण्डल को देखते हैं
नभ-मण्डल भी दीखता है ।
पर की दया करने से
स्व की याद आती है
और
स्व की याद ही
स्व-दया है
विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है
या-द—द-या···· ।

(3)

मैं तुम्हें, हृदय-शून्य तो नहीं कहूँगा
परन्तु
पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरों का दुःख-दर्द
देखकर भी
नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा जीना
फिर भी
ऋषि-सन्तों का
सदुपदेश सदादेश
हमें यही मिला कि
पापी से नहीं
पाप से
पंकज से नहीं
पंक से
घृणा करो।
नर से
नारायण बनो
समयोचित कर कार्य ।

(4)

करुणा हेय नही,
करुणा की अपनी उपादेयता है
अपनी सीमा····
फिर भी,
करुणा की सही स्थिति समझना है
करुणा करने वाला
अहं का पोषक भले ही बने
परन्तु
स्वयं को गुरु-शिष्य
अवश्य समझता है
और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस पर करुणा की जा रही है वह
स्वयं को शिशु-शिष्य
अवश्य समझता है ।
दोनों का मन द्रवीभूत होता है
शिष्य शरण लेकर
गुरु शरण देकर
कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं
पर इसे
सही सुख नहीं कह सकते हम
दुःख मिटने का
और
सुख मिलने का द्वार खुला अवश्य
फिर भी ये दोनों
दुःख को भूल जाते हैं इस घड़ी में ।

(5)

करुणा की दो स्थितियाँ होती हैं—
एक विषय-लोलुपिनी
दूसरी विषय-लोपिनी दिशा-बोधिनी
पहली की चर्चा यहाँ नहीं है
चर्चा-अर्चा दूसरी की है ।
इस करुणा का स्वाद
किन शब्दों में कहूं
गर यकीन हो
नमकीन आँसुओं का
स्वाद है वह ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(6)

करुणा-रस जीवन का प्राण है
घम-घम समीरधर्मी है ।
वात्सल्य जीवन का त्राण है
धवलिम नीर धर्मी है ।
करुणा-रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है ।
वात्सल्य का बाना है
जघन्यतम नादान को भी
सोम बना देता है ।

'मूकमाटी' से उद्धृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा-धर्म

☐ श्री युगल किशोर मुख्तार

अहिंसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामों से हम बहुत कुछ परिचित हैं; परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक बहुत ही अपरिचित-सा बना हुआ है। हम प्रायः समझते ही नहीं कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनों ही ने तो सेवाधर्म को सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है, वे सेवक को गुलाम समझते हैं और गुलामी में धर्म कहां ? इसी से उनकी तद्रूप संस्कारों में पली हुई बुद्धि सेवाधर्म को कोई धर्म अथवा महत्त्व का धर्म मानने के लिये तैयार नहीं। वे समझ ही नहीं पाते कि एक भाड़े के सेवक, अनिच्छापूर्वक मजबूरी से काम करने वाले परतन्त्र सेवक और स्वेच्छा से अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्म का अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवा में दत्तचित्त रहनेवाले स्वयंसेवक में कितना बड़ा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्म को शायद किसी नये धर्म की सृष्टि समझते हों, परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है। वास्तव में सेवाधर्म सब धर्मों में ओत-प्रोत है और सब में प्रधान है। बिना इस धर्म के सब धर्म निष्प्राण हैं, निःसत्त्व हैं और उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। क्योंकि मन-वचन-काय से स्वेच्छा एवं विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओं का छोड़ना जो किसी के लिये हानिकारक हों और ऐसी क्रियाओं का करना जो उपकारक हों 'सेवा-धर्म' कहलाता है।

'मेरे द्वारा किसी जीव को कष्ट अथवा हानि न पहुँचे, मैं सावद्य-योग से विरक्त होता हूँ', लोकसेवा की ऐसी भावना के बिना अहिंसा धर्म कुछ भी नहीं रहता; और, 'मैं दूसरों का दुःख-कष्ट दूर करने में कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावना को यदि दया-धर्म से निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। इसी तरह दूसरे धर्मों का हाल है। सेवाधर्म की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना को निकाल देने से वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते हैं। सेवाधर्म ही उन सब में, अपनी मात्रा के अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने वाला है। इसलिये सेवाधर्म का महत्त्व बहुत ही बढ़ा-चढ़ा है और वह एक प्रकार से अवर्णनीय है। अहिंसादिक सब धर्म अङ्ग अथवा प्रकार हैं और वह सब में व्यापक है। ईश्वरादिक की पूजाभक्ति अथवा उपासना भी उसी में शामिल (गर्भित) है, जो कि अपने पूज्य एवं उपकारी पुरुषों के प्रति किये जाने वाले अपने कर्त्तव्य के पालनादि स्वरूप होती है। इसी से उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है। किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तक के गुणों का कीर्तन करना, उसके शासन को स्वयं मानना, सदुपदेश को अपने जीवन में उतारना और शासन का प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तक की सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियों की जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है। इस तरह एक सेवा में दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती हैं।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने इष्टदेव भगवान् महावीर के विषय में सेवा का और अपने को उनकी फलप्राप्ति का जो उल्लेख एक पद्य में किया है वह पाठकों के जानने योग्य है और उससे उन्हें देवसेवा के कुछ प्रकारों का बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदय से और पूर्ण तन्मयता के साथ की हुई वीर- प्रभु की सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है। इसी से उस पद्य को उनके 'स्तुतिविद्या' नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है :

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृतो तेनैव तेजःपते ।।

स्तुतिविद्या-114

इसमें बतलाया है कि—'हे भगवन् ! आपके मत में अथवा आपके ही विषय में मेरी सुश्रद्धा है—अन्ध श्रद्धा नहीं, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हूं, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करने के निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुनने में लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूप को देखती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियों[1] के रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करने में तत्पर रहता है, इस प्रकार की चूँकि मेरी सेवा है मैं निरन्तर ही आपका इस तरह सेवन किया करता हूँ—इसीलिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान्) हूँ।'

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा बड़ों की—पूज्य पुरुषों एवं महात्माओं की होती है और उसी से कुछ फल भी मिलता है, छोटों—असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदि की सेवा में क्या धरा है ? ऐसा समझना भूल होगा। जितने भी बड़े, पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हैं वे सब छोटों, असमर्थों, असहायों एवं दीन-दुःखियों की सेवा से ही हुए हैं। सेवा ही सेवक को सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है और इसलिये ऐसे महान् लोक-सेवकों की सेवा अथवा पूजा-भक्ति का यह अभिप्राय नहीं कि हम उसका कोरा गुण-गान किया करें अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा-चाकरी में ही अपने को लगाये रक्खें। उन्हें तो अपने व्यक्तित्व के लिये हमारी सेवा की जरूरत भी नहीं है। कृतकृत्यों को उसकी जरूरत भी क्या हो सकती है ? इसीलिए स्वामी समन्तभद्रने कहा है—"न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे"—अर्थात् हे भगवन् ! पूजा-भक्ति से आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं—राग का अंश भी आपकी आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा-सेवा से आप प्रसन्न होते। वास्तव में ऐसे महान् पुरुषों की सेवा-उपासना का मुख्य उद्देश्य उपकारस्मरण और कृत-ज्ञता-व्यक्तीकरणके साथ तद्गुण-लब्धि—उनके गुणों की संप्राप्ति—होती है। इसी बात को श्री पूज्य-

---

1 समन्तभद्र की देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र नाम की स्तुतियाँ बड़े ही महत्व की एवं प्रभावशालिनी हैं और उनमें सूत्ररूप से जैनागम अथवा वीरशासन भरा हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पादाचार्यने 'सर्वार्थसिद्धि' के मंगलाचरण ('मोक्षमार्गस्य नेतारं' इत्यादि) में "वन्दे तद्गुणलब्धये" पद के द्वारा व्यक्त किया है। तद्-गुण लब्धि के लिये तद्रूप आचरण की जरूरत है और इसलिये जो तद्गुण-लब्धि की इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरण को अपनाता है—अपने आराध्य के अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नक्शेक़दम पर चलना प्रारम्भ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनि-वार्य हो जाती है—दीनों, दुःखितों, पीड़ितों, पतितों, असहायों, असमर्थों, अज्ञों और पथभ्रष्टों की सेवा करना उसका पहला कर्त्तव्य-कर्म बन जाता है। जो ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येय को सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओं की भक्ति के कोरे गीत गाता है वह या तो दंभी है या ठग है। वह अपने को तथा दूसरों को ठगता है, या उन जड़ मशीनों की तरह अविवेकी है जिन्हें अपनी क्रियाओं का कुछ भी रहस्य मालूम नहीं होता। इसलिए भक्ति के रूप में उसकी उछल-कूद तथा जयकारों का—जय-जय के नारों का—कुछ भी मूल्य नहीं है। वे सब दंभपूर्ण अथवा भावशून्य होने से बकरी के गले में लटकते हुए स्तनों (थनों) के समान निरर्थक होते हैं। उनका कुछ भी वास्तविक फल नहीं होता।

महात्मा गांधीजी ने कई बार ऐसे लोगों को लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूकें तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नहीं पहनते और सिर से पैर तक विदेशी वस्त्रों को धारण किये हुए मेरी जय बोलते हैं।' ऐसे लोग जिस प्रकार गांधीजी के भक्त अथवा सेवक नहीं कहे जाते बल्कि मज़ाक उड़ाने वाले समझे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषों के अनुकूल आचरण नहीं करते—अनुकूल आचरण की भावना तक नहीं रखते खुशी से विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरण को करते हुए पूज्य पुरुष की वंदनादि क्रिया करते तथा जय बोलते हैं, उन्हें उस महापुरुष का सेवक अथवा उपासक नहीं कहा जा सकता। वे भी उस पूज्य व्यक्ति का उपहास करने-कराने वाले ही होते हैं, अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरण के लिए जड़ मशीनों की तरह स्वाधीन नहीं हैं और ऐसे पराधीनों का कोई धर्म नहीं होता। सेवाधर्म के लिए स्वेच्छापूर्वक कार्य का होना आवश्यक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है; क्योंकि स्व-परहित-साधन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक अपना कर्त्तव्य समझकर जो निष्काम कर्म अथवा कर्मत्याग किया जाता है वह सच्चा सेवाधर्म है।

जब पूज्य महात्माओं की सेवा के लिए गरीबों की, दीन-दुःखियों की, पीड़ितों-पतितों की, असहायों-असमर्थों की, अज्ञों और पथभ्रष्टों की सेवा अनिवार्य है—उस सेवा का प्रधान अंग है, बिना इसके वह बनती ही नहीं—तब यह नहीं कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि "छोटों-असमर्थों अथवा दीन-दुःखियों आदि की सेवा में क्या धरा है ?" वस्तुतः यह सेवा तो अहंकारादि दोषों को दूर करके आत्मा को ऊँचा उठाने वाली है, तद्गुण-लब्धि के उद्देश्य को पूरा करने वाली है और हर तरह से आत्मविकास में सहायक है, इसलिए परम-धर्म है और सेवाधर्म का प्रधान अंग है। जिस धर्म के अनुष्ठान से अपना कुछ भी आत्मलाभ न होता हो वह तो वास्तव में धर्म ही नहीं है।

इसके सिवाय, अनादिकाल से हम निर्बल, असहाय, दीन, दुःखित, पतित, मार्गच्युत और अज्ञ जैसी अवस्थाओं में ही अधिकतर रहे हैं और उन अवस्थाओं में हमने दूसरों की खूब सेवाएँ ली हैं, तथा सेवा-सहायता की प्राप्ति के लिये निरन्तर भावनाएँ भी की हैं, और इस-लिये उन अवस्थाओं में पड़े हुए अथवा उनमें से गुज़रने वाले प्राणियों की सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्त्तव्यकर्म है, जिसके पालन के लिये हमें अपनी शक्ति को ज़रा भी नहीं छिपाना चाहिये। उसमें जी चुराने अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात नहीं होनी चाहिये। इसी को यथाशक्ति कर्त्तव्य का पालन कहते हैं।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कितना दूसरों पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है। दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने, उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढ़ने-बिछाने, दिल-बहलाने, सर्दी-गर्मी आदि से रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलाने की जो भी सेवाएँ करते हैं वे सब उसके लिए प्राणदान के समान है। समर्थ होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर यदि वह उन सेवाओं को भूल जाता है और घमंड में आकर अपने उन उपकारी सेवकों की, माता-पितादिकों की सेवा नहीं करता, उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिए कि वह पतन की ओर जा रहा है। ऐसे लोगों को संसार में कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफ़रामोश जैसे दुर्नामों से पुकारा जाता है। कृतघ्नता अथवा दूसरों के किये हुए उपकारों और ली हुई सेवाओं को भूल जाना बहुत बड़ा अपराध है और वह विश्वासघातादि की तरह ऐसा बड़ा पाप है कि उसके भार से पृथ्वी भी काँपती है। किसी कवि ने ठीक कहा है—

करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृत को विसरै जोय।
आपद पड़े मित्र परिहरै, तासु भार धरणी थरहरै॥

ऐसे ही पापों का भार बढ़ जाने से पृथ्वी अक्सर डोला करती है—भूकम्प आया करते हैं। और इसीसे जो साधु पुरुष—भले आदमी—होते हैं वे दूसरों के किए हुए उपकारों अथवा ली हुई सेवाओं को कभी भूलते नहीं हैं—'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति'— बदले में अपने उपकारियों की अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरों की सेवा करके ऋणमुक्त होते रहते हैं। उनका सिद्धांत तो 'परोपकाराय सतां विभूतयः' की नीति का अनुसरण करते हुए प्रायः यह होता है :—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते॥

अर्थात् अपने उपकारियों के प्रति जो साधुता का, प्रत्युपकारादि-रूप सेवा का व्यवहार करता है उसके उस साधुपन में कौनसी बड़ाई की बात है ? ऐसा करना तो साधारण जनोचित मामूली-सी बात है। सत्पुरुषों ने उसे सच्चा साधु बतलाया है जो अपना अपकार एवं बुरा करने वालों के प्रति भी साधुता का व्यवहार करता है, उनकी सेवा करके आत्मा से शत्रुता के विष को ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है।

ऐसे साधु पुरुषों की दृष्टि में उपकारी, अनुपकारी और अपकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायः सभी समान होते हैं। उनकी विश्वबन्धुत्व की भावना में किसी का अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नहीं डालता। "अप्रियमपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः" इस उदार भावना से उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता है। वे तो सेवाधर्म के अनुष्ठान द्वारा अपना विकास सिद्ध किया करते हैं, और इसी से सेवाधर्म के पालन में सब प्रकार से दत्तचित्त होना अपना कर्तव्य समझते हैं।

वास्तव में, पैदा होते ही जहां हम दूसरों से सेवाएँ लेकर उनके ऋणी बनते हैं वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोग की सामग्री जुटाने में, अपनी मान-मर्यादा की रक्षा में, अपनी कषायों को पुष्ट करने में और अपने महत्त्व या प्रभुत्व को दूसरों पर स्थापित करने की धुन में अपराध भी कुछ कम नहीं करते हैं। इस तरह हमारा आत्मा परकृत उपकार-भार और स्वकृत अपराध-भार से बराबर दबा रहता है। इन भारों के हल्का होने के साथ आत्मा के विकास का भी सम्बन्ध है। लोकसेवा से यह भार हल्का होकर आत्मविकास की सिद्धि होती है। इसलिए सेवा को परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम गहन है कि कभी-कभी तो योगियों के द्वारा भी अगम्य हो जाता है। उनकी बुद्धि चकरा जाती है। वे भी उसके सामने घुटने टेक देते हैं, और गहरी समाधि में उतरकर उसके रहस्य को खोजने का प्रयत्न करते हैं। लोकसेवा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हें बहुधा यह कहते हुए सुनते हैं—

"हा दुट्ठकयं! हा दुट्ठं भासियं! चिंतियं च हा दुट्ठं!
अतो अंतो डज्झम्मि पच्छत्तावेण वेयतो ॥"

मन-वचन-काय की प्रवृत्ति में जहां थोडी-सी भी प्रमत्तता, असावधानी अथवा त्रुटि लोकहित के विरुद्ध दीख पड़ती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकार के उद्‌गार उनके मुँह से निकल पड़ते हैं और वे उनके द्वारा पश्चात्ताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधों का भी नित्य प्रायश्चित किया करते हैं। इसीसे यह प्रसिद्ध है कि—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।"

सेवाधर्म की साधना में, निःसन्देह, बड़ी सावधानी की जरूरत है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उसके लिए बहुत कुछ आत्मबलि व अपने लौकिक स्वार्थों की आहुति देनी पड़ती है। पूर्ण सावधानी ही पूर्णसिद्धि की जननी है। धर्म की पूर्णसिद्धि हो पूर्ण आत्मविकास के लिये गारण्टी है और यह आत्म-विकास ही सेवाधर्म का प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्य का लक्ष्य जब तक शुद्ध नहीं होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर ज़रूर प्रतीत होता है। वह सेवा करके अपना अहसान जतलाता है, प्रति सेवा की—प्रत्युपकार की वांछा करता है, अथवा अपनी तथा दूसरों की सेवा की मापतौल किया करता है और जब उसकी मापतौल ठीक नहीं उतरती, अपनी सेवा से दूसरों की सेवा कम जान पड़ती है—अथवा उसकी वह वांछा ही पूरी नहीं होती और न दूसरा आदमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम झुंझला उठता है, खेदखिन्न होता है, दुःख मानता है, सेवा करना छोड़ देता है और अनेक प्रकार के राग-द्वेषों का शिकार बनकर अपनी आत्मा का हनन करता है। सेवा की लक्ष्य शुद्धि के होते ही यह सब कुछ बदल जाता है, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करने में आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ़ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थों की सहज ही में बलि चढ़ जाती है और जरा भी कष्ट-बोध होने नहीं पाता—इस दशा में जो भी किया जाता है, अपना कर्तव्य समझकर खुशी से किया जाता है और उसके साथ में प्रतिसेवा, प्रत्युपकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहंकार की कोई भावना न रहने से भविष्य में दुःख, उद्वेग तथा कषाय भावों की उत्पत्ति का कोई कारण ही नहीं रहता; और इसलिये सहज ही में आत्म-विकास सध जाता है। ऐसे लोग यदि किसी को दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते हैं और उसमें अपना कर्तृत्व नहीं मानते। किसी ने पूछा "आप ऐसा क्यों करते हैं ?" तो वे उत्तर देते हैं—

देनेवाला और है, मैं समरथ नहिं देन।
लोग भरम मो करत हैं, यातें नीचे नैन॥

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है, मैं खुद कुछ भी देने के लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यों न देता ? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते हैं, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ ? देखिये, कितना ऊँचा भाव है। आत्म-विकास को अपना लक्ष्य बनाने वाले मानवों की ऐसी ही परिणति होती है। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धि के साथ इस सेवाधर्म का अनुष्ठान हर कोई अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुख्तार मुख्तारकारी, मुहर्रिर मुहर्रिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने-अपने उस पेशे का कार्य और मज़दूर अपनी मज़दूरी करता हुआ उसी में से सेवा का मार्ग निकाल सकता है। सबके कार्यों में सेवाधर्म के लिये यथेष्ट अवकाश है—गुंजाइश है।

सेवाधर्म में 'दया' प्रधान है। दूसरों के दुःखों-कष्टों का अनुभव करके, उनसे द्रवीभूत होकर, उन्हें दूर करने के लिए मन-वचन-कायकी जो प्रवृत्ति है, व्यापार है—उसका नाम 'दया' है। अहिंसा-धर्म का अनुष्ठाता जहां अपनी ओर से किसी को दुःख-कष्ट नहीं पहुँचाता, वहाँ दयाधर्म का अनुष्ठाता दूसरों के द्वारा पहुँचाए गए दुःख-कष्टों को भी दूर करने का प्रयत्न करता है। यही दोनों में प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दया को उसकी सुगन्ध समझना चाहिए।

दया में सक्रिय परोपकार, दान, वैय्यावृत्य, धर्मोपदेश और दूसरों के कल्याण की भावनाएँ शामिल हैं। अज्ञान से पीड़ित जनता के हितार्थ विद्यालय-पाठशालाएँ खुलवाना, पुस्तकालय-वाचनालय स्थापित करना, रिसर्च इन्स्टीट्यूटों का, अनुसन्धान प्रधान संस्थाओं का—जारी रहना, वैज्ञानिक खोजों को प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थ-निर्माण और व्याख्यानादि के द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर करने का प्रयत्न करना, रोग से पीड़ित प्राणियों के लिए औषधालयों-चिकित्सालयों की व्यवस्था करना, बेरोजगारी अथवा भूख से संतप्त मनुष्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए रोजगार-धन्धे का प्रबन्ध करके उनके रोटी के सवाल को हल करना, और कुरीतियों, कुसंस्कारों तथा बुरी आदतों से जर्जरित एवं पतनोन्मुख मनुष्य समाज के सुधारार्थ सभा-सोसाइटियों को कायम करना और उन्हें व्यवस्थित रूप से चलाना, ये सब उसी दया प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवा धर्म के अंग हैं। पूज्यों की पूजा-भक्ति-उपासना के द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपनी आत्मा का उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृत्तिरूप सेवाधर्म का अंग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्म में भी जहाँ तक अपने मन, वचन और कार्य से सेवा का सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कौड़ी-पैसे की जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ सेवा के लिए दूसरे साधनों से काम लिया जाता है वहाँ ही उसकी जरूरत पड़ती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधिकांश सेवाधर्म के अनुष्ठान के लिए मनुष्य को टके-पैसे की जरूरत नहीं है। जरूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्य को शुद्ध करने की, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नहीं। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सेवा*

☐ स्वामी श्री शरणानन्दजी

(1)

जीवन का अध्ययन करनेपर यह विदित होता है कि समस्त जीवन दो भागों में विभाजित है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। यद्यपि उन दोनों भागों का उद्देश्य एक है; क्योंकि जीवन एक है; परन्तु उद्देश्य-पूर्ति के लिये साधन दृष्टि से दो भागों में विभाजन हो सकता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्गमस्थान देहाभिमान तथा विद्यमान राग है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति का आना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रवृत्ति से प्राप्त शक्ति का व्यय होता है और निवृत्ति द्वारा पुनः शक्ति का संचय होता है। विद्यमान राग की निवृत्ति में ही प्रवृत्ति का सदुपयोग निहित है और नवीन राग की उत्पत्ति न होने तथा प्रवृत्ति की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये ही निवृत्ति अपेक्षित है।

अब हमें अपनी प्रवृत्तियों का निरीक्षण करना है कि हमारी प्रवृत्तियां सुखभोग की आसक्ति तथा देहाभिमान को पुष्ट करने में हैं अथवा विद्यमान राग की निवृत्ति में। जिन प्रवृत्तियों के द्वारा हम वस्तु, व्यक्ति आदि से अपने सुख-सम्पादन की आशा करते हैं, वे सभी देहाभिमान को पुष्ट करती हैं और हमें लोभ, मोह आदि दोषों में आबद्ध करती हैं। अतः ऐसी प्रवृत्तियों के द्वारा प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध नहीं होती, अपितु दोषों की ही वृद्धि होती है, जिससे हम जड़ता और शक्तिहीनता में आबद्ध हो जाते हैं।

---

* स्वामी श्री शरणानन्द जी वस्तुतः प्रज्ञाचक्षु थे। उनके 'जीवन दर्शन,' 'संत-समागम', 'दुःख का प्रभाव' तथा 'दर्शन और नीति' ग्रन्थों के विभिन्न स्थलों से सेवा, करुणा आदि सर्वहितकारी प्रवृत्तियों से सम्बद्ध अंश यहां संकलित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंतु जिन प्रवृत्तियों में दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित है, वे प्रवृत्तियाँ विद्यमान राग की निवृत्ति करने में समर्थ हैं और उनके अन्त में स्वभाव से ही वास्तविकता की जिज्ञासा जाग्रत होती है। जिज्ञासा नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देती, अपितु सहज निवृत्ति को जन्म देती है, जो विकास का मूल है। सहज निवृत्ति में आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

रागरहित होने के लिये सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति साधनरूप है, साध्य नहीं। अतः हमें अपने में से 'मैं सर्वहितैषी हूँ', 'मैं अचाह हूँ' अथवा 'मुझे अपने लिये संसार से कुछ नहीं चाहिये' यह अहंभाव भी गला देना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति होनेपर भी अपने में करनेका अभिमान न हो और चाहरहित होनेपर भी 'मैं चाहरहित हूँ' ऐसा भास न हो। कारण कि अहंभाव के रहते हुए वास्तव में कोई अचाह हो नहीं सकता; क्योंकि सेवा तथा त्याग का अभिमान भी किसी राग से कम नहीं है। सूक्ष्म राग कालांतर में घोर राग में आबद्ध कर देता है। राग का अभाव तभी हो सकता है जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुण का अभिमान न हो; क्योंकि अभिमान के रहते हुए अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है और उसके बिना कोई भी वीतराग हो ही नहीं सकता। कारण कि सीमित अहंभाव के रहते हुए राग का अत्यन्त अभाव नहीं हो सकता।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति की जननी है क्योंकि सर्वात्मभाव दृढ़ होनेपर ही निवृत्ति आती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही सर्वात्मभाव की उपलब्धि होती है। अपने ही समान सभी के प्रति प्रियता उदय हो जाने पर ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति की सिद्धि होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में किये हुए संग्रह का प्रायश्चित्त है, कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है। उसे अपनी महिमा मान लेना मिथ्या अभिमान को ही जन्म देना है, और कुछ नहीं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही जीवन मत मान लो। प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप साधन से वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वहितकारी प्रवृत्ति की रुचि सहज निवृत्ति के लिए अपेक्षित है और सहज निवृत्ति काम का अन्त करने का साधन है। साधन में कर्तृत्वभाव तभी तक रहता है, जब तक साधक का समस्त जीवन साधन नहीं बन जाता। साधक का समस्त जीवन तब तक साधन नहीं बन सकता, जब तक वह करने और पाने की रुचि में आबद्ध रहता है।

व्यक्तित्व का अभिमान गलाने के लिये सर्वहितकारी प्रवृत्ति की अपेक्षा है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति हमें ऋण से मुक्त कर सुन्दर समाज का निर्माण करती है और निवृत्ति हमें स्वाधीनता प्रदान कर अनन्त से अभिन्न करती है, जिसमें वास्तविक जीवन है।

सर्व प्रकार के संघर्ष का अन्त सर्वहितकारी प्रवृत्ति में निहित है। क्योंकि सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्नेह की एकता प्रदान करती है। प्रवृत्ति स्वरूप से छोटी हो या बड़ी; परंतु उसके मूल में यदि सर्वहितकारी भाव है तो वह विभु हो जाती है। वह विश्व-शान्ति की स्थापना में समर्थ है; क्योंकि स्नेह की एकता वह काम नहीं करने देती जो नहीं करना चाहिये और वह स्वतः होने लगता है जो करना चाहिये। उसके होते ही जीवन में व्यापकता आ जाती है। जिसके आते ही सब प्रकार की आसक्तियों का अन्त हो जाता है। आसक्तियों का अन्त होते ही उस दिव्य चिन्मय प्रीति का उदय होता है, जो अपने ही में अपने प्रीतम को मिलाकर नित-नव-रस प्रदान करती है, यही हमारी वास्तविक आवश्यकता है। (जीवन-दर्शन, पृ 161-164)

(2)

प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति का आरम्भ और अन्त है। ऐसी कोई प्रवृत्ति है ही नहीं, जिसका आरम्भ हो और अन्त न हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी प्रवृत्ति अखण्ड नहीं हो सकती। जो अखण्ड नहीं हो सकती, वह सहयोगी साधन भले ही हो, उसे साध्य नहीं कह सकते। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति, निवृत्ति की पोषक है। जिस प्रवृत्ति का परिणाम निवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति दूषित है, त्याज्य है। व्यक्तिगत सुख की आशा को लेकर जो प्रवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरम्भ होती है, उसका परिणाम निवृत्ति नहीं होता, प्रत्युत प्रवृत्ति के अन्त में भी प्रवृत्ति की ही रुचि शेष रहती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति से प्राप्त सामर्थ्य का व्यय ही होता है, तथापि दूषित प्रवृत्तियों की रुचि असमर्थता में भी बनी रहती है। उस दशा में प्राणी जो नहीं कर सकता है तथा जो नहीं करना चाहिये, उसी के चिंतन में आबद्ध हो जाता है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि प्राणी उत्तरोत्तर चेतना से विमुख हो जड़ता में ही आबद्ध होता जाता है, जो विनाश का मूल है। असमर्थता-काल में प्रवृत्ति की रुचि प्राणी को पराधीनता-जनित पीड़ा में आबद्ध करती है, जो किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है। यदि पराधीनता-जनित वेदना से पीड़ित प्राणी भोग-रूप दूषित प्रवृत्ति की रुचि का नाश कर दे तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक सहज निवृत्ति को अपनाकर असमर्थता का अन्त कर सकता है। फिर अपने आप सर्वहितकारी प्रवृत्ति आरम्भ होती है, जो कर्त्ता को करने के राग से रहित करने में हेतु है। इस कारण प्रवृत्ति वही सार्थक है, जो किसी के लिये अहितकर न हो, अपितु सर्वहितकारी हो। सर्वहितकारी प्रवृत्ति सीमित होने पर भी असीम है, कारण कि उसका अन्त सर्वहितकारी भावना में ही होता है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म सीमित और भाव असीम होता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति असीम सद्भावनाओं में सजीवता लाती है और सद्भावनाएँ सर्वहितकारी प्रवृत्ति को पुष्ट बनाती हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति कितनी ही अल्प क्यों न हो, कर्त्ता को विभुता से अभिन्न करती है, अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त में कर्त्ता करने के राग से रहित हो असीम जीवन से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से सर्वहितकारी प्रवृत्ति बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति के अन्त में अपने आप आने वाली सहज निवृत्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है। ज्यों-ज्यों प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होता जाता है, त्यों-त्यों आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति स्वतः होती रहती है, अर्थात् सर्वहितकारी कार्य के लिये सामर्थ्य विधान से बिना ही मांगे मिलती है। सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश हुए बिना सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वभावतः नहीं होती। पर जब साधक सुख-भोग की रुचि का नाश कर देता है, तब सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। आत्मख्याति तथा लोकरंजन की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामना से प्रेरित सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में सर्वहितकारी नहीं है, अपितु मान तथा भोग की जननी है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, कारण कि मान तथा भोग में आबद्ध प्राणी देहाभिमान से रहित नहीं हो पाता, जिसके बिना हुए किसी के भी मौलिक प्रश्न हल नहीं हो सकते। इस दृष्टि से मान तथा भोग की रुचि का अन्त करना अनिवार्य है, जिसके होते ही प्रत्येक परिस्थिति में सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है जो विकास का मूल है।

सर्व हितकारी प्रवृत्ति के अन्त में अथवा कामरहित होने पर मंगलमय विधान से जो निवृत्ति स्वतः आती है, वही वास्तविक निवृत्ति है। संकल्पपूर्वक जिस निवृत्ति का सम्पादन किया जाता है, वह निवृत्ति होने पर भी घोर प्रवृत्ति ही है। कामरहित हुए बिना बलपूर्वक जो निवृत्ति प्राप्त की जाती है, वह साधक को अभिमान-शून्य नहीं होने देती, जिसके बिना हुए साधन-रूप निवृत्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु अभिमानयुक्त निवृत्ति व्यक्तित्व के मोह का ही पोषण करती है और परस्पर भेद उत्पन्न कर देती है, जो विनाश का मूल है। अभिमान-शून्य निवृत्ति शान्ति, सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की जननी है और अभिमानयुक्त निवृत्ति आंशिक शक्ति भले ही प्रदान करे, पर शान्ति तथा स्वाधीनता का तो विनाश ही करती है। इस कारण अभिमान रहित निवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति है। उसी की अभिव्यक्ति साधक के मौलिक प्रश्नों के हल करने में हेतु है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दायें-बायें पैर के समान हैं। इन दोनों से ही साधक सत्पथ पर आरूढ़ होता है, परन्तु स्वार्थभाव से उत्पन्न प्रवृत्ति और अभिमानयुक्त निवृत्ति तो प्राणियों को सत्पथ से विमुख ही करती है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति के आदि और अन्त में निवृत्ति स्वतः सिद्ध है। जो तथ्य स्वतः सिद्ध है, उसकी खोज की जाती है, उसको उत्पादित नहीं किया जाता। अतः साधन-रूप निवृत्ति की खोज करना है तथा उससे अभिन्न होना है, उसको उत्पन्न नहीं करना है। उत्पत्ति-विनाश तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रत्येक उत्पत्ति विनाश में और विनाश उत्पत्ति में विलीन होता रहता है। सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है, परन्तु उसके लिए प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधक को कामरहित (सुख भोगरहित) होना अनिवार्य है।"
(दुःख का प्रभाव, पृ 98-100)

(3)

कुछ काल निवृत्ति रहने से सर्वहितकारी प्रवृत्ति की शक्ति स्वतः आ जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। अतः जब मैं संसार से विमुख होकर शांत रहने लगा, तब संसार को स्वतः आवश्यकता होने लगी। किन्तु, जब-जब सम्मान के रस में आबद्ध हुआ, तब-तब संसार मुझसे विमुख होने लगा। मेरा यह अनुभव है कि संसार से सुख लेने की आशा ने ही सदैव दुःख दिया है और बेचारे दुःख ने सदैव संसार से निराश होने का पाठ पढ़ाया है, जिससे दुःखी से दुःखी को भी नित्य चिन्मय आनन्द मिला है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि साधक भयङ्कर से भयङ्कर परिस्थिति में भी साधन का निर्माण कर सकता है और साध्य से अभिन्न हो सकता है। उपर्युक्त पाठ के बोलने का सामर्थ्य होते हुए भी वाणी को मौन कर दिया, गति रुकने लगी, चंचलता स्थिरता में बदलने लगी और जैसे-जैसे चंचलता स्थिरता में बदलने लगी, वैसे-वैसे छिपे हुए राग की पूर्ति भी होने लगी; अर्थात् जिस दुःख से दुःखी होकर मन संसार से निराश हुआ था, वह दुःख सुख में बदलने लगा। यह मेरा ही अनुभव नहीं है, बहुत से साधकों का अनुभव है। कारण, कि यह नियम है कि जिस कठिनाई को शांतिपूर्वक सहन कर लिया जाता है, वह कठिनाई स्वयं हल हो जाती है। शांतिपूर्वक सहन करने का अर्थ है, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानकर दुःख को सहन कर लेना। सुख आने पर अपने से दुःखियों को बिना किसी अभिमान के वितरण कर देना चाहिये, चूंकि सुख वास्तव में दुःखियों की ही धरोहर है, उसे अपना नहीं मानना चाहिये। अन्तर केवल यह है कि आस्तिक उस सुख को प्रभु के नाते दुःखियों को भेंट करता है, तत्त्वज्ञ सर्वात्मभाव से और सेवक विश्व के नाते। यह नियम है कि जिसके नाते जो कार्य किया जाता है, कर्त्ता प्रवृत्ति के अन्त में उसी में विलीन हो जाता है, अर्थात् अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। तो यदि हम किसी की चाह पूरी कर सकते हैं, तो पूरी करें; किन्तु यह अवश्य देख लें कि जिसकी चाह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरी करने हम जा रहे हैं, उसमें अपना सुख है, अथवा उसका हित है। यदि उसमें आपको उसका हित दिखाई दे, तो अवश्य पूरा कर दें। यदि उसमें अपना सुख ही दिखाई दे, तो उसे दुःख का आवाहन समझें। यह बड़े ही रहस्य की बात है। जब हम किसी की चाह पूरी करने जायं, और सोचें कि उसमें उसका हित निहित है, तो समझना चाहिये कि हम समाज के ऋण से मुक्त होकर आनन्द की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

"आनन्द किसको मिलता है ? जिसकी प्रवृत्ति दूसरों के हित के लिए हो, और जिसकी निवृत्ति वासना-रहित हो। दुःख किसके पास आता है ? जिसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये हो, अथवा जिसकी निवृत्ति वासना-युक्त हो। यदि आपको दुःख बुलाना है, तो अपने सुख के लिये प्रवृत्ति कीजिये। यदि आपको आनन्द अपनाना है, तो दूसरों के हित की प्रवृत्ति कीजिये। यदि असमर्थ हैं, तो शांत हो जाइये, मौन हो जाइए। ऐसा करने से अहंभाव गल जायगा, और अनन्त चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्नता हो जायगी। जहाँ प्रवृत्ति के द्वारा साधन की सुविधा न हो, वहाँ वासना-रहित निवृत्ति अपना लेनी चाहिए। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों दायें-बायें पैर के समान साधनक्रम हैं। जैसे दोनों पैरों से यात्रा सुगमतापूर्वक हो जाती है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में हमारी जो साधना-रूप यात्रा है, वह सुगमता-पूर्वक पूरी हो जाती है और हम अपने साध्य तक पहुँच जाते हैं। केवल प्रवृत्ति अथवा केवल निवृत्ति के द्वारा ही जो अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हैं उनकी वही दशा होती है जो एक पैर से यात्रा करने वाले की होती है, जिसमें सफलता की कोई आशा नहीं। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति और वासना-रहित निवृत्ति, ये साधना के मूल हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वही कर सकता है, जो यह विश्वास करता है कि विश्व एक जीवन है अथवा यह मानता है कि मेरा व्यक्तिगत जीवन विश्व के अधिकारों का समूह है। अथवा यों कहो कि जो कर्म विज्ञान के रहस्य को जान लेता है, वह सर्वहितकारी प्रवृत्ति में परायण होता है। कारण, कि यह नियम है कि प्रवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब उस प्रवृत्ति में दूसरों का हित निहित हो और निवृत्ति द्वारा तभी अपना हित होता है, जब सभी वस्तुओं, अवस्थाओं तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थितियों से अतीत जीवन पर विश्वास हो और विवेक-पूर्वक अचाह-पद प्राप्त कर लिया हो। जो चाह-रहित जीवन पर विश्वास नहीं करते, वे निवृत्ति के द्वारा लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। हाँ, एक बात अवश्य है कि सर्वहितकारी प्रवृत्ति से वास्तविक निवृत्ति की योग्यता आ जाती है और वास्तविक निवृत्ति से जीवन सर्वहितकारी प्रवृत्ति के योग्य बन जाता है। अतः हम जिस अंश में सुखी हों, उस अंश में सर्वहितकारी प्रवृत्ति द्वारा सुखासक्ति से मुक्त होने का प्रयत्न करें और जिस अंश में दुःखी हों, उस अंश में अचाह होकर वास्तविक निवृत्ति द्वारा दुःख के भय से मुक्त होकर अचाह-पद प्राप्त करें।

(4)

अन्तर्द्वन्द्व मिटाने के लिए यह अनिवार्य है कि अपने दुःख का कारण किसी और को मत समझो और किसी से सुख की आशा मत करो। ऐसा करने से अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। सुख की आशा से ही समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं। पराये दुःख से दुःखी होने पर ही सुख की आशा गलती है। प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने दुःख से दुःखी उन्हीं को होना पड़ता है, जो पराये दुःख से दुःखी नहीं होते। दूसरों के दुःख से दुःखी हुए बिना किसी का भी दुःख नहीं मिट सकता, यह प्राकृतिक विधान है।

अब यदि कोई यह कहे कि पराये दुःख से दुःखी होना अनिवार्य क्यों है ? तो यह कहना होगा कि प्राकृतिक नियम के अनुसार शरीर विश्व से और व्यक्ति समाज से अभिन्न है। जो व्यक्ति समाज के दुःख से दुःखी नहीं होता उसकी समाज से अभिन्नता नहीं होती, जिसके न होने से व्यक्तित्व का मोह दृढ़ हो जाता है। व्यक्तित्व का मोह व्यक्ति को निरन्तर दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलाता है। इस कारण पराये दुःख से दुःखी होने पर ही व्यक्तित्व का मोह गल सकता है, जिसके गलने पर ही दुःख का अन्त हो सकता है। पराए दुःख का अर्थ क्या है ? अपने से अधिक दुःखियों को देख कर सुख भोगने में जो असमर्थ है तथा जिसे दूसरों का सुख प्रसन्नतापूर्वक सहन होता है, वही पराए दुःख से दुःखी होता है। पर पीड़ा से पीड़ित प्राणी निज-पीड़ा से सर्वदा मुक्त है। इस रहस्य को भली-भाँति जान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेने पर अन्तर्द्वन्द्व अपने आप मिट जाता है। अन्तर्द्वन्द्व मिटते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प नष्ट हो जाते हैं और आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं। संकल्प पूर्ति के सुख का भोग न करने पर अपने आप निर्विकल्पता की अभिव्यक्ति होती है। निर्विकल्पता में ही शान्ति तथा सामर्थ्य निहित है। निर्विकल्पता मानव मात्र को प्राप्त हो सकती है। अतः सामर्थ्य के सम्पादन में मानव स्वाधीन है। (दर्शन और नीति, पृ. 87-88)

(5)

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में कोई भी देश, वर्ग, समाज एवं व्यक्ति सबल तथा निर्बल नहीं है। आंशिक बल तथा निर्बलता सभी में हैं। व्यक्ति जिस अंश में सबल है, उस अंश में किसी निर्बल को देख करुणित हो और जिस अंश में निर्बल है, उस अंश में किसी सबल को देख प्रसन्न हो तो परस्पर की भिन्नता एकता में परिवर्तित हो जाती है, जिसके होते ही भयरहित शान्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से दुःखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होना प्रत्येक देश, वर्ग, समाज एवं व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और यही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। सेवा की सजीवता तथा पूर्णता त्याग में निहित है, अर्थात जब तक प्रत्येक भाई-बहिन मिली हुई वस्तुओं को ममता का अन्त नहीं करेंगे और प्राप्त वस्तुओं की कामना से रहित नहीं होंगे, तब तक प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता, आदि का सद्व्यय सम्भव नहीं है। कारण कि ममता एवं कामना ने ही दो व्यक्तियों, वर्गों, देशों आदि में भेद उत्पन्न कर संघर्ष का पोषण किया है। भेद के रहते हुए केवल बाह्य सामग्री के सम्पादन मात्र से कोई भी भयरहित शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु सेवा और त्याग के बिना वह स्वयं सबल से भयभीत होगा और निर्बलों को भयभीत करता रहेगा जो अशान्ति का मूल है।

सेवा और त्याग को सजीव बनाने में एकमात्र प्रेम ही मूल तत्व है। इस कारण प्रेम के साम्राज्य की स्थापना सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए प्रत्येक भाई-बहिन को भौतिकवाद की दृष्टि से शरीर और विश्व की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है, कारण कि किसी भी प्रकार शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी को अपने शरीर की रक्षा अभीष्ट है, उसकी क्षति प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी की रक्षा अभीष्ट हो और किसी की क्षति अपने को सहन न हो, तभी वास्तविक भौतिकवाद सिद्ध हो सकता है। ममता और कामना को जीवित रखना और अपने-अपने सुख सुरक्षित रखने में लगे रहना भौतिकवाद नहीं है, अपितु वह संघर्षवाद, विनाशवाद और भोगवाद है, जो सर्वदा, सभी के लिए अहितकर है।

"शरीर विश्व के काम आ जाये", इसके अतिरिक्त अपना और कोई उद्देश्य न रहे, तभी भौतिकवाद की दृष्टि से प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है। अध्यात्मवाद ने मानव-समाज को सर्वात्म-भाव का पाठ पढ़ाया है अर्थात् निज-स्वरूप से भिन्न कुछ है ही नहीं, समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था मात्र है और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद के द्वारा भी प्रेम के साम्राज्य की स्थापना हो सकती है, कारण कि अपने में अपनी प्रियता स्वाभाविक है। प्रियता की जागृति परस्पर भेद, भिन्नता, संघर्ष आदि के नाश में हेतु है। जगत् और उसका प्रकाशक अपना ही निज स्वरूप है; अपने से भिन्न की सत्ता हो नहीं है, यही अध्यात्मवाद की एकता है। जगत् को मिथ्या कहना मात्र ही अध्यात्मवाद नहीं है, प्रत्युत भेद और भिन्नता का अत्यन्त अभाव ही अध्यात्मवाद है। आस्तिकवाद ने प्रेमास्पद से भिन्न में आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास ही नहीं किया और प्रेमास्पद की आत्मीयता को ही अपना सर्वस्व माना और उन्हीं के नाते निष्काम भाव से विश्व की सेवा की। इतना ही नहीं, उसने समस्त विश्व में प्रेमास्पद की अनुपम लीला का ही दर्शन किया। आस्तिकवाद प्रीति और प्रियतम से भिन्न को जानता ही नहीं, प्रत्युत प्रीति से अभिन्न होकर अनेक रूपों में प्रीतम को लाड़ लड़ाने का पाठ आस्तिकवाद ने पढ़ाया है। इस कारण आस्तिकवाद ने भी प्रेम के साम्राज्य की ही स्थापना की है। भय-रहित शांति की अभिव्यक्ति सेवा, त्याग तथा प्रेम में ही निहित है। परन्तु जब तक साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता अर्थात सुख-भोग रूप स्वार्थ का त्याग कर सेवा भाव अपनाने में समर्थ नहीं होता, तब तक जीवन में सेवा, त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से सर्वतोमुखी विकास दुःख के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाव में ही निहित है।

(दुःख का प्रभाव 103-105)

क्या हम हृदयहीन हुए बिना विषय-सुख का भोग कर सकते हैं ? कदापि नहीं। सुख-भोग में प्रवृत्ति तभी होती है, जब हम दु खियों की ओर से विमुख हो जाते हैं। दुःखियों को बिना अपनाये क्या हृदय में करुणा उदय हो सकती है ? करुणा के बिना क्या आसक्ति मिट सकती है ? अनासक्ति के बिना क्या कोई उदार हो सकता है ? उदारता के बिना क्या कोई महान् हो सकता है ? महानता के बिना क्या कोई अमरत्व प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई हृदयशील प्राणी सुख नहीं भोग सकता। हाँ, यह अवश्य है कि सुख का सदुपयोग कर सकता है।

सुख का सदुपयोग सेवा है, क्योंकि सेवा के बिना सुख-भोग की आसक्ति मिट नहीं सकती। पर, सेवा वही कर सकता है, जिसका हृदय पराये दुःख से भरा रहे। सेवा का अर्थ किसी का दुःख मिटाना नहीं है, अपितु अपना सुख बाँटना है। सुख के व्यय होने पर राग निवृत्त हो जाता है और हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जाता है। त्याग से चिर शांति और प्रेम से अगाध-अनन्त रस स्वतः प्राप्त होता है, जो मानव की माँग है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है, कि सुख भोगने से तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और सेवा द्वारा सुख का सदुपयोग करने से प्राणी का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

सुख का सदुपयोग करने में वे ही समर्थ हो सकते हैं, जो उस दुःख को अपना लेते हैं, जिसमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित है और उस सुख का त्याग कर देते हैं, जिसका जन्म किसी के अहित में हो। अतः हमें सावधानीपूर्वक उस सुख का त्याग करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत रहना चाहिए, जिससे दूसरों का ह्रास हो और उस दुःख को सहर्ष अपना लेना चाहिये, जिसमें दूसरों का विकास हो।

अब विचार यह करना है कि यह सामर्थ्य कब आयेगी, जिससे हम उस सुख को न अपनायें, जिसमें दूसरों का अहित है, अपितु उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःख को अपनायें, जिसमें दूसरों का हित निहित है, तो कहना होगा कि वह सामर्थ्य उन्हीं साधकों में आती है, जिनकी प्रत्येक चेष्टा ज्ञानपूर्वक होती है। ज्ञानपूर्वक की हुई प्रवृत्ति अहित से हित की ओर हो जाती है। यदि हम प्राकृतिक रचना का यथेष्ट अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मेन्द्रियों का उचित कार्य ज्ञानेन्द्रियों के प्रकाश में ही होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ संकल्प के अनुरूप ही कार्य करती हैं। संकल्प में शुद्धता विवेकवती बुद्धि द्वारा आती है और बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त नित्य ज्ञान से ही प्रकाशित होता है। अतः हमारा प्रत्येक कर्म ज्ञान के प्रकाश में ही होना चाहिए।

(7)

'सेवा' भाव है, कर्म नहीं। इस कारण प्रत्येक परिस्थिति में योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार सेवा हो सकती है। सच्चे सेवक की दृष्टि में कोई 'और' नहीं है तथा कोई 'गैर' नहीं है। इसलिये सेवक का हृदय स्वभाव से ही दुःखियों को देखकर करुणित तथा सुखियों को देखकर प्रसन्न हो जाता है। 'करुणा' सुखभोग की रुचि को और 'प्रसन्नता' खिन्नता को खा लेती है। सुख-भोग की रुचि का अन्त होते ही प्राप्त सुख-सामग्री दुःखियों के लिये स्वतः समर्पित होने लगती है और खिन्नता का अन्त होते ही कामनाओं का नाश अपने आप हो जाता है।

यह नियम है कि कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति निहित है। शरीर और विश्व में, व्यक्ति और समाज में तथा प्रेमी और प्रेमास्पद में सेवा ही एकता तथा अभिन्नता प्रदान करती है। सेवक अपना सुख देकर दूसरे के दुःख को अपनाता है। यह नियम है कि जो दुःख, सुख देकर अपनाया जाता है वह अपने आप आनन्द से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से 'सेवक' 'सेवा' होकर साध्य से अभिन्न हो जाता है।

सेवा वही कर सकता है, जो कुछ भी अपना न माने। जो कुछ भी अपना मानेगा वह सेवा नहीं कर सकता। जो सेवा नहीं कर सकता वह प्यार भी नहीं कर सकता। जो सेवा नहीं कर सकता वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग भी नहीं कर सकता। यह नियम है कि प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग के बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति ही प्राप्त होती है और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन में ही प्रवेश होता है। अतः सेवा में मानव-जीवन की सार्थकता निहित है। इस दृष्टि से सेवा साधनयुक्त-जीवन का आवश्यक अङ्ग है।

प्राकृतिक नियमानुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है वह कई गुना अधिक होकर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों की सेवा में अपना हित है। सेवा स्वार्थ-भाव को मिटा देती है, जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है। उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ी सुगमता पूर्वक अपने ही में अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है। इतना ही नहीं, सेवा द्वारा भौतिक-विकास भी स्वतः होता है। कारण कि सेवा सेवक को विभु बना देती है, अर्थात् सेवक समाज के हृदय में निवास करता है, क्योंकि सेवक में निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं।

अब विचार यह करना है कि सेवा का स्वरूप क्या है ? सेवा दो प्रकार की होती है—एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक। बाह्य सेवा का अर्थ है प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा, बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के, सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना न मानें, अपितु उसका मानें जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है। क्योंकि सृष्टि एक है, उसमें भेद करना प्रमाद है। अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नहीं और उसी की है जिसकी सेवा करते हैं, तब उसके नाम पर सेवा कैसे हो सकती है ? तो कहना होगा कि बाह्य सेवा जिन साधनों से की जा रही है, यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं, तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर एक दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनों के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवा द्वारा भेद गल जाता है तब करना स्वतः होने में बदल जाता है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आन्तरिक सेवा स्वतः होने लगती है। आन्तरिक सेवा के लिए किसी बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। उसमें तो सर्व हितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता है, अर्थात् भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होने लगती है। सर्व हितकारी-भाव सर्वात्मभाव प्रदान करता है, अर्थात् सेवक सभी में अपने ही को अनुभव करता है फिर 'सेवक' सेवा' और 'सेव्य' में अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा की पराकाष्ठा है।

(8)

राग-द्वेष का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि राग से पराधीनता और द्वेष से ईर्ष्या आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, और मानव-जीवन मिला है—निर्दोषता के लिए। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राग-द्वेष रहित होने पर ही मानव, वास्तविक मानव हो सकता है। अब यदि कोई कहे कि राग के बिना हम अपने प्रियजनों की सेवा कैसे करेंगे ? तो कहना होगा कि सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारता की अपेक्षा है। कारण, कि उदारता आ जाने पर पराया दुःख अपना दुःख बन जाता है और फिर अपना सुख वितरण करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं रहता। इतना ही नहीं, सुख-भोग को आसक्ति का अन्त हो जाता है। यही सेवा को वास्तविक सार्थकता है। सेवा का अन्त किसी वस्तु, पद आदि की प्राप्ति नहीं है। सेवा का अन्त तो त्याग में और त्याग का अन्त प्रेम में होता है। यदि हमारो को हुई सेवा हमारे जोवन में पद-लोलुपता तथा जिनकी सेवा की है उनसे किसी प्रकार की आशा उत्पन्न कर देतो है, तो समझना चाहिए कि हमने सेवा के नाम पर किसी अपने स्वार्थ को हा सिद्धि की है। ऐसा सेवा तो वह बुराई है जो भलाई का रूप धारण करके आतो है। यह नियम है कि जो बुराई, बुराई बन कर आती है वह बड़ी सुगमता से मिट सकती है, किन्तु जो बुराई भलाई का रूप धारण करके आती है उसका मिटाना बड़ा ही कठिन हो जाता है, क्योंकि बुराई को बुराई जान लेने पर बुराई स्वतः मिटने लगतो है और बुराई को भलाई मान लेने पर बुराई दृढ़ होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविक सेवा, क्रिया-रूप से भले ही सीमित हो, किन्तु भाव-रूप से असीम ही होती है, क्योंकि सेवा का जन्म ही होता है स्वार्थ भाव के मिट जाने पर, अर्थात् राग-रहित होने पर। जिन साधनों से क्रियारूप सेवा की जाती है, वे सीमित ही होते हैं। इस कारण सेवक का कर्म सीमित होता है, किन्तु जिस सर्वहितकारी सद्भावना से सेवा की जाती है, वह भाव असीम ही होता है। यह नियम है कि जो कर्म जिस भाव से किया जाता है, अन्त में कर्त्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है। इस दृष्टि से सेवक का सीमित कर्म भी सेवक को असीम प्रेम से अभिन्न कर देता है। जिसका हृदय असीम प्रेम से भरपूर है, वह किसी का अहित नहीं चाहता। अतः किसी के विनाश से किसी के विकास का प्रयत्न सेवा नहीं हो सकता। सेवा चाहे एक व्यक्ति की की जाय अथवा समस्त संसार की, उसके फल में कोई अन्तर नहीं होता; क्योंकि सेवा का फल भोग नहीं है, सेवा का फल है, 'निर्मलता', जो वास्तव में मानवता है।

निर्मलता आ जाने पर जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही अहं गल जाता है। अहं के गलते ही जीवन विभु हो जाता है, अथवा यों कहो कि बाह्य भेद प्रतीत होते हुए भी अभेद हो जाता है। फिर किसी प्रकार का संघर्ष शेष नहीं रहता, क्योंकि संघर्ष का जन्म भेद-भाव से होता है और भेद का जन्म अहं-भाव से होता है। अहंभाव का पोषण राग-द्वेष से होता है, जो वास्तव में मलिनता है।

प्रेम चाहे अपने में हो, किसी प्रतीक विशेष में हो अथवा समस्त विश्व में हो, उससे भेद की उत्पत्ति नहीं होती। भेद की उत्पत्ति तो मोह से होती है, प्रेम से नहीं। मोह एक प्रकार की मलिनता है और प्रेम का प्रादुर्भाव निर्मलता से होता है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि प्रेम मानवता और मोह अमानवता है।

(9)

यह सर्व विदित है कि अशांति व अभाव का कारण कामना ही है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कामनाओं की निवृत्ति का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाय क्या है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, सभी कामनाओं की उत्पत्ति का कारण अविवेक है। अविवेक की निवृत्ति एक-मात्र विवेक के आदर से हो सकती है, परन्तु विवेक का आदर करने का सामर्थ्य उन्हीं प्राणियों में आता है जो अपना प्राप्त सुख, दुखियों की सेवा में लगा देते हैं और अपने सुख को दुखियों की ही देन मानते हैं; कारण, कि अपने से दुःखी को देखकर सभी को सुख प्रतीत होने लगता है। जिसके दर्शनमात्र से हम अपने को सुखी मानने लगते हैं, क्या उसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य नहीं है ? अर्थात् अवश्य है। यह नियम है कि जिनके द्वारा हमें सुख की प्रतीति हुई अथवा जिनको हमने अपना मान लिया है, यदि प्राप्त-सुख के द्वारा उदारता पूर्वक बिना प्रत्युपकार की आशा के उनकी सेवा कर दी जाय, तो हम बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख की आसक्ति तथा सुख के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं, एवं जिनको अपना मान लिया था उनके बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं।

सुखभोग की लालसा मिटते ही मुक्ति की अभिलाषा पूर्णरूप से स्वतः जागृत हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपद् है, अर्थात् एक साथ हो जाती है, उसी प्रकार मुक्ति की अभिलाषा की पूर्ण जागृति तथा बन्धन की निवृत्ति युगपद् होती है, अर्थात् एक साथ हो जाती है।"

(10)

यह सभी को मान्य होगा कि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का सम्बन्ध समस्त संसार से है; क्योंकि संसार से इनकी जातीय एकता है। जिन वस्तुओं की संसार से जातीय एकता है, यदि उनको उसी की सेवा में समर्पित कर दिया जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक निर्वैरता प्राप्त हो सकती है। कारण कि वैर-भाव तभी उत्पन्न होता है, जब हम संसार को शरीर की सेवा में लगाना चाहते हैं। उसी का दूसरा नाम स्वार्थ-भाव हो जाता है, जो वैर-भाव को पुष्ट करता है। उस स्वार्थ-भाव को मिटाने के लिए ही सेवा-भाव की जागृति करना अनिवार्य हो जाता है। सेवा का अर्थ किसी के अभाव की पूर्ति करना नहीं है। क्योंकि जब समस्त संसार एक व्यक्ति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता, तो बेचारा व्यक्ति संसार के अभाव की पूर्ति कैसे कर सकता है ? सेवा-भाव का अर्थ है, सुख-भोग की आसक्ति का त्याग; प्राप्त योग्यता तथा वस्तुओं आदि का दुःखियों को वितरण कर देना अथवा यों कहो कि संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार को वापस कर देना। ऐसा करते ही साधक सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। और, फिर जो अनन्त सर्वत्र-सर्वदा सभी में विद्यमान है उससे अभिन्न हो जाता है अथवा उसकी प्रीति हो जाती है, जो वास्तव में मुक्ति तथा भक्ति है।

(11)

जब हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, तब हृदय करुणा से द्रवीभूत हो जायेगा, अथवा प्रसन्नता से भर जाएगा।

यह नियम है कि जिस हृदय में करुणा निवास करती है, उस हृदय में सुख-भोग की आसक्ति नहीं रहती, कारण, कि वह अपने से दुःखियों को देखते हुए सुख भोग ही नहीं सकता। और जिस हृदय में प्रसन्नता निवास करती है, वह अपने से सुखी को देखकर न तो ईर्ष्या ही करता है और न उसमें कोई चाह ही उत्पन्न होती है, क्योंकि ईर्ष्या तथा चाह की उत्पत्ति स्थायी प्रसन्नता के अभाव में होती है।

(12)

प्राकृतिक नियमानुसार हमें जो कुछ प्राप्त है, वह विश्व की उदारता ही है। जैसे सूर्य की उदारता से ही नेत्र देखता है, आकाश की उदारता से ही श्रवण सुनता है, जल की उदारता से ही रसना को रस मिलता है, वृक्ष और पशुओं की उदारता से ही बहुत-सी जीवन की उपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब हमारा जीवन किसी की उदारता पर निर्भर है, तो हमारे द्वारा भी समाज के प्रति उदारता का ही व्यवहार होना चाहिए। पर, आज यह बात हमारे जीवन से चरितार्थ होती है अथवा नहीं, यह अपने विवेक से देखें। यदि होती है, तो हम में मानवता है और यदि नहीं होती है, तो अमानवता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(13)

सदाचार-युक्त जीवन की समाज को सदैव आवश्यकता रहती है। यह नियम है कि जिसको जिसकी आवश्यकता होती है, वह उसका आदर भी करता है और उसकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मान लेता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाचार युक्त जीवन होने पर समाज में व्यक्ति को यथेष्ट स्थान मिलता है और उसके बिना ही मांगे उसके अधिकार सुरक्षित रहते हैं। कारण कि अधिकार कर्तव्य का दास है। सदाचारी की पहिचान यही है कि वह उस सुख को स्वीकार नहीं करता, जिसका जन्म किसी के दुःख तथा अहित से हो, अपितु उस दुःख को सहर्ष अपना लेता, है जिसका जन्म दूसरों के हित तथा प्रसन्नता से होता हो। यह प्राकृतिक नियम है कि जिस सुख तथा विकास का जन्म किसी दुःख तथा ह्रास से होता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है तथा अवनति और ह्रास का कारण हो जाता है। और, जिस दुःख का जन्म दूसरों के हित तथा प्रसन्नता से होता है, वह कालान्तर में चिन्मय आनन्द से अभिन्न कर देता है। इसीलिए सदाचारी उस सुख को नहीं अपनाते, जिससे दूसरों का अहित हो, प्रत्युत उस दुःख को अपना लेते हैं, जिससे दूसरों का हित हो।

(14)

आप विचार करके देखें, जो रोगी है वह यह चाहता है कि स्वस्थ व्यक्ति उसकी सेवा करे। बेचारा रोगी क्या सुखी होकर सेवा कराना चाहता है ? कदापि नहीं। सुखी तो सेवा करता है। आपको मानना पड़ेगा कि सेवा करने वाला तो सुखी सिद्ध होता है, और सेवा कराने वाला दुःखी। तो, अधिकार माँगने का अर्थ क्या हुआ ? इसका अर्थ है अपने को दुःखी सिद्ध करना और अधिकार देने का अर्थ क्या हुआ ? अपने को सुखी सिद्ध करना। तो आप सोचिए कि क्या हम अपने को दुःखी स्वीकार करें या सुखी सिद्ध करें ? आपको कहना पड़ेगा कि अपने को दुःखी स्वीकार करना किसी को भी अभीष्ट नहीं है, अपने को सुखी सिद्ध करना ही सबको अभीष्ट है। यह स्वभाव मानव का स्वभाव है। मानव को तो केवल अपना कर्तव्य दिखाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ता है, अधिकार नहीं। मानवता विकसित होने पर अधिकार-लालसा शेष नहीं रह जाती, और जब अविवेक के कारण मानवता नहीं रह जाती और देहाभिमान जाग्रत होता है, तब केवल अधिकार ही दिखाई देते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हममें जो अधिकार की लालसा है, वह अपने को देह मानने पर ही होती है, जो प्रमाद है।

(15)

सेवा-सूत्र

1. जिस प्रकार व्यापारी, व्यापार तथा धन है उसी प्रकार सेवक, सेवा तथा सेव्य है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का और गन्ध पुष्प का स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवक का स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, होने लगती है। सेवा उसी में उत्पन्न होती है, जो अपनी प्रसन्नता के लिए वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की खोज नहीं करता। वस्तु, अवस्था आदि की दासता सेवक होने नहीं देती। सेवक के अतिरिक्त संसार का प्यार और किसी को नही मिलता। कर्मवादी संसार को प्यार करता है, और सेवक को संसार प्यार करता है। कर्मवादी जिस संसार के प्यार को किसी भी प्रकार नहीं पाता, सेवक उसको बिना ही मूल्य पा लेता है, जिस प्रकार बगीचे के फल खरीदने वाला व्यक्ति छाया तथा वायु को बिना मूल्य ही पा लेता है।

2. सेवक को संसार की ओर से होने वाले प्यार के लिए लेशमात्र भी प्रयत्न करना नहीं पड़ता। वह स्वतः आता है और आने पर भी बेचारा सेवक को बाँध नहीं पाता, क्योंकि सेवक की वृत्ति बिना ही प्रयत्न निरन्तर सततरूप से जल-प्रवाह के समान सेव्य की ओर बहती रहती है।

3. सेवक के स्वभाव में पवित्रता निवास करती है, अर्थात् उसमें स्वार्थभाव का नितान्त अन्त हो जाता है।

4. सेवक के व्यवहार में कार्य-कुशलता होती है, क्योंकि उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है, अर्थात् उसमें क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद नहीं होता और न लक्ष्य-भेद होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. सेवक के सामने प्रत्येक परिस्थिति अभिनय के स्वरूप में आती है और उसे सेव्य को देकर चली जाती है।

6. सेवक पर किसी भी परिस्थिति का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं होता।

7. सेवक के अन्तःकरण से क्रियाजन्य रस की आसक्ति स्वतः निवृत्त हो जाती है।

8. जिस निवृत्ति को योगी योग से और विचारशील विचार से प्राप्त करता है, सेवक उसी को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त कर लेता है, अर्थात् सेवक को संसार से संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि सेवक की दृष्टि में (प्राकृतिक विधान के अनुसार) अपने आप आई हुई प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है।

9. विषयी बेचारा जिस यश और कीर्ति के पीछे दौड़ता है, वह यश और कीर्ति सेवक के पीछे दौड़ती है, किन्तु उसको पकड़ नहीं पाती, अर्थात् विषयी जिसका दास है, वह सेवक की दासी है।

10. जिस प्रकार स्वधर्मनिष्ठ राष्ट्र प्रजा से लिए हुए टैक्स को प्रजा के हित में ही बांट देता है, उसी प्रकार सेवक संसार की ओर से आई हुई शरीर आदि सभी वस्तुओं को संसार के हित में ही बांट देता है।

11. जिस प्रकार व्यापारी का व्यापार धन में विलीन होता है, उसी प्रकार सेवक की सेवा सेव्य (प्रेम-पात्र) में विलीन होती है।

12. जिस प्रकार अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती जाती है, लकड़ी त्यों-त्यों अग्नि बनती जाती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों सेवा प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों सेवक की सत्ता सेव्य से अभिन्न होती जाती है।

13. सेवक में स्वामी (प्रेम-पात्र) निवास करता है, क्योंकि स्वामी के बिना सेवा हो ही नहीं सकती।

14. सेवा तभी हो सकती है, जब ऐश्वर्य (बड़प्पन) तथा माधुर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(प्यार) हो। ऐश्वर्य तथा माधुर्य स्वामी का स्वरूप है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सेवक में स्वामी निवास करता है।

15. सेवक में सेवा करने से कभी थकावट नहीं आती, प्रत्युत ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति भी बढ़ती जाती है।

16. सेवक के हृदय में सदैव व्याकुलता बनी रहती है और वह व्याकुलता की अग्नि सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है।

17. सेवक दो प्रकार के होते हैं – एक तो गङ्गा की भाँति प्रत्यक्ष जन-समाज के सामने लहराते हैं और दूसरे हिमालय की भाँति अचल होकर मूक सेवा करते हैं।

18. सेवा किये बिना संसार का राग स्वाभाविक निवृत्त नहीं होता।

19. सेवा से भिन्न सभी साधन संसार को मृतकवत् जीवित रखते हैं। सेवा संसार को खा जाती है, मृतक नहीं बनाती, अर्थात् सेवक की निष्ठा समाधि से अतीत होती है, अथवा यों कहिये कि उससे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही अवस्थाएँ निवृत्त हो जाती हैं।

20. सभी साधक सेव्य को प्यार करते हैं और सेवक को सेव्य प्यार करता है। अतः प्रमपात्र का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम अनिवार्य है।

21. सेवा करने के लिए बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य वस्तुओं के संगठन से तो पुण्य कर्म होता है।

22. सेवा वही कर पाता है, जिस पर सेव्य (प्रमपात्र) की कृपा होती है, अर्थात् भक्तों तथा सन्तों के अतिरिक्त और कोई भी प्राणी सेवा नहीं कर पाता।

23. साधारण प्राणी वस्तुओं के संगठन से होने वाली प्रवृत्तियों को सेवा मानते हैं, किन्तु विचार-दृष्टि से वह सेवा नहीं है। सेवा करने की शक्ति तो स्वामी के प्रसाद से ही आती है।

24. जिस अंश में प्राणी अपनी सेवा कर पाता है, उसी अंश में वह दूसरों की सेवा कर पाता है, अर्थात् जिस साधन से प्राणी अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हित करता है, उसी साधन से सेवा करता है। बाह्य वस्तुओं के संगठन से किसी भी प्राणी का हित नहीं हुआ तो फिर उन वस्तुओं के संगठन से सेवा कैसे हो सकती है ?

25. वस्तुओं का संग्रह करना विश्व का ऋणी होना है। अतः वस्तुओं को विश्व के कार्य में लगा देना ऋण से मुक्त होना है, सेवा करना नहीं। जब प्राणी विश्व के ऋण से मुक्त हो जाता है, तब उसमें प्रेमपात्र से सम्बन्ध करने की शक्ति आ जाती है। प्रेमपात्र से सम्बन्ध होते ही प्रमपात्र के ऐश्वर्य तथा माधुर्य से स्वतः सेवा होने लगती है, अर्थात् प्रीति प्रीतम का स्वभाव है। सेवक तथा सेवा, प्रीति तथा प्रीतम एक वस्तु है।

26. सेवा करने के लिए सेवक होना अनिवार्य है। सेवक होने के लिए सद्भाव-पूर्वक प्रेमपात्र का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार युवावस्था आने पर ही शिशु को युवावस्था का यथार्थ ज्ञान होता है, उसी प्रकार सेवा करना किसी को सिखाया नहीं जा सकता। एक-एक सेवक के पीछे करोड़ों मनुष्य अनुसरण करने के लिए दौड़े, किन्तु वे सब मिल कर एक भी सेवक उत्पन्न नहीं कर पाये।

27. जिसका हृदय सार्वजनिक दुःख से दुखी होता है और वह जब सेव्य का हो जाता है, तब सेव्य की कृपा से सेवा करने की शक्ति स्वतः आ जाती है। पुण्यकर्म से त्याग करने की शक्ति आती है और त्याग से सेवक होने की शक्ति आती है। सेवक होने पर सेवा स्वतः उत्पन्न होती है।

28. संसार तथा प्रेमपात्र दोनों का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम आवश्यक है। जो प्राणी संसार से विमुख होकर प्रेमपात्र का बन जाता है उसमें सेवा करने की शक्ति स्वयं आ जाती है। अतः सेवक होने के लिए प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है।

29. सेवक होना उन्नति का साधन है, परन्तु सेवक कहलाना अवनति का कारण है।

30. जिस प्रकार नदी की प्रगति सदैव समुद्र की ओर ही रहती है, उसी प्रकार सेवक की प्रगति सदैव सेव्य की ओर रहती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जिस प्रकार नदी के सामने रुकावट आने पर नदी की गति तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार सेवक के सामने प्रतिकूलता आने पर, सेवा की गति और भी तीव्र हो जाती है अर्थात् प्रतिकूलता सेवक का उत्थान करती है, पतन नहीं।

31. सेवक के जीवन में ज्ञान के अनुरूप भाव तथा क्रिया होती है अर्थात् सेवक की क्रिया तथा भाव ज्ञान में विलीन होते हैं।

32. सेवा नित्य स्वतन्त्रता की ओर ले जाती है।

33. सेवक संसार का चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत संसार सेवक का चिन्तन करता है।

34. सेवक संगठन के पीछे नहीं दौड़ता, प्रत्युत संगठन सेवक के पीछे दौड़ता है।

35. सेवक के जीवन में दीनता तथा अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

36. जिसने व्यक्तिगत सुख के लिए ही शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग किया है उसी ने व्यक्ति और समाज की एकता भंग की है, जिसके होने से सर्वात्म-भाव सुरक्षित नहीं रहा और व्यक्ति अभिमान तथा दीनता में आबद्ध हो गया। इस कारण आर्थिक विषमता सुदृढ़ हो गई। अतः शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग समाज के हित में ही करना अनिवार्य है। तभी आर्थिक स्वतंत्रता रह सकती है।

37. बालक, रोगी, वृक्ष और पशु इनकी सेवा का दायित्व मानव मात्र पर है। इनकी यथेष्ट सेवा किये बिना न तो दरिद्रता ही नष्ट होगी और न समाज आवश्यक वस्तुओं से ही परिपूर्ण होगा। अतः संगृहीत सम्पत्ति रोगी, बालक, वृक्ष तथा पशुओं की ही है।

38. मिली हुई वस्तुओं की ममता का त्याग, अप्राप्त वस्तुओं की कामना का त्याग तथा मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग करने पर, प्राकृतिक विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं कारण कि निर्लोभता युक्त उदारता दरिद्रता को खा लेती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

39. लोभ से ही दरिद्रता का जन्म होता है। अव्यक्त से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। उसमें अभाव नहीं है तो फिर आवश्यक वस्तुओं का अभाव कैसा ? इस कारण यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यदि मानव उदारता को अपनाये और आलस्य तथा अकर्मण्यता का त्याग कर डाले तो आवश्यक वस्तुएँ अपने आप प्राकृतिक विधान से मिलने लगें। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने अनन्त के मंगलमय विधान का अध्ययन किया है।

40. यह सभी को विदित होगा कि जो पशु जिस देश-काल में उत्पन्न होते हैं उनकी रक्षा प्रकृति की गोद में स्वतः होती है। इससे यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि रक्षा का दायित्व किसी विधान में निहित है। परन्तु बुद्धिमान मानव प्रकृति के विधान का आदर न करके प्रकृति का भोग करता है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि वस्तुओं का अभाव है और वस्तुओं में उत्तरोत्तर शक्ति की कमी होती जाती है। यह वस्तु-विज्ञान से सिद्ध है।

41. उत्पत्ति, रक्षा और विनाश विधान के आधीन हैं। कोई भी वस्तु किसी भी व्यक्ति को अमर नहीं बनाती। यदि ऐसा होता तो कुछ प्राणी अवश्य अविनाशी हो जाते। यदि विनाश को नवीन उत्पत्ति का साधन मानकर विनाश का भय नष्ट कर दिया जाय और वस्तुओं का उपयोग रक्षा में हो, विलास में नहीं, जीवन का उपयोग कर्त्तव्य में हो, अकर्त्तव्य में नहीं तो प्रकृति का मंगलमय विधान रक्षार्थ आवश्यक वस्तु, शक्ति एवं योग्यता स्वतः प्रदान करता है। अतः कर्त्तव्य-परायणता आवश्यक वस्तुओं की जननी है।

42. प्रकृति जो कुछ देती है, उससे साधक को अतीत के जीवन की ओर अग्रसर करने के लिए दिये हुए को अपने में विलीन कर लेती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। किन्तु मानव मिले हुए की आसक्तियों के कारण उन्हें सुरक्षित रखने की सोचता है। ममता रहित होकर उनका सदुपयोग नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके होने से प्राणी न तो मिले हुए का सदुपयोग ही कर पाता है और न वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश ही। अतः वस्तुओं के नाश से भयभीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होना, वस्तुओं की दासता को सुरक्षित रखना है और कुछ नहीं। वस्तुओं की दासता दरिद्रता की जननी है।

43. प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना ने लोभ को जन्म दिया। लोभ ने अर्थ का मूल्य बढ़ा दिया और उसने सच्चरित्रता का अपहरण कर लिया। जिसके होते ही परिस्थिति परिवर्तन में अभिरुचि जाग्रत हो गई। प्रकृति से मिली हुई परिस्थिति के सदुपयोग पर दृष्टि न रही।

उसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं में ही जीवन बुद्धि हो गई, जिसने मानव को मानव नहीं रहने दिया। कारण कि वस्तुओं के आधार पर ही समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन होने लगा। इस कारण बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम अर्थ के अधीन हो गये। जिसके होते ही परस्पर में अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हो गये। आवश्यक वस्तु-प्राप्ति के विधान को भूल कर व्यक्ति विधान-विरोधी उपायों द्वारा अर्थ का संग्रह करने लगा। संग्रह नाश का हेतु है। अर्थात संग्रही प्राणी अपनी मृत्यु का आप आवाहन करता है। अतः मानव-जीवन में अर्थ की दासता का कोई स्थान ही नहीं है। अर्थ समाज की धरोहर है और कुछ नहीं।

44. जब मानव-समाज बालकों और रोगियों की यथेष्ट सेवा नहीं करता तब भावी समाज के मन में एक विद्रोह उत्पन्न होता है जो उस प्रवृत्ति को जन्म देता है जिससे सुखी और दुःखी में संघर्ष होने लगता है। सुखी उदारता एवं दुःखी त्याग के बल को अपना नहीं पाता। दुःखी में तृष्णा और सुखी में लोभ की वृद्धि होती रहती है जो अनर्थ का मूल है। यदि मानव-समाज प्रत्येक बालक को अपना बालक मानले और रोगियों की सेवा का दायित्व व्यक्ति पर न रहकर सामूहिक हो जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक विद्रोह की भावना मिट सकती है।

45. प्राकृतिक नियम के अनुसार संगृहीत सम्पत्ति समाज की है, उसी वर्ग की है जो वर्ग उपार्जन में असमर्थ है अथवा जिन्हें अवकाश नहीं है। जो वर्ग उपार्जन में समर्थ है उसका अधिकार संगृहीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पत्ति पर नहीं है। अतः रोगियों, बालकों और सत्य की खोज में रत व्यक्तियों की सेवा संगृहीत सम्पत्ति द्वारा करना अनिवार्य है।

46. समाज का जो वर्ग उत्पादन में समर्थ है वह यदि वर्तमान उपयोगिता से अधिक संगृहीत सम्पत्ति का अधिकारी अपने को मान लेता है तब उसके जीवन में मिथ्या अभिमान, आलस्य तथा विलास की उत्पत्ति हो जाती है जो उसके सर्वनाश में हेतु है।

47. उपार्जन करने वाले वर्ग को अपने दैनिक श्रम का कुछ भाग अवश्य उस वर्ग के लिए समर्पित करना चाहिए जो वर्ग उपार्जन में असमर्थ है।

48. अपने श्रम का पूरा मूल्य अपने पर व्यय करना अथवा मनमाने ढंग से विवेक विरोधी कार्यों में लगाना अनर्थ है। कारण कि प्रत्येक व्यक्ति समाज के सहयोग से ही पोषित होता है। इसलिए उस काल का ऋण उपार्जन काल में चुकाना अनिवार्य है।

49. व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान सामूहिक सम्पत्ति की सुरक्षा अनिवार्य है और उसका सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है, किन्तु सुख भोग की दृष्टि से किसी भी सम्पत्ति का व्यय नहीं करना है, हित की दृष्टि से करना है। किसी को हानि पहुँचाकर किसी की सेवा करना, सेवा नहीं है अपितु भोग है। भोग के राग का नाश करने के लिए मर्यादित भोग करना है। यदि विचारपूर्वक भोग-वासना नष्ट हो जाय तो भोग प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है। भोग की वास्तविकता जानने के लिए ही मर्यादित भोग अपेक्षित है। अतः वस्तुओं का सम्पादन व्यक्तियों की सेवा में है, अपने सुख-भोग में नहीं। स्वार्थ-भाव का अन्त हुए बिना निर्लोभता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना दरिद्रता का नाश नहीं हो सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

50. मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य द्वारा आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में भाग लेना और उत्पादित वस्तुओं को विश्व की सेवार्थ व्यय करना दरिद्रता-नाश का सुगम उपाय है।

51. मिली हुई वतुओं को व्यक्तिगत मान लेना और उनके उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं का संग्रह करना अथवा वस्तुओं को सिक्के के रूप में परिवर्तित करना दरिद्रता का आवाहन करना है।

52. दरिद्रता किसी परिस्थिति विशेष में नहीं है। अपितु तृष्णा की वृद्धि में ही है। यदि मानव मिली हुई वस्तुओं का दुरुपयोग न करे तो आवश्यक वस्तुएँ अनन्त के मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती हैं। वस्तुओं की दासता तथा उनके दुरुपयोग ने ही दरिद्रता को जन्म दिया है।

53. अपने से अधिक सम्पन्न व्यक्तियों को देखकर प्रसन्न न होना, अपितु अपने व्यक्तिगत जीवन में अभाव की अनुभूति कर क्षुब्ध होना अपने को दरिद्रता से मिला लेना है अथवा यों कहो कि अपने जीवन में दरिद्रता की स्थापना करना है।

54. अपेक्षाकृत भाव और अभाव की अनुभूति प्रत्येक परिस्थिति में विद्यमान है। इस दृष्टि से समस्त परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। विचारशील साधक अर्थ को अपनाकर अपने को परिस्थितियों की दासता से मुक्त कर लेते हैं। परिस्थितियों की दासता से मुक्त होते ही उनके सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वतः आ जाती है और फिर अभाव और भाव दोनों का सदुपयोग बड़ी सुगमता से हो जाता है, जिसके होते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा के लिए बुझ जाती है और दरिद्रता का नाश सदा के लिए हो जाता है।

55. जिस प्रकार व्यक्तिगत विकास से पारिवारिक विकास स्वतः होता है उसी प्रकार निकटवर्ती जन-समाज के विकास से नागरिकों का विकास स्वतः होता है। अतः अपने पड़ौसी के हित का ध्यान अपने समान ही रखना आवश्यक है।

56. अपने दुःख से दूसरों को दुःखी करना अपने दुःख को बढ़ाना है और दूसरों के दुःख से दुःखी होना अपने दुःख को मिटाना है। दुःख का पूरा प्रभाव होने पर उसके कारण का ज्ञान स्वतः हो जाता है जिसके होते ही दुःख के नष्ट करने की सामर्थ्य अपने आप आ जाती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस दृष्टि से दुःख स्वयं दुःख के नाश का साधन है। अतः दुःख आने पर भयभीत होना भूल है। दुःख के प्रभाव में ही दुःख का नाश निहित है।

57. प्राकृतिक विधान के अनुसार प्राणी मात्र का उद्गम एक है और सभी की स्थिति भी एक ही में है। अतः विनाश भी सभी का एक ही में है। इस दृष्टि से हम सब एक हैं। अतः परस्पर में प्रीति की एकता स्वीकार करना अनिवार्य है।

58. प्रीति की एकता स्वीकार करते ही प्राप्त बल का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। कारण कि प्रीति बल का उपयोग अहितकर कार्यों में नहीं होने देती। अतः बल का व्यय उपयोगी कार्यों में ही होने लगता है, जिसके होते ही भेद, भिन्नता तथा निर्बलता सदा के लिए मिट जाते हैं। अतः प्रीति की एकता में ही समाज का विकास निहित है।

59. ज्ञान के अनुरूप भाव और सद्भाव के अनुसार व्यवहार स्वतः होता है। अतः निज-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित पवित्र भाव सुरक्षित रखना अनिवार्य है।

60. किसी-न-किसी नाते हम सब एक हैं और इन्द्रियज्ञान की दृष्टि से अनेक हैं। अनेक मानने पर भी सभी में एक ही का दर्शन करना और परस्पर कुटुम्बी जनों की भांति सम्बोधन करना नागरिकता की जागृति में परम साधन है।

61. आदर तथा प्यार की भूख प्राणी मात्र को है और उसके आदान-प्रदान की सामर्थ्य मानव मात्र में है। परन्तु किसी गुण विशेष के दर्शन बिना आदर तथा प्यार देने की अभिरुचि नहीं होती। मानव यह भूल जाता है कि गुणों के आधार पर दिया हुआ आदर तथा प्यार अपनी निर्बलता का परिचय है, आदर तथा प्यार नहीं। अतः जिसकी भूख स्वाभाविक है उसका देना बिना किसी हेतु के आवश्यक है।

62. अहितकर चेष्टाओं का अन्त हो जाने पर हितकर चेष्टाएँ यथाशक्ति स्वतः होने लगती हैं। इतना ही नहीं, क्रिया सीमित होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भी सर्व-हितकारी सद्भाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, जिससे जो करना चाहिए वह होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। अतः विवेक पूर्वक अहितकर चेष्टाओं का निरोध अनिवार्य है।

63. अपने निर्माण में समाज का विकास निहित है, क्योंकि सुन्दर व्यक्तियों के पीछे ही समाज चलता है। की हुई भूल न दोहराने से अपना निर्माण स्वतः हो जाता है। यह अनन्त मंगलमय विधान है। अतः अपने निर्माण के लिए सतत प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है।

64. राष्ट्र का निर्माण समाज के उन व्यक्तियों द्वारा होना चाहिये जिन्होंने क्रियात्मक रूप से जन-समाज की सेवा की है अर्थात् सेवा करने वालों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण ठीक-ठीक हो सकता है, पर उन्हें स्वयं संचालक नहीं होना चाहिये। वे राष्ट्र और प्रजा के बीच में श्रद्धा और विश्वास को बढ़ाते रहें। प्रजा में राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और राष्ट्र में प्रजा के प्रति प्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यह कार्य समाज-सेवी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता है।

65. सेवा करने वाले महानुभावों में जो ऐसे महामानव हैं जिनका जीवन सेवा और प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिनमें से सेवक होने का अभिमान भी गल गया है वे ही अनन्त के मंगलमय विधान को भलीभांति जानते हैं। जो विधान अनन्त के विधान से अनुप्राणित नहीं है वह विधान सर्वहितैषी नहीं हो सकता और न उसके द्वारा विश्व में शान्ति की स्थापना ही हो सकती है। अतः राग-रहित होकर वास्तविक विधान का निर्माण करना अनिवार्य है।

66. सच्चा सेवक वही हो सकता है जिसके जीवन में राष्ट्र का संचालक होने का प्रलोभन न रहे। सम्मान की दासता ने अभिमान को जन्म देकर सेवा-भाव को नष्ट किया है। इस कारण सेवक राष्ट्र का निर्माता हो सकता है, किन्तु राष्ट्र का संचालक नहीं। सेवक का शासन राष्ट्र और प्रजा दोनों के हृदय पर स्वतः होता है। अतः सेवक को राष्ट्र के संचालक होने के प्रलोभन का त्याग करना अनिवार्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

67. समाज की बहुत बड़ी शक्ति राष्ट्र के बनाने में व्यर्थ हो जाती है उस पर भी सर्व प्रिय राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता । इस समस्या को हल करने के लिए समाज के सेवकों को परस्पर मिलकर विचार-विनिमय द्वारा किसी ऐसी पद्धति का निर्माण करना चाहिये जो सर्वप्रिय राष्ट्र बनाने में समर्थ हो । यह तभी सम्भव होगा जब सेवा करने वाला विभाग सेवा को अपनी खुराक न बनाये और सेवक होकर सम्मान का दास न हो जाय । अतः सेवा को सजीव बनाने के लिए वासनाओं का त्याग अनिवार्य है ।

68. सच्चे सेवक के पीछे समाज स्वयं चलता है और उसे समाज का यथेष्ट ज्ञान रहता है । जिसे समाज का यथेष्ट ज्ञान है वही समाज में से सर्व-प्रिय राष्ट्र का निर्माण कर सकता है । अतः सेवकों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण आवश्यक है ।

69. प्रत्येक मत, सम्प्रदाय तथा वाद के व्यक्ति समाज के प्रति हित कामना रखते हैं और अपने-अपने ढंग से समाज के उत्थान में भी भाग लेते हैं, परन्तु वे परस्पर विचार-विनिमय नहीं करते । उसका परिणाम यह होता है कि समाज का कुछ भाग प्रत्येक हित-चिन्तक के आधीन हो जाता है । इस कारण समाज अनेक विभागों में विभाजित हो जाता है और सेवा करने वाले वर्ग परस्पर संघर्ष में समाज की शक्ति का अपव्यय करने लगते हैं ।

अतः समाज की शक्ति का सद्व्यय करने के लिए सभी समाज सेवियों को परस्पर विचार-विनिमय करना अनिवार्य है ।

70. सेवा की सजीवता तथा सफलता इसी में है कि जिसकी सेवा की जाय उसमें स्वतः सेवा का भाव जागृत हो जाय और जो सेवा करे उसमें अपने अधिकार का त्याग आ जाय । जब सेवक के जीवन में से अधिकार लालसा सर्वांश में नष्ट हो जाती है तब उसकी की हुई सेवा विभु होकर समाज में सद्भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होती है । अतः सेवक को सेवा के फल की तो कौन कहे, सेवक कहलाने की लालसा का भी त्याग करना अनिवार्य है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

71. सच्चा सेवक वही हो सकता है जिसने अपनी सेवा की हो। अपनी सेवा करने के लिए अपने को अपने सम्बन्ध में ही विचार करना होगा अर्थात् अपने जाने हुए असत् का त्याग करने पर ही मानव अपनी सेवा कर सकता है। अपनी सेवा करने पर जीवन में सेवा की अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से सुगन्ध स्वतः फैलती है उसी प्रकार जिसने अपनी सेवा की है उसके द्वारा सभी की सेवा स्वतः होने लगती है। अतः सेवक होने के लिए अपनी सेवा करना अनिवार्य है।

72. सेवक हुए बिना की हुई सेवा, सेवा के रूप में भोग है, सेवा नहीं। सेवा के रूप में किया हुआ भोग व्यक्ति को गुणों के अभिमान में आबद्ध कर देता है। गुणों का अभिमान समस्त दोषों की भूमि है। उसके नाश हुए बिना जीवन में निर्दोषता की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। निर्दोषता के बिना सच्ची सेवा हो ही कैसे सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती। अतः सेवा के रूप में भोग का त्याग अनिवार्य है।

73. सुख-भोग की लालसा से रहित होने पर ही सेवा का भाव उदित होता है। सेवा भाव है, कर्म नहीं। सेवाभाव से भावित कर्म आस्तिक के लिए पूजा, अध्यात्मवादी के लिए राग निवृत्ति का माध्यम और भौतिकवादी के लिए सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है। अतः सेवाभाव की अभिव्यक्ति के लिए सुख-भोग के प्रलोभन का त्याग अनिवार्य है।

74. दूसरों के प्रति किया हुआ ही अपने प्रति हो जाता है।

75. प्रलोभन रहित भलाई ही वास्तव में भलाई है।

76. बुराई के बदले में की हुई भलाई बुराई को खा लेती है।

77. वस्तुओं की दासता ही दरिद्रता की जननी है।

78. वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति निहित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

79. वस्तुओं का सदुपयोग प्राणियों की सेवा में ही निहित है।

80. संसार के काम आने पर ही संसार की दासता से रहित हुआ जा सकता है।

81. सम्बन्ध रखते हुए सेवा न करना बन्धन है।

82. समस्त बल निर्बलों की ही वस्तु है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दया-दान के दोहे

☐ श्री सत्यनारायण गोयनका

पर-सेवा ही पुण्य है, पर-पीड़न ही पाप।
पुण्य किये सुख ही मिले, पाप किये दुःख ताप ॥ 1 ॥

जो चाहे दुर्गति न हो, जो चाहे सुख सार।
पर पीड़न से दूर रह, कर नित पर उपकार ॥ 2 ॥

करे तो कर उपकार ही, मत कर अपकार।
उपकारों से सुख बढ़े, दुःखदायी अपकार ॥ 3 ॥

जब पर हित सेवा करे, धर्म सुमन खिल जाय।
जब निज हित सेवा करे, धर्म सुमन मुरझाय ॥ 4 ॥

लेने के हित जो दिया, वह तो है व्यवसाय।
देने के हित जो दिया, दान वही कहलाय ॥ 5 ॥

दान सुखों का मूल है, करे परिग्रह दूर।
हल्का फुल्का चित्त रहे, मंगल होय भरपूर ॥ 6 ॥

परिजन का पालन करे, देवें दान उन्मुक्त।
सदा मुक्त ऋण से रहें, पावें सुख उपयुक्त ॥ 7 ॥

अस्त्र-शस्त्र वाहन भुवन, स्वर्ण रत्न का दान।
सब दानों से उच्च है, श्रेष्ठ धर्म का दान ॥ 8 ॥

ज्यूँ-ज्यूँ अपने दान से, बहुजन हित सुख होय।
त्यूँ-त्यूँ अपने पुण्य की, बेल पल्लवित होय ॥ 9 ॥

अपना भी पालन करें, पालें निज परिवार।
औरों का पालन करें, गृही धर्म का सार ॥ 10 ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपना भी होवे भला, भला जगत का होय।
जिससे सबका हो भला, शुद्ध धरम है सोय ।। 11 ।।

सद् गृहस्थ की संपदा, जन हितकारी होय।
कर दे दूर विपन्नता, मंगलकारी होय ।। 12 ।।

द्वेष और दुर्भाव का, रहे न नाम निशान।
स्नेह और सद्भाव से, भरलें तन-मन प्राण ।। 13 ।।

जगे प्यार ही सर्वदा, रोम-रोम लहराय।
धर्म गंग ऐसी बहे, द्वेष द्रोह धुल जाय ।। 14 ।।

कर्मकाण्ड ना धर्म है, धर्म न बाह्याचार।
धर्म चित्त की शुद्धता, करुणा सेवा प्यार ।। 15 ।।

करें मित्र से प्यार सब, यही जगत व्यवहार।
लेकिन सज्जन तो करें, वैरी से भी प्यार ।। 16 ।।

देख दुःखी करुणा जगे, देख सुखी मन मोद।
सबके प्रति मैत्री जगे, रहे समत्व का बोध ।। 17 ।।

मैत्री करुणा प्यार से, तन मन पुलकित होय।
मानव जीवन सफल हो, सब विध मंगल होय ।। 18 ।।

मैत्री जागे बलवती, रोम-रोम लहराय।
फूटे झरना प्यार का, तन-मन मंगल छाय ।। 19 ।।

ज्यों इकलौते पूत पर, उमड़े मां का प्यार।
त्यों प्यारा लगता रहे, हमें सकल संसार ।। 20 ।।

मानव-मानव में जहां, भेदभाव न होय।
निज हित, पर हित, सर्वहित, धर्म सत्य है सोय ।। 21 ।।

भला होय सब जगत का, सुखी होय सब लोग।
दूर होय दारिद्र-दुःख, दूर होय भव रोग ।। 22 ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो भी प्राणी जगत के, स्थावर जंगम होय ।
मझले या छोटे बड़े, भला सभी का होय ।। 23 ।।

सारे प्राणी हों सुखी, सतत सुरक्षित होय ।
देखें मंगल ही सदा, दूर अमंगल होय ।। 24 ।।

दुःखियारे दुःख मुक्त हों, भय त्यागें भयभीत ।
द्वेष छोड़कर लोग सब, करें परस्पर प्रीत ।। 25 ।।

सुख छाये संसार में, दुःखिया रहे न कोय ।
ना कोई भयभीत हो, ना कोई रोगी होय ।। 26 ।।

सुख भोगें प्राणी सभी, सब शुभ दर्शी होय ।
क्षेमवंत निर्भय रहें, दुःख किंचित् ना होय ।। 27 ।।

तजें परस्पर बैर सब, तजें परस्पर द्वेष ।
तजें द्रोह दुर्भावना, दूर होय दुःख क्लेश ।। 28 ।।

फूटे झरना प्यार का, अंग-अंग लहराय ।
रोम रोम रोमांच हो, पुलकन से भर जाय ।। 29 ।।

मेरे सुख और शान्ति में, सब हों भागीदार ।
सबके मन के दुःख मिटे, सब का हो उद्धार ।। 30 ।।

मंगल प्रार्थना

सब का मंगल, सबका मंगल, सबका मंगल होय रे ।
तेरा मंगल, तेरा मंगल, तेरा मंगल होय रे ।
दृश्य और अदृश्य जीवों का मंगल होय रे ।
जल के थल के और गगन के सभी प्राणी सुखिया होय रे ।
दशों दिशाओं के सब प्राणी मंगल लाभी होय रे ।
निर्भय हों, निर्वैर बनें सब, सभी निरामय होय रे ।
जन-जन मंगल, जन-जन मंगल, जन-जन मंगल होय रे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा के बिना अहिंसा अधूरी

☐ श्री डी. आर. मेहता

अहिंसा जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त और विशिष्ट पहचान है। अन्य भारतीय परम्पराओं में भी अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित है। महाभारत में भीष्म ने अहिंसा को 'परमो धर्मः' बताया है। परन्तु कई जैन विद्वानों एवं मनीषियों ने 'अहिंसा' शब्द का उपयोग मात्र नकारात्मक रूप में किया है। दार्शनिक रूप से ऐसा करना भ्रान्ति-पूर्ण है और जीवन में भी अहिंसा के नकारात्मक अर्थ से बहुत क्षति हुई है।

इस शताब्दी में विश्व के एक महान् सेवार्थी डॉ. अल्बर्ट स्वाइट्जर (Dr. Albert Switzer) ने अफ्रीका के घने जंगल में एक पुस्तक लिखी—Indian Philosophical Thought अर्थात् 'भारतीय दर्शन विचार'। यद्यपि स्वाइट्जर एक पादरी थे, ईसाई धर्म में उनकी विशेष आस्था थी, तथापि इस पुस्तक में उन्होंने जैन-धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की। विशेष रूप से 'अहिंसा' सिद्धान्त के बारे में उनका कहना था कि इस सिद्धान्त का जैन-धर्म द्वारा दार्शनिक स्वरूप देना विश्व के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक इतिहास की एक प्रमुख घटना है। परन्तु वे इस बात से खिन्न थे कि जैन धर्म में इस सिद्धान्त का अर्थ सामान्यतः नकारात्मक या अभावात्मक रूप में ही दिया गया है।

अल्बर्ट स्वाइट्जर के अतिरिक्त अनेक विद्वान् भी जैन-दर्शन में अहिंसा का अर्थ नकारात्मक ही लेते हैं। यही नहीं अहिंसा को नकारात्मक ही समझते हैं। अनेक बार ऐसा मत भी व्यक्त किया जाता है कि करुणा मोह का ही एक रूप है। यह भी कहा जाता है कि करुणा, दया, सेवा इत्यादि से पुण्य-बन्ध होता है, जिससे व्यक्ति स्वर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो पा सकता है, पर मुक्ति नहीं। यह विचारधारा भ्रामक है तथा इससे जैन-धर्म-दर्शन का वास्तविक रूप विकृत हुआ है।

इन विचारकों के अनुसार निवृत्ति ही धर्म है और प्रवृत्ति चाहे शुभ से सम्बद्ध हो तो भी बन्ध का ही कारण है। किन्तु यह विचारधारा असंगत एवं अधार्मिक है।

भारतीय परम्परा में 'अहिंसा' शब्द की संरचना नकारात्मक (न हिंसा इति अहिंसा) अवश्य है, किन्तु इसमें सकारात्मक अर्थ पूर्णतः सन्निहित है। उसका प्रमाण है प्रश्नव्याकरण सूत्र, जिसमें अहिंसा के साठ नामों में दया, मंगल, अभय आदि शब्दों की गणना है। ये शब्द मात्र हिंसा के अभाव के द्योतक नहीं हैं, अपितु हिंसा के विरोधी भाव करुणा, अनुकम्पा, मैत्री, सेवा आदि के भी बोधक हैं।

संस्कृत में निषेध अर्थ में प्रयुक्त नञ् (न=अ) के छह अर्थ माने गए हैं—तत्सदृश, अभाव, उससे भिन्न, उससे अल्प, अप्रशस्त एवं विरोध। 'अहिंसा' शब्द में अ (नञ्) के दो अर्थ प्रयुक्त हुए हैं—अभाव एवं विरोध। एक तो हिंसा का अभाव अहिंसा है और दूसरा हिंसा का विरोधी भाव एवं प्रवृत्ति जैसे करुणा, दया, अनुकम्पा, मैत्री, सेवा आदि अहिंसा है।

परम्परा के प्रवाह में अहिंसा का शाब्दिक अर्थ केवल हिंसा नहीं करना ही हो गया। वास्तव में किसी जीव की हिंसा नहीं करना तो आवश्यक है ही, परन्तु अहिंसा का मूलाधार और स्वरूप, करुणा, अनुकम्पा और वात्सल्य है।

यहां यह भी उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि अगर अहिंसा का अर्थ सकारात्मक नहीं है तो अहिंसा धार्मिक, नैतिक अथवा आत्म-उत्थान के सिद्धान्त के रूप में अर्थहीन है। केवल नकारात्मक विचार-धारा के आधार पर कोई भी व्यवस्था या संगठन खड़ा नहीं रह सकता।

समस्त जैन सम्प्रदायों को मान्य 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार तब तक मुक्ति नहीं हो सकती जब तक संयुक्त रूप से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति न हो। तत्त्वार्थभाष्य आदि टीकाओं में सम्यग्दर्शन के पांच लक्षणों में एक अनुकम्पा भी है।[1] वैसे भी सामान्य जीवन में साधारण विवेक के अनुसार भी अगर अनुकम्पा नहीं है तो व्यक्ति में मानवता का ही अभाव है और वह पत्थर के समतुल्य है। तथ्य यह है कि पत्थरों की मुक्ति नहीं होती है। दिगम्बराचार्य वीरसेन ने धवला टीका में 'करुणा' को जीव का स्वभाव कहा है तथा यह कहा है कि यदि करुणा, दया आदि शुभ भावों से मुक्ति प्राप्त नहीं हो तो मुक्ति कदापि मिल ही नहीं सकती।

कुछ विद्वानों से चर्चा करने पर यह भी निष्कर्ष निकला कि मूल आगमसाहित्य में धर्म एवं पुण्य में भेद नहीं किया गया। पाप और पुण्य में भेद अवश्य है जिसका उल्लेख नवतत्त्वों की चर्चा में विशेष रूप से आता है। सम्भवतः मध्यकालीन और अर्वाचीन विद्वानों ने पुण्य एवं धर्म में भेद स्थापित किया है जबकि मूल आगम-साहित्य में इस भेद को दर्शाया नहीं गया है।

अहिंसा के सकारात्मक स्वरूप में करुणा, सेवा, सहायता, वात्सल्य, अनुकम्पा, मैत्री भाव आदि का समावेश होता है। 'मैत्री' शब्द का उल्लेख आगमों में 'मित्ती मे सव्वभूएसु' 'मित्ति भूएसु कप्पए' आदि वाक्यों में अनेक बार आता है, किन्तु बाद में उसकी उपेक्षा दर्शन और जीवनके स्तर पर हुई। मित्र शब्द स्नेह, सौहार्द एवं सहयोग का प्रतीक है। इस दृष्टि से मित्र वह है जो मदद करे। यहां पर यह कहना उचित होगा कि भगवान् महावीर ने जन-साधारण के लिए सीधी-सरल बात कही। इसके लिए वे विख्यात भी थे। अतः उनके सिद्धान्तों का अर्थ भी सीधा-सरल लगाया जाना चाहिए। यह उचित नहीं है कि ऐसी सीधी एवं सरलता से कही हुई बात का अर्थ क्लिष्ट या विकृत किया जाय।

कई बार यह कहा जाता है कि 'मैत्री' शब्द का अर्थ है—दूसरों से वैर नहीं करें, किन्तु उसका यह अर्थ अपर्याप्त एवं भ्रामक है।

---

1 तदेवं प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, 1.2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः 'मैत्री' शब्द का अर्थ पूर्णतया सकारात्मक है। मेरा मित्र वह है जो मेरी मदद करे। यहां सिर्फ अहित न करने की बात नहीं है, अपितु यहां हित करने की बात है। भ. महावीर ने कहा 'मित्ती मे सव्वभएसु वेर मज्झं ण केणइ' अर्थात् 'सब प्राणियों के प्रति मेरी मित्रता है। मेरा किसी के प्रति वैर भाव नहीं है।' यह मित्रता सबके प्रति स्नेह भाव की द्योतक है तथापि 'वेरं मज्झं न केणई' वाक्यांश के द्वारा वैर न करने का कथन अलग से किया गया है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि मैत्री सहायता करने के अर्थ में है।

संस्कृत में भी 'मिद् स्नेहे' धातु से मित्र शब्द बना है, जिसका अर्थ 'स्नेह भाव रखने वाला' होता है। इस प्रकार यह मैत्री सकारात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करती है। इस दृष्टि से भ. महावीर के अहिंसा सिद्धांत का पालन करें तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम किसी की मदद करें, किसी की सेवा करें।

जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य श्रमण परम्पराओं में भी अहिंसा का सकारात्मक स्वरूप स्वीकारा गया है। विशेष रूप से महायान बौद्ध दर्शन में महाकरुणा की बात बार-बार कही गई है। अनुकम्पा को वहां धर्म का मूल बताया गया है। भगवान् बुद्ध इस परम्परा के अनुसार यहां तक कह देते हैं कि मुझे मोक्ष नहीं चाहिए, ताकि मैं इस संसार में रहकर करुणा और दया के सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार कर सकूं। मित्रता के वाचक 'मेत्ति' शब्द का भी बौद्ध दर्शन में विशिष्ट महत्त्व है।

यहां यह भी कहना उचित होगा कि अहिंसा एवं मैत्री दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं जो भावना पर आधारित हैं। केवल स्थूल अहिंसा ही पर्याप्त नहीं है। यदि भावना रक्षा करने की रहते हुए किसी की हिंसा हो भी गई तो वह हिंसा 'हिंसा' की श्रेणी में नहीं आती। एक उदाहरण है जो अनेक बार दोहराया जाता है कि डॉक्टर किसी रोगी का आपरेशन उसे स्वस्थ करने के लिए करता है फिर भी यदि रोगी की मृत्यु हो जाय तो इसमें डॉक्टर को हत्यारा नहीं माना जाता।

मैत्री का क्रियात्मक पक्ष है सेवा। इसे अहिंसा का भी क्रिया-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्मक पक्ष कह सकते हैं । सेवा करने में हिंसा-त्याग के साथ प्राणी को अभयदान भी दिया जाता है । जैन आगम-साहित्य में अभयदान को श्रेष्ठ दान कहा गया है—दाणाण सेट्ठमभयप्पयाणं । जीव को भय से बचाना, उसे जीवन देना, सुरक्षा देना, करुणाशील व्यक्ति ही कर सकता है । निर्दय एवं निष्ठुर के मन में प्रायः ये भाव नहीं जागते । सेवक के हृदय में उदारता होती है । वह अपने सुख-दुःख की परवाह किए बिना दूसरे प्राणी का दुःख दूर करने में लग जाता है । वह अपनी सुख-सुविधा को भूलकर पर-दुःख हरण में तत्पर रहता है । जो दूसरों को जीवन प्रदान करता है, ऐसा सेवक भगवान् के तुल्य है ।

भगवान् महावीर ने कहा—

किं भंते ! जो गिलाणं पडियरइ से धण्णे उदाहु जे तुमं दंसणेण पडिवज्जइ ? गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? गोयमा ! जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेण पडिवज्जइ, जे मं दंसणेण पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइ त्ति, आणाकरणसारं खु अरहंताणं दंसणं । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जे गिलाणं पडियरइ से मं पडिवज्जइ, जे मं पडिवज्जइ से गिलाणं पडिवज्जई

आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीयावृत्ति, ६

इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि भगवन् ! जो दुःखी की सेवा करता है वह धन्य है अथवा आपकी सेवा में रहता है वह धन्य है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जो दुःखियों की सेवा करता है वही धन्य है ।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यों फरमाते हैं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! जो दुःखियों की सेवा करता है वह मेरे आज्ञापालन का सार है । वह मेरी आज्ञापालन करता है इसलिए मैं ऐसा कहता हूं कि जो दुःखियों की सेवा करता है वह मेरी सेवा (उपासना) करता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा के क्षेत्र में यह प्रश्न अनेक बार उठता है कि सेवा किस प्रकार की जाय ? इसके समाधान में एक बिन्दु तो यह है कि सेवा शुद्ध भाव से की जाय, अपने लाभ या स्वार्थ की भावना से नहीं। सेवा में दूसरों के हित की भावना हो, अपनी प्रशंसा आदि की कामना से की गई सेवा का लाभ पूरा नहीं मिलता है। आज यह परम्परा चल रही है कि नाम के लिए सेवा की जाती है, किन्तु यह उचित नहीं है। सेवा निष्काम होनी चाहिए। नाम सेवा न हो, निष्काम सेवा हो।

सेवा के बदले में कोई भौतिक पुरस्कार चाहना उचित नहीं। सेवा करने के पश्चात् सेव्य के चेहरे पर जो रौनक आती है, प्रसन्नता आती है और वह भाव व्यक्त करता है वही सेवा का सबसे बड़ा पुरस्कार है।

एक बार डॉक्टर मेहता शान्तिविजयजी म. सा. के पास गए, जो योगी थे। उन्हें निवेदन किया कि उन्हें ध्यान-क्रिया सिखायी जाय। शांतिविजयजी म. सा. ने उत्तर दिया कि वे सांसारिक हैं, डॉक्टर हैं। अत सेवा करके अपना जीवन सफल करें। डॉक्टर मेहता ने पूछा—सेवा किस प्रकार की जाय ? महाराज ने उत्तर दिया—सेवा माँ की तरह की जाय। माँ, पुत्र की लातें भी सहती है। उसी प्रकार सेवार्थी को समभावी भी बनना पड़ेगा।

सेवा के लिए आवश्यक नहीं है कि कोई बड़ा संगठन हो। सेवा घर से भी शुरू हो सकती है। माता-पिता, भाई-बहिन एवं अड़ोस-पड़ौस की सेवा करें। बड़े संगठन से जुड़कर सेवा की शुरुआत करने की बात सोचते रहना उपयुक्त नहीं। हम जहां रहते हैं, जहां काम करते हैं, सेवा वहां भी की जा सकती है।

एक कठिनाई जो सेवा में है वह है झिझक। रास्ते में कोई आदमी बेहोश हो गया। उसकी मदद करो तो भीड़ इकट्ठी हो जाएगी। दस-बीस लोग सवाल पूछेंगे। कई लोगों को यह घबराहट होती है कि ऐसी स्थिति में वे अनावश्यक रूप से ध्यान का केन्द्र बन जाते हैं। किन्तु सेवा करनी है तो झिझक हटानी पड़ेगी। सेवा करते समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे क्या समझेंगे ? इस झिझक की भावना को मिटाना होगा। दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से सम्बद्ध एक विदेशी व्यक्ति काम करता है। वह कुष्ठ रोगियों से हाथ मिलाकर उन्हें भोजन आदि देता है। उसे हाथ मिलाने में झिझक नहीं है। उसकी सेवा का आधार प्रेम है। उपेक्षित प्राणियों को यदि हम प्रेम दें तो बहुत बड़ा काम होगा।

जयपुर में क्रिस्टल रोजर्स का एक आश्रम है, जिसमें कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदि सब साथ ही रहते हैं। इस प्रकार सेवा-भावना से निर्भयता एवं प्रेम का वातावरण बनता है। मनुष्यों में ही नहीं, पशुओं में भी ऐसा वातावरण बनने का उदाहरण है वह आश्रम।

सेवा किसकी की जाय ? सेवा आदमी की, पशु की, पक्षी की या किसी भी छोटे-बड़े प्राणी की की जा सकती है। सेवा की जरूरत किसको अधिक है, कौन ज्यादा कठिनाई, अभाव या दुःख में है, उसके आधार पर प्राथमिकता निर्धारित करनी चाहिये।

आज के युग में साम्प्रदायिकता है, अनेक मतभेद हैं, किन्तु सेवा एक ऐसा भाव है जिसके कारण व्यक्ति इन सबसे परे निकल जाता है।

जैन विद्वानों में एक विचार यह चर्चित होता है कि सेवा या दान सुपात्र को देना चाहिए, कुपात्र को नहीं। मेरी समझ में देने वाले की भावना शुद्ध होनी चाहिए। कुपात्र एवं सुपात्र का परीक्षण प्रथम दृष्ट्या संभव नहीं है तथा यह दाता की भावना पर अंकुश भी लगाता है, जो कदापि उचित नहीं है।

सारांश यह है कि अहिंसा जो जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है, के दोनों ही अर्थात् नकारात्मक और सकारात्मक पहलू हैं। इस कथन का आधार केवल भावना नहीं है, अपितु शास्त्र हैं। अहिंसा को केवल नकारात्मक कहना और करुणा, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्रीभाव आदि को कर्म-बन्धन का कारण बताना शास्त्रों के अनुकूल नहीं है। जैन धर्म के मर्म को नहीं समझने के कारण उपर्युक्त भ्रामक विचारधारा उत्पन्न हुई है। यदि धर्म मानव को संवेदनशीलता से विरक्त करता है और मानव को पत्थर बनाता है तो वह धर्म 'धर्म' ही नहीं कहला सकता। यह केवल लौकिक धर्म की बात नहीं है, अपितु मूल शास्त्रों पर आधारित सिद्धान्तों के अनुसार सत्य है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा से आत्म-विकास

☐ श्रीमती सुशीला बोहरा

सामान्यत: 'अहिंसा' का तात्पर्य 'अ + हिंसा' अर्थात् हिंसा न करना यानि किसी जीव को प्राण रहित नहीं करना लिया जाता है। उसका सूक्ष्म अर्थ है किसी जीव को मन, वचन और काया से दु:ख न पहुंचाना। सकारात्मक पहलू इससे दो कदम आगे है। दु:ख न देना या न मारना ही नहीं, अपितु करुणा, दया एवं सेवा भी अहिंसा ही है। दु:ख देना या मारना जीव के विभाव भाव की परिणति है। जब मन में ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, मान, माया एवं लोभ की प्रवृत्ति अधिक तीव्र हो उठती है तभी दूसरों को मारने, ताड़ने या गालो-गलौच के लिए मुँह खलता है। अतएव यह सहज प्रवृत्ति नहीं, आत्मा का स्वभाव नहीं।

आत्मा का सहज स्वभाव :

आत्मा का सहज स्वभाव विषमता नहीं, समता है। आवेश नहीं, संतोष है। जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है, अग्नि के सन्निकट होने से वह गरमा जाता है, लेकिन आग का सान्निध्य हटते ही वह अपने स्वरूप में आ जाता है; वैसे ही जीव का स्वभाव सहज समत्व की भावना है। जहां समता का निवास है वहाँ विशुद्ध प्रेम का निर्झर ही बहेगा, जहां प्रेम का निर्झर बहेगा, वहां दान, दया, सेवा, प्रेम, मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ भावना युक्त मीठा सुस्वादु जल प्रवाहित होगा ही। अतएव जहां अहिंसा होगी वहां मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ भाव भी नियमत: वैसे ही होंगे जैसे सूर्य उदय होगा तो अन्धेरा मिटेगा ही और प्रकाश भी अवश्य होगा ही। उसी प्रकार करुणा के बिना अहिंसा की साधना नहीं हो सकती। किसी जीवन को बचाने/रक्षा के लिए पहले मन में करुणा के भाव होंगे तभी उस ओर प्रवृत्ति होगी। इसके अभाव में दूसरों के प्राणों की रक्षा दिखावा हो सकती है यथार्थता नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव अहिंसा का नकारात्मक नहीं सकारात्मक पहलू अधिक वजनदार है अथवा यह कहा जा सकता है कि सकारात्मक पहलू के बिना नकारात्मक पहलू का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सकारात्मक पहलू से तात्पर्य है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

सभी जीवों से मैत्री, गुणियों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणा तथा विरोधी के प्रति मध्यस्थ भावना रखनी चाहिए।

सेवा से स्वार्थ परमार्थ में परिवर्तित

सेवा तभी सम्भव है जब व्यक्ति में सब जीवों के प्रति मैत्री हो, दुःखियों के प्रति करुणा हो, दूसरों को सुख पहुंचाने के लिए स्वयं का सुख त्यागने की भावना हो। कबूतर की रक्षा करने वाले राजा मेघ-रथ के मन में करुणा फूटी, तभी अपनी जान की बाजी लगाकर भी उसको बचाने के लिए स्वयं तराजू में बैठ गए। मैतार्य मुनि की पीड़ा श्राविकाजी द्वारा सहन न होने से सहस्र पाक तेल की अन्तिम शीशी भी मुनि को सहर्ष दे दी। सेवा में स्व तिरोहित हो जाता है, स्वार्थ परमार्थ में बदल जाता है। उपाध्याय कवि अमर मुनिजी ने ठीक ही कहा है—

वही है जिन्दगी जो, नाम पाती है भलाई में,
खुदी को छोड़कर जो, पहुंच जाती है खुदाई में।
मिसाले बुलबुला है जिन्दगी, दुनिया ए फानी में,
जो तुझसे हो सके, करले भलाई जिन्दगानी में ।।

सेवा से राग-भाव तिरोहित :

निरन्तर सेवा कार्यों में रत रहने से भय भाव धीरे-धीरे क्षीण होने लगता है। ज्यों-ज्यों इसकी गहराइयों में व्यक्ति डुबकियां लगाने लगता है, त्यो-त्यों राग-भाव पतला व क्षीण होता जाता है। जैसे बिना फूले हुए गुब्बारे की दीवारें मोटी होती हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हवा भरी जाती है, उसकी दीवारें पतली होती जाती हैं और अन्त में वह फूट पड़ता है। राग-भाव को पतला करना ही संवर व निर्जरा में कारण है। यदि सेवा में राग-भाव पतला या क्षीण न होकर अहं-भाव बढ़ता है तो वह सेवा नहीं सौदा है। सौदा किसी भी तरह संवर-निर्जरा का कारण नहीं बन सकता। कहा भी है—

सुख-दुःख दोनों बसत हैं ज्ञानी के घट मांहि।
गिरिसर दोसे मुकुर में भार भोजबो नाहिं॥

अर्थात् जैसे दर्पण में पर्वत और तालाब दोनों दिखाई देते हैं, परन्तु दर्पण पर्वत से भारी नहीं होता और तालाब के जल से गीला नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानीजन/सेवाभावी सुख-दुःख से पीड़ित नहीं होते, वे दूसरों को साता पहुँचाने हेतु हंसते-हंसते दुःख को सहन करते जाते हैं, अतएव निःस्वार्थ भाव से की गई सेवा कर्म-बन्ध का कारण नहीं बनती, क्योंकि उसमें राग-द्वेष रूपी कषाय-भावों का संवर्द्धन नहीं होता। यदि इन क्रियाओं के प्रति कर्त्तव्य भाव एवं फल की आशा रूप राग-भाव पैदा हो जाय तो वह सेवा नहीं कुछ और ही हो सकता है।

सेवा में वसुधैव कुटुम्बकम् का भाव :

सेवाभावी व्यक्ति जाति, लिंग, भाषा एवं सम्प्रदाय के मोह में नहीं फँसेगा। उसके सामने हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन सभी समान होंगे। उन्हें साता/सुख पहुँचाना वह अपना दायित्व समझेगा। सब जीवों के प्रति समत्व की भावना उसका पाथेय बन जाएगा, ऐसा व्यक्ति भूखे को भोजन एवं प्यासे को पानी ऐसे ही पिलायेगा जैसे अपने स्वयं के पोषण के लिए सोचता है।

सेवा आदि कार्यों को परम्परावादी यह कहकर नकारना चाहते हैं कि इससे एकेन्द्रिय एवं चलते-फिरते प्राणियों की हिंसा की संभावना रहती है। हिंसा पाप है, कर्मबन्ध का कारण है। उनका यह सोचना एकांगी है। हिंसा जब संकल्पी होती है, करण और योग की विद्यमानता में होती है, तभी वह कर्मबंध का निमित्त बनती है। सेवा में हिंसा करने, कराने एवं अनुमोदन का लेशमात्र भी भाव नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता। अतः यह पापरूप एवं कर्मबंध का कारण वैसे ही नहीं हो सकती, जैसे रोगी का आपरेशन करते समय डाक्टर के हाथ से मरीज का पेट चीरा जाय। डाक्टर बचाने की भावना से रोगी का आपरेशन करता है। उस दौरान पानी व अग्निकाय के जीवों की हिंसा भी होती है, लेकिन डाक्टर की भावना मरीज को जीवनदान देने की है। इसलिए वह पापबन्ध का कारण नहीं हो सकती। मदर टेरेसा दीन-दुःखियों, बीमारों व कोढ़ियों को आश्रम में लाकर उनकी स्वयं सेवा करती है एवं दूसरों से करवाती है। क्या ऐसे दीन-दुःखियों की सेवा करना पापबन्ध का कारण हो सकता है....? कभी नहीं।

सेवा निर्जरा का कारण है :

तप से निर्जरा होती है—'तपसा निर्जरा च' (तत्त्वार्थसूत्र, 9.3) 12 प्रकार के तप में 'वैयावच्च' नवम तप है, जिसका अर्थ है सेवा करना। उत्तराध्ययन सूत्र में अन्यत्र वैयावृत्य से तीर्थङ्कर नाम गोत्र के बन्ध का भी उल्लेख है, यथा—

वेयावच्चेणं भन्ते ? जीवे किं जणयइ।
वेयावच्चेण तित्थयर-नाम-गोत्त-कम्मं निबंधई ॥

अर्थ—हे भगवन् वैयावृत्य-सेवा से क्या फल होता है ? वैयावृत्य से जीव तीर्थङ्कर नामकर्म का उपार्जन करता है।

सेवा से निर्जरा किस प्रकार होती है इसका हम एक उदाहरण लें। अरिष्टनेमी ने बारात के भोजन हेतु वध किए जाने वाले पशुओं के बाड़े को खुलवाकर सब पशुओं को अभयदान दिया। इससे अरिष्टनेमी के कर्मों की निर्जरा का ही अधिक प्रसंग बना। रक्षा करने वाले या सेवा करने वाले का यह भाव कदापि नहीं होता कि यह जीव बचकर पाप करे। यदि किसी जीव को बचाने पर उसके द्वारा आगे होने वाले पाप का कारण उसके रक्षक को माना जाय तो भगवान अरिष्टनेमी द्वारा शादी के मौके पर मांसाहारी भोजन बनाने के लिये लाये पशुओं के बाड़े को खोलकर उन्हें मुक्त नहीं कराया जाता। अतः दया, करुणा आदि को बंध का कारण नहीं माना जा सकता। वैयावच्च (सेवा) का तात्पर्य साधु की सेवा तक ही नहीं, प्राणी मात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सेवा तक व्यापक है। दीन दु:खियों की सेवा करने वाला समय आने पर संघ एवं साधु की सेवा नहीं करेगा, यह हो नहीं सकता।

आदरणीय सेवामूर्त्ति डी आर. मेहता साहिब ने दीन-दु:खी एवं विकलाँगों की सेवा का बीड़ा उठाया, इससे हजारों लोग लाभान्वित हो गये। जिसके पैर नहीं थे उनके कृत्रिम पैर लग गये, हाथ नहीं थे उनके कृत्रिम हाथ लग गये और वे रोजगार कर अपने पैरों पर खड़े हो गए। भारत ही नहीं देश-विदेश के लोग निहाल हो गये। यह मानवता की सेवा हुई।

आगम-साहित्य में भी भ. महावीर के द्वारा कहा गया है—

जे गिलाणं पडियरई, से मं दंसणेण पडिवज्जइ। जे मं दंसणेण पडिवज्जइ, से गिलाणं पडियरइ त्ति। आणाकरणसारं खु अरहंताणं दंसणं।

आवश्यकसूत्र, हारिभद्रीया टीका

अर्थ—जो ग्लान या आतुर की सेवा करता है, वह मुझे सेवता है, जो मुझे सेवता है वह ग्लान की सेवा करता है। यही अरिहंतों की आज्ञा-पालन का सार है।

तुलसीदास ने भी परहित के समान अन्य किसी भी धर्म का महत्त्व नहीं माना है।

परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
परपीड़ा सम नहीं अधमाई॥

भागवत में सेवा को कलियुग का धर्म माना है। ईसाई धर्म भी विस्तार इसलिए पा सका कि उसने भूखे को भोजन एवं प्यासे को पानी दिया तथा दीन-दु:खियों को गले लगाया। एक व्यक्ति पीड़ा से कराह रहा है। दूसरा व्यक्ति आया वह उसे स्वाध्याय-ध्यान की प्रेरणा देने लगा, तीसरा आया वह उसकी सेवा-सुश्रूषा में लग गया। इस समय कौन उसे पीड़ा मुक्त कर रहा है, कौन उसे शान्ति प्रदान कर रहा है? कहा भी है—भूखे भजन न होय गोपाला, पकड़ो आपकी कंठी एवं माला।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा से चित्त शुद्धि :

शरणानन्दजी के मत में 'प्राकृतिक' नियम के अनुसार वस्तुओं का सदुपयोग व्यक्तियों की सेवा में है और व्यक्तियों की सेवा उनसे 'सम्बन्ध' विच्छेद कराने में समर्थ है । इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुओं के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना और किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है । जो प्राणी व्यक्तियों से सुख की आशा करता है, वह व्यक्तियों की सेवा नहीं कर सकता और न उनकी ममता से ही रहित हो सकता है । सुख देने की भावना में ही सुख की आशा का त्याग निहित है । सुख की आशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने में समर्थ है । सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वत: शान्त हो जाता है । चित्त की शान्ति चित्त को स्वयं शुद्ध कर देती है और चित्त की शुद्धि से चित्त स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही बड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध हो जाता है अथवा चित्त स्वत: अपने अधीन हो जाता है ।

अतएव अहिंसा दिखावा नहीं आन्तरिक वृत्ति को करुणामय बनाने का दर्शन है । जिसकी अन्दर की वृत्ति अहिंसक हो गई वह किसी को मार ही नहीं सकता, किसी को कष्ट दे ही नहीं सकता, चाहे उसे जीवन दांव पर ही क्यों न लगा देना पड़े, उसके लिए अहिंसा स्वभाव बन जाती है । गोयनकाजी के शब्दों में—

देख दु:खी करुणा जगे, देख सुखी मन मोद ।
सबके प्रति मैत्री जगे, रहे समत्व का बोध ।।

—परियोजना निदेशक
जला महिला विकास अभिकरण, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा-गीत

□ डॉ. नरेन्द्र भानावत

सेवा आत्मा का विस्तार ।

(1)

जग में हैं जितने भी प्राणी,
उन सबके मन और भाव हैं ।
जैसा मैं सुख-दुःख अनुभवता,
वैसा ही उनका स्वभाव है ।।

उनके सुख-दुःख में सहभागी,
बनकर करूँ सभी को प्यार ।
सेवा आत्मा का विस्तार ।।

(2)

भूखों को भोजन नसीब हो,
तृषितजनों को निर्मल पानी ।
रोगी को औषध मिल जाये,
भीतजनों को निर्भय वाणी ।।
जो जड़ता में मूर्छित-बन्धित,

खोलूँ उनके चेतन द्वार ।
सेवा आत्मा का विस्तार ।।

(3)

सेवा सौदा नहीं, हृदय का,
सहज उमड़ता अमित स्नेह है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो इसमें रमता उसके हित,
सारी वसुधा परम गेह है ।।

सेवा का सुख शाश्वत, स्वाश्रित,
उसमें किंचित् नहीं विकार ।
सेवा आत्मा का विस्तार ।।

(4)

सेवा से सब मल गल जाते,
नयी शक्ति नव तेज निखरता ।
आत्म-गुणों का सिंचन होता,
दुःख-दरदों का जाल विदरता ।।

सेवा से बनते परमातम,
दुर्लभ नर जीवन का सार ।
सेवा आत्मा का विस्तार ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान, दया का एकांत निषेध खतरनाक

☐ पं. बेचरदास दोशी

स्वयं को जैन परम्परा के मानने वाले कितने ही लोग गृहस्थों को 'मोह भाव' का डर बताकर शुभ प्रवृत्तियों के करने का निषेध कर रहे हैं और मानवता का आधार रूप परोपकार, दान, दया व दुःखियों के देखने से आती 'अनुकम्पा' जैसी शुभ प्रवृत्तियों को अनर्थ (मोह बन्ध) का कारण बता रहे हैं।

सिर में जुएँ पड़ती हैं इसलिए सिर स्वच्छ रखने का प्रयत्न करने के बदले सिर को ही काट डालना—ऐसी यह मान्यता है। इस कार्य में वीतराग संयम शक्य नहीं है। इसमें क्या सराग संयम की आराधना नहीं करनी है ? निर्मोही दया-करुणा-अनुकम्पा शक्य न हो तो क्या दया, करुणा नहीं करनी चाहिए।

यथार्थता तो यह है कि समोह स्थिति में रहते हुए सद्गुणों के आचरण की आदत डालने से धीरे-धीरे अनासक्त दशा तक पहुंचा जा सकता है। किसी मनुष्य को महल पर चढ़ाना हो तो सीढ़ी के आश्रय के बिना चढ़ सके, ऐसा नहीं होता है। इसलिए उसे सीढ़ी का आश्रय लेकर चढ़ना होता है। इसी प्रकार विशुद्ध धर्म के महल के ऊपर चढ़ने के लिए शुभ प्रवृत्तियां सीढ़ी के रूप में हैं। जो इन शुभ प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं वे सीढ़ी के बिना ऊपर चढ़ने की बातें करते हैं।

(गुजराती से हिन्दी रूपान्तर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवा में सदुपयोग

☐ श्रीमती प्रसन्ना भंडारी

अहिंसा मानव जीवन की उस सकारात्मक शक्ति का नाम है जो मानव को अपनी क्रियाशक्ति का सदुपयोग करके राग-निवृत्ति या जीवन-मुक्ति की ओर अग्रसर करती है। सदुपयोग करने का विचार आते ही मानव को सेवा करने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि केवल सेवा ही वह तत्त्व है जो करने का राग गलाकर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से अतीत के जीवन में उसका प्रवेश कराती है। उस जीवन की प्राप्ति ही मानव मात्र की मौलिक मांग है।

वीतराग पुरुषों का फरमाना है कि जीवन में भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यदि क्रिया शक्ति का उपयोग भोग में होगा तो रोग और शोक अवश्यम्भावी हैं जो किसी को भी पसन्द नहीं है। अतः स्वाभाविकता रोग और शोक में नहीं, योग और बोध में है जिनकी प्राप्ति प्राप्त-शक्ति का सदुपयोग करने पर ही हो सकती है।

सेवा कर्म बन्धन का कारण नहीं

कतिपय दार्शनिकों का मत है कि सेवा-कार्य कर्म-बन्धन का कारण बनते हैं। जैसे कुकर्म करने से मनुष्य को पाप बन्धन होता है, वैसे ही सुकर्म करने से उसे पुण्य-बन्ध होता है। एक को लोहे की बेड़ी बताया है तो दूसरे को सोने की बेड़ी। हैं दोनों बन्धन ही। यह मत युक्ति-युक्त नहीं है।

पहली बात तो यह है कि प्राप्त शक्तियों का उपयोग करना मानव मात्र के लिए अनिवार्य है अन्यथा वे नष्ट हो जावेंगी। इसलिए वह उनका उपयोग सुकर्म में करे। दूसरी बात यह है कि मानव को जो भी शक्तियां मिली हैं वह प्राकृतिक देन है, उसकी स्वयं की उपज नहीं है। वे शक्तियां उसके पास धरोहर के रूप में हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए वीतराग सन्तों ने फरमाया है—'संगृहीत सम्पत्ति निर्धनों की धरोहर है और संगृहीत बल निर्बलों की धरोहर है।'

विवेक का तकाजा है कि मानव धरोहर का दुरुपयोग न करे। जिनकी वह धरोहर है उनके निमित्त ही उनका उपयोग करे। ऐसा उपयोग सेवा कार्य से ही हो सकता है। किसी भी कारण से दुरुपयोग किया तो वह मानसिक-द्वन्द्व के मकड़ जाल में फंस जाएगा जो उसे स्वयं पसन्द नहीं है। अतः यह युक्ति-युक्त है कि वह उनका सदुपयोग करे। सदुपयोग करने पर ही वह संगृहीत धरोहर के कर्ज-भार से मुक्त होगा और करने के राग से मुक्ति भी उसे तभी मिलेगी। यही उसकी मौलिक मांग भी है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सेवा कर्म बन्धन का हेतु नहीं है, प्रत्युत वह मुक्त जीवन की ओर अग्रसर करती है अर्थात् सकारात्मक अहिंसा पाप का क्षय करने वाली एवं शांति-मुक्ति दिलाने वाली है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव मात्र के लिए आदर

विश्व की महान् विभूति अलबर्ट स्विट्जर ने विश्व के तमाम दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन करके एक परम उत्कृष्ट सिद्धांत हमें दिया है—'रेवरेन्स फार लाइफ' जीव मात्र के लिए आदर। स्विट्जर कहता है—किसी भी व्यक्ति को सदाचारी या धार्मिक केवल तभी माना जा सकता है, जब उसके भीतर सतत यह प्रेरणा होती रहती है कि मैं जीव मात्र की यथा शक्ति सेवा करूं और किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का क्लेश न पहुंचाऊं। उसके लिए प्रत्येक प्राणी का जीवन पवित्र है। वह किसी वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ता, कोई फूल नहीं तोड़ता। वह इस बात का ध्यान रखता है कि उसके पैरों तले कोई जीव कुचल न जाय। गर्मी के दिनों में रोशनी से यदि वह काम करता है तो वह खिड़की बन्द करके उमस में बैठना कबूल करता है, बजाय इसके कि पतंगे बाहर से आ-आकर मेज पर शहीद हों।

इस 'रेवरेन्स फार लाइफ' में—जीव मात्र के लिए आदर में—धर्म का सारतत्त्व प्रेम और करुणा ऊपर से नीचे तक ओतप्रोत है। यह प्रेम मानवमात्र के लिए ही नहीं प्राणीमात्र के लिए है। पशु और पक्षी, कीट और पतंग कोई भी उससे अछूता नहीं रह सकता।

स्विट्जर का कहना है कि 'रेवरेन्स फार लाइफ' का पुजारी हर काम को इस कसौटी पर कसेगा। वह सोचेगा कि मुझे अपने जीवन, अपनी सम्पत्ति, अपने अधिकार, अपने आनन्द, अपने समय और अपने सर्वस्व का कितना अंश दूसरों को अर्पित कर देना है और कितना रखना है। वह यदि प्रसन्न है तो अपने आपसे प्रश्न करेगा कि तुझे स्वास्थ्य, प्राकृतिक अनुदान, कार्यक्षमता, सफलता, सुन्दर बाल्यावस्था, उत्तम पारिवारिक परिस्थिति आदि बातों में अन्य लोगों की अपेक्षा जो अधिक सुविधा प्राप्त है, उसे तुझे यों ही सहज मानकर स्वीकार नहीं कर बैठना चाहिए। तुझे जीवन के लिए सामान्य से अधिक आदर व्यक्त करना चाहिए। जिसे अधिक मिला है वह अधिक त्याग करे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा की प्रक्रिया में जीवन के प्रति आदर की यह भावना अनिवार्य है। शरीरमात्र को, फिर वह अपना हो या पराया, पवित्र मंगलायतन मानना इसकी पहली सीढ़ी है। यों शरीर की पवित्रता तो न्याय भी स्वीकार करता है पर अहिंसा का पुजारी न्याय को परे रखकर गांधी के शब्दों में कहता है "मेरा धर्म न्याय नहीं, करुणा है।"

संकलित

□

बलिदान-सेवा-चैरेटी

□ श्री महादेव भाई

सेक्रिफाइस (बलिदान) का सच्चा अर्थ यह है कि हम इसलिए मर जायें कि दूसरों को जीवन प्राप्त हो, हम कष्ट उठायें ताकि दूसरों को आराम मिले।

दूसरों के लिए प्राण अर्पण करना प्रेम की पराकाष्ठा है और उसका शास्त्रीय नाम अहिंसा है अर्थात् यों कह सकते हैं कि अहिंसा ही सेवा है।

हिन्दी नवजीवन 15-9-27

'दया' और 'चैरिटी' इन दोनों शब्दों का धात्वर्थ एक जैसा ही है। दया में धातु 'दय्' है जिसका अर्थ होता है प्रेम करना, प्रिय मानना। इसी से दयिता (प्रिया) शब्द निकला है और चैरिटी के मूल में भी लेटिन 'केरस' प्रिय है। इसलिए जिसके प्रति हमारे मन में चैरिटी हो, दया हो, उसके लिए हमारा हृदय प्रेम से द्रवित होना ही चाहिए।

अहिंसा और सत्य, पृष्ठ 246

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Positive Contents of Jinism[1]

□ **Joharimal Parakh**

While introducing his famous book गीतारहस्य अथवा कर्म-योगशास्त्र Lokmanya Tilak has vividly described how his mind used to revolt when he started reciting Srimad Bhagwad Geeta for his aged sick father. He could not agree with the traditional commentators of Geeta that its principal and only prescription is renunciation of activity. Similarly while reading Jain scriptures some such identical becomes my mental state of affairs qua the interpretation of true nature of Jain Philosophy, because the long established view point is that Jinism mostly teaches abstainment from activity. Sir, whether this charge of negativism is proved against Geeta or not, is a separate question, but with all humility it can be said that it does not survive as far as Jinism is concerned. Therefore, the theme of today's talk is to establish that even as per the strict canonical view point Jain religion and its philosophy are much more positive than negative. I may be excused for doing this advocacy entirely on the basis of Jain Agamas because much credence cannot and should not be given to the words of non-omniscients of the later age.

The various schools of religious thoughts have been classified into four main groups viz., (i) क्रियावादी (Activists); (ii) अक्रियावादी (Non activists or passives); (iii) विनयवादी (Devotionals-bhakti margees) and (iv) अज्ञानवादी (Nescients).

Jains take a very definite position that a mundane self

---

1 Talk delivered on 21st November 1982 at the meeting of Mahaveer International, Jodhpur (Rajasthan)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

goes on acting incessantly till it attains salvation and it obviously means that they fall in the group of Kriyavadi philosophies. The proposition should not be challanged by any one. In very unambigous terms it has been clearly declared just at the outset-first lecture of the first chapter of the first book of the first (& the foremost too) canon "Acharanga" (the name itself suggests prime importance of action) से आयावादी, लोगावादी, कम्मावादी, किरियावादी and with reference to the setting as well as literally, the term Kriyavadi without any doubt denotes one who knows, believes in and carries out activity. Please realise the implication of the separate distinctive and equal status given to Kriyavad by Jains alone-others have mixed up Karmvad and Kriyavad. The same thing is repeated subsequently in chapter 9(i) (16) of Acharanga दुविहं समिच्च मेहावी किरिमक्खाय अणेलिसं नाणी is that omniscient intellectual gaint Mahavir, knowing fully well has made a unique preposition of activity in two varieties. Then it has been prescribed for a monk to recite twice a day that किरियं उवसंपज्जामि, अकिरियं परियाणामि which means "I accept-enter into activity and refrain-denounce inactivity" (पग्गाम सज्झाय)

Having made the positive pronouncement that Jinism is a philosophy of activity, the other three remaining philosophies have been specifically rejected. Akriyavadi i.e. one who believs in activity has been severely criticised at more than one place :—

लवाव संकीय अणागएहिं
णोकिरियमाहंसु अकिरियवादी ।।

Afraid of bondage and future etc. Akriyavadees propound inactivity [Sutrakritanga I, 12(4)]

जेकेई लोगंमिउ अकिरिय आया,
अन्नेणपुट्ठा धुयमादिसंति ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरंभसत्ता गढिता य लोए,
धम्मं न जाणंति विमोक्खहेउं ।। 16 ।।

People who believe in self inactivity, still when confronted by others concede its liberation; being deeply involved in voilence etc. and entirely engrossed in wordly objects, they do not know the duties which lead to salvation [Sootrakritaanga I. 10(16)]

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जइ ।
एवं अकारओ आया, एवं ते उ पगब्भिया ।। 13 ।।

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिआ ?
तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभणिस्सिया ।। 14 ।।

Some talk loosly that in doing or getting a thing done and while in all activity, self is not present and in this manner, self is totally inactive. How can there be roamings in this world as per these people (i. e. cannot). These fools involved in fierce deeds proceed from bad to worse.

[Sootrakritaanga, I, 1, (13, 14)]

समिस्स भावं च गिरा गहिए, से मुम्मई होई अणाणुवाइ ।
इमं दुपक्खं इममेग पक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ।। 5 ।।

ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियवाई ।
जे माइयत्ता बहवे मणुस्सा, भमंति संसारमणोवदग्गं ।। 6 ।।

णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायतो वा ।
सलिला ण सदंति, ण वंतिवाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए ।। 7 ।।

जहा य अंधे सह जोतिणावि, रूवाइं णो पस्सति हीणणेत्ते ।
संतंपि ते एवं अकिरियवाई, किरियं ण पस्संति विरुद्धपण्णा ।। 8 ।।

Being ignorant, these Akriyavadees make all types of jumbled statements and use ambiguous language and be-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

coming confused and unable to reply, have to keep mum. At times, they take both the sides and contradictory stands unknowingly, and approve of activity in disguise. Many a people who believe this, whirl round endlessly in this world. For them, there is neither sunrise or sunset, nor waxes or wanes of Moon, nor flowing of water, nor blowing of winds in this unreal and absolutely actionless entire world. Like a blind man, who though with lamp, can not see anything in the absence of eyesight, these Akriyavadees also due to perverse intellect cannot perceive activity though a reality [Sootrakritaanga, I. 12 (5-8)]

Similarly, people engrossed only in bhakti (quite different from enlightened faith in Fundamental Truths) for their salvation and doing nothing else have also been disapproved.

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहरंता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणइंसु णाम ।।
अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासाइ अम्हएव ।।

Many a person who are Vinayavadees think truth as untruth and bad as good or vice-versa and when asked, always uphold bhakti. For want of real knowledge they see their salvation in bhakti alone [Sootrakritaanga I, 12 (3,4)]

So also Ajnanavadi (Nescient) philosophy has been totally rejected and reference can be made to Sootrakritaanga I, 1(41-46), 12(2) & 14(12,13)

Thus it is clear beyond doubt that Jains have opted for Kriyavad [परसमय अकिरिया (inactivity is non-Jain)-Anuyogdvara 525(3)] and insist on putting knowledge into action -आहं सु विज्जा चरणं पमोक्खं [Sootrakritaanga I, 12(ii)] Bhagvati Sootra 25(7) and Aupapatika 20 prescribe that Kriyavadees should be given all respects and that people born in Karmbhoomi (i.e. land full of activity) alone can attain liberation.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Dasashrutaskandha also disapproves Akriyavad and highly praises Kriyavad [See chapter 5(3, 14, 16) and chapter 6 (13, 15)]. The following authorities be quoted to crystalize this position.

(i) अलेस्सा (ii) सम्मदिट्ठी (iii) णाणी जाव केवलणाणी (iv) णो सण्णोवउत्ता (v) अवेयगा (vi) अकसायी (vii) अजोगी—किरियावाई, णो अकिरियावाई, णो अण्णाणियावाई, णो वेणइयावाई ।

किरियावाई—(i) णो कण्हपक्खिया (ii) णो मिच्छादिट्ठी (iii) णो सम्मामिच्छा दिट्ठी (iv) णो अण्णाणि जाव विभंगणाणी (v) णो विगलेंदिया (iv) णो अभवसिद्धिया (vii) णो णेरइयाउयं; तिरिक्खजोणियाउयं भवणवासी-वाण-मंतर-जोइसियदेवाउयं णो पकरेंति (viii) मणुस्साउयं पि वेमाणियदेवाउयं पि पकरेंति ।

(Bhagvati Sootra 30-1 Summarised)

Kriyavadee alone can attain the high stages of (1) pure uncoloured intellectual apparatus; (2) enlightened vision & faith; (3) true knowledge of 5 types; (4) urgelessness; (5) beyond biological feelings; (6) passionlessness and (7) freezing of mind, body and speech a moment before the end of wordly life, but not the Akriyavadee, Vinayavadee and Ajnanavadee. (1) Kriyavadee's world roaming is not unlimited–it is just near the end. He does not have, (2) wrong or perverse faith, (3) mixed and corrupt perceivements, (4) nescience or distorted knowledge, (5) birth in one sense to four sense bodies, (6) the nature of nonemancipation (अभव्यता). (7) He is immune from age bondage which leads to the hell or animal species or lower categories of heavans like Bhavan-vasi (Asuras), Vanmantar (evil spirits) or astronomical gods (sun, moon, star & nakshtra); instead (8) he is born as a human being or in high class planedparadises. Whereas the cases of Akriyavadees, Vinayavadees and Ajnanvadees for all the above 1 to 8 clasess are/can be different.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

So far we have established that Jains fall in the group of Kriyavadi philosophies but that does not amount on their part to the full endorsement of all other schools of Kriyavadi thought falling in this group. Amongst Kriyavadees also there are various perverted sects and stray adverse remarks found in canons should be read in that context. For example some say that activity does not result in bondage [Sootrakritaanga I, 1 (51)] while others maintain that activity alone without knowledge is sufficient for Moksha or liberation [Sootrakritaanga I, 10 (17)] still some insist that all the 5 ingredients viz., (i) a being; (ii) his knowledge; (iii) killing mentality; (iv) deliberate efforts and (v) resultant death are simultaneously necessary or rather compulsory for bondage to take place. But all these view points have been commented upon and have been discarded.

जाणं काएण अणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेदइ परं अवियत्तं खु सावज्जं ।। 52 ।।

संतिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसाय, मणसा अणुजाणिया ।। 53 ।।

एतेउ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भाव विसोहिए, निव्वाणमभिगच्छइ ।। 54 ।।

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कमुम्णा नोवलिप्पई ।। 55 ।।

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जई ।
अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुढचारिणो ।। 56 ।।

[Sootrakritanga I, 1(52-56)]

Argument : The sin of those who simply intend but in fact do not kill or who commit violence unaware is insignificant—just a touch of bondage.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Reply : No, there are 3 equally powerful distinct modes of committing sin viz., by doing, by getting it done and by approving of it.

Argument : Though these three modes of committing sins are there, yet due to purity of sentiments, one byepasses the bondage, e. g. A father, devoid of contraction (संयम) but in wise state, kills his own son and eats the flesh, even then he is not bound by Karma.

Reply : This is a false proposition, because inlets of sins have not been closed by him If one has an idea of malice, his mind cannot be said to have emotional purity.

This preliminary survey clearly reveals that premises of Jinism have been firmly laid on the active spiritual base of kriyavad. Let us now study the strong adifice of activity built upon that foundation.

The debate of Pravriti i. e. to act and Nivriti i. e. to abstain from action is as old as anything (Shankar Bhasya on Geeta, page 1). The discussion on this problem has been exhaustively raised at the beginning of 8th chapter of 1st book of Sootrakritaanga. The questions posed are whether religion consists in activity or it amounts to non activity—whether one should exert in actions or his efforts should be to renounce them. Bhagvan Mahaveer, characteristic of his style, replies that choice is not between activity and no-activity but one has to choose between the various courses of activity open to him. A hermit, who has renounced actions physically, may still be pramadi (meaning of the term will be explained hereinafter) and thereby incurring bondage, whereas a person, who appears to be acting but not pramadi may not become bound by these actions. By stopping, and not by allowing, the inflow of Karmic matter one becomes liberated न कम्मुणा कम्म खवेंतिबाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा, मेधाविणो लोभ मयावतीता संतोसिणो नो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पकरेंति पावं । [Sootrakritaanga I, 12 (15)]. As the proposition is very important let us read the text :

दुहा चेयं सुयक्खायं, वीरियंति पवुच्चइ ।
किं नु वीरस्स वीरतं ? कहं चेय पवुच्चई ? । ।।

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं जेहिं दीसंति माच्चिया ।। 2 ।।

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावा देसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ।। 3 ।।

× ×

एवं सकम्मवीरियं बालाणं तु पवेदितं ।
इत्तो अकम्मवीरियं पंडियाणं सुणेह मे ।। 9 ।।

Two types of exertions have been propounded, what is exertion of bold and why is it so called ? Some say that one should exert, do activity, while others say that one should try hard to renounce all actions. People are seen divided into these two classes. But Bhagvan has said that (an actionless) pramadi incurs bondage whereas the position of an active but not pramadi may be otherwise. Therefore, the exertion which leads to bondage is wrong and one which does not lead to it, is desirable x x x Exertion of ignorants which results in bondage has thus been described, now hear the exertion of wise, which does not result in bondage but annihilates it.

Sootrakritaanga I, 8 (1-3; 8-9)

With all humility we bow to the above clearcut straight-forward solution of the problem which has engaged the pundits all over and all along. It is pitty that an intelligent man like Shankaracharya missed this analysis and took the extreme position of renunciation from all activity.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Again we owe to Jinism that pramad has been put on a doctrinal plane (पंच आसवदारा--मिच्छतं, अविरति, पमादो, कसाया जोगा (Thananga 418, Samvayanga-5) According to them pramad is an independent cause of bondage and even if present singularly all alone is sufficeint enough to attract inflow of Karmik matter in the soul region --the remaining four causes viz., Mithyatva, Avirati, Kasaya and Yoga need not be present. Pramad is a special term of Jain vocabulary and has been classified by Thananga 502 (छविहे पमाए पण्णते-मज्ज, णिद्द, विसय, कसाय, जूत, पडिलेहणा) This merely enumerates the characteristics of pramad, does not define it exhaustively or exclusively. Though the full and comprehensive meaning & implications of this word can be a subject matter of research yet suffice for our present purpose to say that pramad clearly includes the following—carelessness, lethargy, inactivity, laziness, unalertness, nonvigilance, inattentiveness, sleep, slowness, nonutilisation of spiritual faculties & bodily talents, mental passiveness, wastage or killing of time, notion of carefree enjoyment of wordly pleasures etc. etc. and we should be away from all these. In urdu we can translate pramad as मौज् । प्रमता:=सुखिन:—Shilanka Acharanga, 134.

The above exposition vis-a-vis activity finds full support in the following: समयं गोयम मा पमायए । O Gautam ! do not remain in pramad even for a moment (Uttaradhyayan 10th chapter).

तिहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे संसारकंतार वीईवएज्जा, तं जहा-अणिदाणयाए, दिट्ठीसंपण्णयाए, जोग वाहियाए (Thananga 136)

A monk having no demands, enlightened perception and right active life schedule crosses the world forest (Demand=निदान)

अपुरक्कार मएणं जीव अपसत्थेहिंतो जोगहिं तो णियतेइं, पत्सथे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपडिवज्जइ । पसत्थे जोग पडिवण्णे य ण अणगारे अणंत घाड़ पज्जवे खवेइ ।
Uttaradhyayan 29 (7)

By self sublimation one removes himself away from bad occupations and activities and engages himself in good ones and thereby the monk annihilates boundless fierce bondage.

किरियं च रोयए धीरे, अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठिये दिट्ठी संपण्णे, धम्मंचरसु दुच्चरे ।।

[Uttaradhyayan 18 (33)]

Perseverant one should like activity and not remain inactive. With the perception, the wise should persue the difficult path of religion.

जे अहम्मिया, अहम्माणुया, अहम्मिहा, अहम्मक्खाई, अहम्मपलोई, अहम्मपलज्जमाणा, अहम्मसमुदायारा, अहम्मेण चेव वितिकप्पेमाणा विहंति—एएसिणं जीवाणं सुत्ततंसाहू, दुब्बलियतं साहू, आलसियतं साहू । जे इमे जीवा धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मपलज्जमाणा धम्मसमुदायारा, धम्मपलोई, धम्मेण चेव वितिकप्पेमाणा, एएसिणं जीवाणं जागरियत्तं साहू, बलियतं साहू, दक्खतं साहू ।

एए णं जीवा जागरा, बलिया, दक्खासमाणा बहूणं पाणाणं, जीवाणं, भूयाणं सत्ताणं अदुक्खणवाए, असोयणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपीडणयाए, अणुदव्वणयाए, अपरियावणयाए वट्टंति; अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा बहूहिं धम्मियाहिं संजोयणाहिं संजोएत्तारो भवंति; धम्मंजागरियाए अप्पाणं जागरइतारो भवंति, दक्खासमाणा बहूहिं आयरिय, उवज्झाय, थेर, तवस्सी, गिलाण, सेह, कुल, गण, संघ साहम्मिय वेयावच्चेहिं अत्ताणं संजोएतारो भवंति ।

[Bhagvati Sootra 12 (2) 18 to 20]

It is better that people, who are irreligious, (ii) propagate irreligion, (iii) do not follow religion, (iv) dislike it, (v)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

are interested and engrossed in non-religion, (vi) act irreligiously, (vii) and earn their livelihood by such acts, remain asleep, powerless and lazy; whereas for those persons, who are religious, followers of it, aspirers of it, propounders of it, interested and engrossed in it, actively religious and earn their livelihood by religious means, it is better to remain awake, powerful and active. Because by remaining so, they contribute towards the removal of pains, sorrows, sadness (distress), tears, troubles, unhappiness and sufferings etc. of many a being, engage themselves or others or both in various religious plans and programmes; by remaining religiously awake, they keep their selves always alert and by remaining active they keep themselves always engaged in serving preceptors, teachers, old senior and learned monks, austeres, sick, learners, groups, sects, sangh (church organisation) and co-religious people.

The Acharangasootra insists times out of number on intense efforts by the aspirants of Moksha (see I 78, 97, 111, 157, 173, 195, 155, 129) and so also Sootrakritaanga [See I, 2 (11, 38), 6 (9), 8 (11) 11 (35), 15 (22)] in Acharanga alone the hammer has fallen heavily 17 times directly plus many a time indirectly on pramad (see I-33, 65, 85, 106, 107, 108, 109, 123, 152, 156, 197, 280, 281, 282, 321)

Inspite of that, some people take a purely technical stand and say that every activity means bondage and hence should be avoided. But surely it is a suicidal view, totally disregards the bright avenues open in this human life and closes all doors of spiritual progress entirely on theoritical grounds. These impractical people forget the more important principle that unless one makes efforts with full vigour, he cannot free himself from bondage. Undisputedly, there is no other way to Moksha except our own activity—others cannot carry us to that state. Neither Bhagvan Mahaveer could do anything in this respect for his first

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

disciple Shri Gautam Swami nor Bhagvan Krishna could oblige his fast friend Arjun. Some people talk of Moksha simply by knowledge but it is universally admitted that Jains give more importance to activity which is compulsory as per these doctrines. Just suffice to quote very high authority of Acharanga—जे अणुवरता विज्जाए पलिमोक्खमाहु, आवट्टं अणुपरियट्टंति त्तिबेमि (I, 151)=those devoid of religious activities, maintain that Moksha can be attalned simply by knowledge, cannot cross the birth cycle of this world. To draw the anology of words—keep on moving—(go on doing) is dharma and remaining stationary (not doing anything) is adharma. In fact activities are indispensible and so says Acharanga-I (1) इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण माणणपूयणाए, जाई मरणमोयणाए, दुक्ख पडिघाय हेउं। In order to sustain this life, in order to perform pooja yajna etc., in order to attain release from birth and deaths and in order to remove pains, activity is essential—we can not do without it.

But apart from necessity and desirability or otherwise, the most important point is that all throughout his life, one, even if he so wants, cannot remain even for a moment, without yoga i.e. business of body, mind and speech, except for a negligible period of a few seconds just before the final emancipation. Geeta also supports this doctrine in 3 (5) and 18 (11) and recites that नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माणि अशेषतः। so even if conceding that activity results in bondage, one cannot remain without it. Thus declares Acharanga-I-110 अकम्मस्स ववहारो न विज्जई we can not do (away) without activity and, therefore, parijna has been prescribed तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता Acharanga I, 7,13,24 & so on) Parijna does not mean a wholesale ban on activity. The word has a heavy knowledge content and the compound should be analysed as renunciation based on knowledge—something selective —discriminative, Like a shrewd businessman, we should reconcile the situation, be rational and practical and weigh the consequences of the proposed business of body, mind and speech in terms of net resultant loss of bondage. An

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

activity with less accumulation and more annihilation of karmik matter is to be preferred to the one with more accumulation and less annihilation. This businesslike approach has been approved in discussion of Ardrakumar with Goshalaka :

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं तायति साह एवं ।
एतावया बंभवति त्तिवुत्ते, तस्सोदयट्ठी समणे त्तिबेमि ।। 20 ।।

Without incurring new bondage and while annihilating the old ones and by casting aside wrong mentality (कुबुद्धि) Bhagwan Mahaveer has proved saviour of all. This is called Moksha schedule and its resultant acquisition Moksha (निर्जरा) is considered as a gain by him.

Sootrakritaanga II-6 (20)

In the words of Geeta, the dexterity lies in so carrying out an activity that old bondage is discarded with little or no fresh bondage योग कर्मसु कौशलम् (2-50). The source sentence runs as follows in Acharanga I-104 : कुसले पुण्ण णो बद्धे नो मुक्के । It explicitly means—dexterious neither incurrs bondage nor is devoid of activity.

Thus path of Kriyavad is a difficult and complex one and at each and every step requires the serious application of decisive faculty of brain and the spirit. There cannot be any fixed set of universal rules in general for all the eventualities because at times a course may give adverse results as compared to an earlier occasion. In the words of Acaranga I-134 जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा । But this way suggested above is not impracticable or utopian because brave ones have treaded it पणया वीरा महावीहिं सिद्धि पहं णेआउयं धुवं । Acaranga I, 21 & Sootra kritaanga I-2 (21). Tirthankaras have shown the path of action without bondage for dexterious (एस मग्गे अरिएहिं पवेदिते जहेत्थ कुसले णोवलिपेज्जासी त्तिबेमि ।) Acharanga I-74-79. And that is why it is said that every act of a self supporting man is

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

towards self emancipation णिरालंबणस्स आयट्ठिया जोगा भवंति (Uttaradhyayan 29-33) Like Geeta's "Sthitaprajna" who does no wrong, Jains also have a subjective approach than mere objective alone; and whether bondage or no bondage, much depends upon the spiritual stage of the doer :

जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत दंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परक्कतं, सफलं होइ सव्वस्सो ।। 22 ।।

जेयबुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत दंसिणो ।
सुद्धं तेसि परक्कतं, अफलं होइ सव्वस्सो ।। 23 ।।

Great men bold enough but unenlightened and of perverted faith exert wrongly and hence their all activities & efforts result in bondage whereas great & brave persons who are enlightened and of right faith exert dexterously and none of their efforts & activities result in bondage.

Sootrakritaanga I, 8 (22-3)

वयण विभत्ति अकुसलो, वयोगतं बहुविधं अजाणंतो ।
जतिवि ण भासति किंची, ण चेव वतिगुत्तयं पत्तो ।। 22 ।।

वयण विभत्ति कुसलो, वयोगतं बहुविधं वियाणंतो ।
दिवसमवि भासमाणो अभासमाणो ववइगुत्तो ।। 23 ।।

[पाठांतर---दिवसंपि भासमाणो तहावि वयगुत्तयं पत्तो]

An inexpert in the discriminative knowledge (विवेक=परिज्ञा) of speech, being ignorant of numerous types thereof does not attain talking contraction (वचन गुप्ति) even though observes complete silence whereas an expert in the discriminative knowledge of speech, being well conversant with various types therof, remains in talking contraction (वचनगुप्ति) although speaks throughout the day.

[Dasvaikalika Niryukti Vakyasuddhi last but one 22/23 (92/93) 7th chapter.]

Thus, it can safely be concluded that Jinism no where

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

prohibits indulgement in those activities which directly or indirectly result in net annihilation of Karmik bondage; on the contrary strongly advises & highly recommends to go for them briskly. In other words only those activities which obviously result in more bondage than dissociation (निर्जरा) have to be abstained from, provided that absolutely essential activities (like biological necessaries to sustain life and remove pains) amongst them are tolerable in the technical name of 'अर्थदण्ड' संधते साहु धम्मं च पाव धम्मं णिराकरे । [Sootrakritaanga I-11 (35)] Exert in good & abstain from bad.

On the basis of above discussion, it be added that Jain kriyavad has been refined throughly well and is a very fine exercise and a sophisticated doctrine. To comprehend it masterly and to preach it correctly is not an easy job and naturally its perfect practice demands a very high mental stage and spiritual calibre. As noted in the beginning, exposition of Kriyavad (i.e. Karmayog as per commentators) in Geeta has not been quite clear and meant differently to different people right from Arjuna to Shankaracarya, Tilak and others. This led to a remark from earlier Jain theologists that" Bharat" (i.e. Mahabharat of which Geeta is a part) can be correctly understood by persons having right perception and enlightened faith. Therefore, to guard against misrepresentation, confusion & complications, the following note of caution has been added for those who want to explain this topic of (Jain) kriyavad—

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च ।
जो सासयं जाण, असासयं च, जातिं च मरणं च जणोववावं ।।

अहोऽवि सत्ता विउट्टणं च, जो आसव जाणति संवरं च ।
दुक्खं जो जाणति निज्जरं च-सो भासिउमरिहकिरियवादं ।।

One who knows self and this world, roamings and its cessation, what is permanent and what is transitory, birth death and life circle, tortures of hell below, influx and stoppage

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of Karmic matter, bondage and its disassocition, he alone is eligible to expound kriyavad.

Sootrakritaanga -I12 ((20-21)

(**Important**—It is hereby sincerely admitted that I do not have all that knowledge and hence truth in my talk alone be adopted and anything more or less than that be ignored, please)

(1st half of the talk over)

Having examined in detail the theology, philosophy metaphysics and doctrines of Jinism, we will now proceed to see what activities have been prescribed by Jain religion. Jain religious code of conduct can be grouped under three broad heads., viz., Ahimsa, Samyam and Tap—धम्मो मंगल मुक्खिट्ठं—अहिंसा, संजमो, तवो (Desvaikalika 1/1)=Nonviolence, Contraction and Austerity. Ahimsa group includes in its fold its partners and fellow travellers like truth, non-usurpance etc.

Ahimsa is an important aspect of Jain religion and hence there should be no mis-understanding about its meaning. Though we use the word 'himsa' हिंसा and with an opposite suffix 'अहिंसा' 'Ahimsa' and in the same vein translate them into violence and non-violence, yet it is submitted that doctrine of Ahimsa is not just the negation of himsa. The word himsa actually stands for pranatipat (प्राणातिपात) destroying any of pranas and is enumerated as one of the sins in the schedule of 18 items and we should avoid it. Consequently this abstainment falls under the broad head of samyam which has to be distinguished from Ahimsa as per the classification mentioned in the last paragraph. As against that, Ahimsa is a pure positive phenomina and its application postulates an activity—it is a rule of action. To appreciate the distinction between these rwo terms a recent anology be narratted. At the time of formation of (now practically defunct) Svatantra party,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

there was a proposal to name it as 'Freedom Party'. But C. Rajgopalachari opposed it on the ground that word freedom has a negative content whereas Svatantra is a positive word; clearly, freedom and Svatantrata are not synonimous and with the same parity of reasoning Himsa and Ahimsa are not विलोम (inverse) of each other Avoiding activity lest there may be killing, is not the practice of Ahimsa; अहिंसा परमोधर्मः is a principle of Dharma Shastra and plays its role as a characteristic of Yoga i.e. one's action either by body mind or speech. It means that desirable and permissible activities indicated again and again herein above should be carried out with dexterity, carefulness, vigilence etc. (technically with samitis) in such a manner that little or no bondage is caused and then only you are said to have followed the rule of Ahimsa. Question of Ahimsa does not arise in passivity when we are lying idle and not doing anything. But (say) when you walk, you shall walk in a very careful manner all attentive with Iryasamiti and ants and other insects and living beings on the way are not hurt and that is Ahimsa. If you do not fight no question of Ahimsa crops up, but when you do so, the question does arise and we all know that Mahatma Gandhi fought for Indian freedom in Ahimsak manner. So also is the crux of Geeta asking Arjuna in its own way, to fight in such a manner that no new bondage is caused because fight was destined for him. On account of ego if you think, 'I will not fight' vain is your this resolve, (Karma) prakriti will compell you to fight. What you are unwilling to do on account of delusion now, will be done by you due to the nature of your Karma bondage.

यदहंकारमाश्रित्य, न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते, प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।
स्वाभावजेन कौन्तेय, निबद्धस्वेन कर्मणा ।
कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात्, करिष्यस्य वशोऽपितत् ।।

Bhagvat Geeta 18 (59-60)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Similarly, if you do not speak and keep mum, the question of truth or falsehood does not come in picture. It is only when you speak you shall speak the truth with 'bhashsamiti' is the commandment. So also if one is doing no business or dealings, question of corruption, dishonesty etc. remain absent; but when you happen to hold an active public post, then an occasion arises to show that you are honest and have neither exploited the situation nor committed theft nor taken bribe and have done justice. Thus examples can be multiplied to prove that Ahimsa and its fellow travellers like truth non-stealing etc. are not the religion of escapism from activity. The above point derives some support from Uttaradhyayan 24(26) as follows :

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती णियतणेवुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ।।

These five simities are for promotion of religious activities, and for complete renouncement from bad actions three gupties have been prescribed. Luckily, the doctrine of Ahimsa is so scientific and useful and its implications are so wide and all pervading that it has been and is being continuously digested universally in all other walks of life. It is no more a monopoly of religion now. So let us be bold enough to say that large portion of world activity is carried out in a religious manner and future is still brighter for Ahimsa etc. to become more and more popular religion of human activities. Sootrakritaanga I-2(14) and Prashna Vyakarana 21/23 support Ahimsa as a positive proposition.

Coming to the second group viz., Samyam (Contraction) it should be conceded that it is purely a passive item. It clearly postulates the process of limitation of wordly persuits to the minimum possible. It is an easy prescription for abstaining from activities as far as possible so that no new bondage is caused. In technical terms it can

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

be called 'Guptee' of body, voice and mind. The main aim of Samyam is to refrain from sins and in order to be purposeful, it should be a willing deliberation as against an abstainment forced by circumstances or unawarely, otherwise bondage due to avirati (want of vow) is not avoided.

अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाई त्ति वुच्चई ।। 2 ।।

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वई ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ।। 3 ।।

Who does not enjoy sensual pleasures by force of circumstances is not called a Samyami. But one who turns his back even from the available choicest and agreeable pleasures—willingly abstains from enjoyment—is called a Samyami.

Dasvaikalik 2/2-3

The case of third group of religion viz., Tap is more stronger qua activity. According to Jain metaphysics Karmik matter already bound with the self but not yet ripe for annihilation can by special effort known as Tap be shed away from the soul region before maturity. Thus tap serves dual purpose—while carrying it out no new bondage is caused and at the same time old bondage is destroyed. This special characteristic of Tap should be appreciated vis-a-vis Ahimsa and Samyam, both of which are not capable of destroying old bondage. (Thananga 190 and Bhagvati 2 5 (16/26). In order to evaluate rhe activity aspect of Tap, it is necessary to know what it contains.. Broadly speaking it consists of 12 items described below :

Anshan—Fasting with various stipulations as to time number etc. It is tuff and in general parlance Tap has become synonymous with it.

Avamodirika—Austerity and reduction in level of con-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

sumption and forebearance thereof and limitation of wants in all manner.

Vritisankshep—Avoidance of possession (परिग्रह) and accmulations-putting various ceilings on earning, holding and properties etc.

Rasatyaga—Avoiding pleasures of all the 5 sense objects viz., sound, sight, smell, taste and touch.

Kayklesh—Penance and endurance of bodily pains, troubles, exposures, postures, sickness, vagaries of climate insects & like. Physical exertion is also contemplated.

Sanleenta—Simple life with strict disciplined schedule and various vows like brahmacarya, awakening and other biological controls, lonely life etc.

Prayscita – Repentence for all wrongs done in the past, disassociation of self from them and resolution to not to repeat them in future.

Vinay—i.e. bhakti (vandana, pooja, respect, prayer) of Panch Parmeshthi (Tirthankar, liberated, preceptors teachers & monks) Sangha (Church) and its members.

Svadhyaya—Exercise in the field of knowledge like reading, hearing, discussing, remembering, contemplating, lecturing etc.

Prashasta Dhyana—Concentration & meditation on commendable objective i.e. Dharma & Shukla Dhyan.

Kayotsarga—Practice as if taking soul away from the body. Realising aloneness of self from all, including body.

Vaiyavrtya—Serving others.

The very perusal of the abovesaid exertions will show that it is a hetrogenous mass covering a very wide field of

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

activity. All the items are equally important and one can choose any of them. They can keep one engaged all throughout his life. It should be pointed out that Tap is not a compulsory subject in the syllabus of religion and the option should always be commensurate to one's capacity so that self bliss is maintained. Some items above can be interpreted with negative approach but due to their difficult & tedius nature, always partake the form of an activity e.g. "abstainment from food", but remaining hungry becomes a job; "abstainment from treatment", but enduring pain becomes a job. Moreso, slowly and slowly by practice one becomes accustomed and used to those austerities & penances. The most tuff amongst them is 'brahmacarya' तवेसुवा उत्तम बंभचेर (Sootrakritaanga I, 6/23)

Before closing I will like to give some detailed treatment to the last item 'vaiyavratya' because of the present day social need and having regard to the host institution and its platform.

While dealing with Sootra 511, Shri Abhayadeosuri in his exegesis of Thanang says व्यावृत भावो वैयावृत्यं—धर्म साधनार्थं अन्नादि दानं (संपादनं) spirit of service e.g. making food and other aids available for the practice of religion. The spirit of service is the sinquanon of this exercise, for it falls in inner (अभ्यन्तर) variety of Tap. The service be rendered to those who deserve it and the criterian is that it will help the receipent to strive for spiritual upliftment—in any manner whatsoever, directly or indirectly. Thus term is wide enough to cover the whole extent of all alms, charity, benevolence, philanthrophy, help and altruism in all their facets. Though the conservative school takes a narrow view of the matter and says that service should be rendered by monks as well as the laity to the monks only—service to the householders is not covered by this type of Tap. But this interpretation or opinion is not warranted by the language of the canons, because there is no specific ban as such. A householder is entitled to do Tap

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(there is no dispute about it) and thus to do 'Vaiyavratya'. Then naturally while interpreting the words Tapasvi (austere) sick fellow, religious colleague, family group & Sangh we should reasonably cover householder variety of these classes and not only the monks, specially when the server is a laity. The very nature of this job and the spirit behind it can not accomodate partiality or any other consideration. Not only that, but Yatys also generally acknowledged as Sadhus then, even prior to Haribhadra period, used to render medical and other services both to householders and non-householders. May be, with the almost abolition of that institution, good points in it have also disappeared—the subject needs research. Let us take one Mantra of Acharanga :

एस वीरे पसंसिते जे बद्धे पडिमोयए; उड्ढं अहं तिरियं दिसासु से सव्वतो सव्व परिण्णाचारी ण लिप्पति छणपदेण वीरे ।

That brave one is to be appreciated who works for the release of bondage of others; and that talented personality having meaningful renunciation, perfect from all the angles & directons, incurrs no bondage in doing this work.

(Acharanga I-91, 103)

Someone may work for his own upliftment but the main operative part of this Mantra bestows distinction on those who work for the emancipation of othera. Directly, or indirectly helping others in attaining salvation (i.e. permanent removal of miseries) is the best social service which can be thought of. To illustrate, Tirthankars are distinguished from other omniscient Kevalees in this respect because the former, after attaining Keval Jnana work hard for spreading & distributing the gains of their knowledge amongst others so that they may also tread the 'already searched' path of liberation. The value of this service is immeasurable in terms of wordly calculations. Now, can it be

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

argued that householders and masses in general are not entitled to reap benefit of those preachings and messages ? More than 2500 years have passed but the light given by Bhagvan Mahaveer still benefits us with the same or rather added wattage. These leaders of the humanity make it a routine to uplift the beings without any distinction or discrimination whatsoever (Sootrakritaanga I-6(28) सव्वं पभूवारिय सव्वधारं। In exegesis of this sootra, Acharya Shilank makes a point that even the past efforts of Bhagwan Mahaveer for his own upliftment before Kevaljnana are also a part and parcel of subsequent social service because unless one practises and becomes perfect, his preachings fail to have any impact—rather he is unqualified to preach. As per the latter part of the above quoted Mantra of Acharanga, a perfect monk, engaged in thls type of activity is immune from incurring bondage. It should not be argued that the case of Thirthankars is different, for they are bound to do that duty, but this type of social work on the part of an ordinary preceptor or Upadhyaya (teacher) or sadhu would mean deriliction from his chosen path. On the other hand Acharanga I-196 casts an obligation on a monk to do this work out of compassion—

लोए समित दंसणे दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहीणं उदीणं आइक्खे विभए किट्टे वेदवी-से उट्ठिएसुवा, अणुट्ठिएसुवा सूस्सूसमाणेसु पवदेए—अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा।

As far as disciples and wards are concerned, a preceptor should apply his full energy day and night to train them up—

एस तेसिं भगवतो अणुट्ठाणे जहा से दियापोते एवं ते सिस्सा दिया य रातो य अणुपुव्वेण वायित्ता त्तिबेमि।

(Acharanga I, 189-90)

Acharanga 134, specially its Nagarjuna rendering makes

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

it crystal clear that even householders engrossed in fierce wordly activity deserve the discourse, they can be obliged by the monks—

एतेय पए संबुज्झमाणे, लोगं च आणाए अभिसम्मेच्चा पुढो पवेदितं आघाति णाणी इह माणवाणं संसार पडिवण्णाणं, संबुज्झमाणाणं, विण्णाण-पत्ताणं, माणुसगवत्थाणं, आरंभ विण्णईणं, दुक्खव्वे असहेसगाणं, धम्म सवण गवेसयाणं, सूस्सूसमाणाणं, पडिपुच्छमाणाणं, अट्टाविसंता अदुवा पमत्ता ।

(Acharanga I, 134)

The above authorities of Acharanga are further reinforced by Sootrakritaanga I as follows—

2 (69) सव्वं णच्चा अहिट्ठए धम्मट्ठी उवहाणवीरिए गुत्ते जुत्ते सदा जए आय परे परमायय्ट्ठिए ।

11 (23) बुज्झमाणाणं पाणाणं कच्चंताण सकम्मुणा आघाति साहु तं दीवं पतिट्ठेसा पवुच्चती ।

12 (12) से चक्खुलोगंसि णायगातु मग्गाऽणुभासंति हितं पयाणं ।

13 (19) सयं समेच्चा अदुवा विसोच्चा, भासेज्ज धम्मं हितदपयाणं ।

14 (5) समिती सु गुत्तीसु य आयपण्णे वियागरे ते य पुढो वदेज्जा ।

Thus this one Mantra 91 (103) of Acharanga is more than sufficient to wide open the gates of social service for monks as well as householders though within their limitations and options. Bhagvati 5 (6) says that these monks generally reach Moksha at most within 2-3 births next. Geeta also follows this pattern and its Karmayogi works for Loksangrah (public good) i.e. social service. The other varieties of social services can be treated as covered by above thesis because preaching is getting it done by speech or approval of what is being done by others. However, special mention has been made of the following varieties of service in Agam texts—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(A) Enjoining a monk to serve the sick—

इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेइयं, कुज्जाभिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए [Sootrakritaanga-I-3 (51 & 81)] गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्च अब्भुट्ठेयवं भवति [Thananga 649-7th)]

गति पडुच्च ततो पडिणीया—इहलोग, परलोग. दुहओलोग पडिणीए; अणुकंप पडुच्च ततो पडिणीया— तवस्सि, गिलाण, सेहपडिणीए
(Thananga 208)

Dashashrut 28-29 goes a step further and says that one who does not serve the sick incurrs the bondage of intense Mohaneeya (Delutive) Karma—

साहारणट्ठा जे केइ गिलाणम्मि उवट्ठिए पभू नकुणइ किच्चं मज्झंपि से नकुव्वइ । सढे नियडी पण्णाणे कलुसा उलचेय से अप्पणो य अबोहिए महामोहं पकुव्वई ।।

(B) Supporting each other in remaining steadfast to the religious path—

ते उट्ठियते सम्मुट्ठिया अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ।
(Sootrakritaang, 2 (48)

(C) Mutual help and service in needy moments amongst monks interse (Acharanga I, 219-227)

(D) Samvayanga 91 says that there are 91 types of service but unfortunately except this total, the details have been lost to us; list must have been quite exhaustive.

(E) Cremation and rites are permissible of fellow religious beings—

छहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य साहम्मितं कालगतं समायरमाणा णाइक्कमंति तं जहा—अंतोहिंतो वा बाहिं णीणेमाणा, बाहीहिंतो वा निव्बाहिं णीणेमाणा, उवेहमाणा वा, उवासमाणा वा, अणुभवेमाणा वा, तुसिणीते वा संपव्वयमाणा ।
(Thananga, 477)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(F) Consumption of extra food is allowed so as to remain fit for service.

छहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे आहारमाहारमाणे णातिक्कमति तं जहा—वेयणं, वेयावच्चे, ईरियट्ठाए य, संजमट्ठाए तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ।

(Thananga, 500)

(G) Thananga 649 clause VIII provides that if conflicts have arisen between fellow religious followers, then one should make efforts, attempts and exertions for putting an end to fights, disputes and arguments and for establishing amity in an impartial neutral and judicious manner without taking sides. In doing this, a monk incurrs no wrong—rather abides by his duties.

अट्ठहिं ठाणेहिं समं संघठितव्वं, जतितव्वं, परक्कमितव्वं अस्सि च णं अट्ठे णो पमातेतव्वं भवति—xxx(viii) साहम्मिताणमधिकरणंसि, उप्पण्णंसि तत्थ अनिस्सितो, वास्सितो, अपक्खगाही मज्झत्थ भावभूते कहणु साहम्मिता अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पतुमंतुमा, उवसामणताते अब्भुट्ठेतव्वं भवति ।

Charity to the deserving have been recommended and Jain canons are full of precedents when gods in heaven have celebrated such befitting occasions. Kings and commanders and administrators who have good character, fine vows, virtues, discipline, resolutions, no sense pleasures and do "Paushadhopavasa" are born next as gods in Sarvarthasiddhi heaven.

तओ लोगेसु सुस्सीला, सुव्वता, सग्गुणा समेरा, सपच्चक्खाण पोसहोवासा सवट्ठ सिद्धे विमाणे देवताए उव्वज्जंति:—रायाणो परिचित्तकामभोए, सेणावती, पसत्थारो ।

(Thananga, 150)

Uttaradhyayan 29 (43) says that by the best vaiyavra-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

tya, one becomes Tirthankar in future lives—the highest reward.

वेयावच्चेणं तित्थयरणामगोयं कम्मं णिबंधइ ।

So it can safely be concluded that monks as well as householders both can render service and though the service of fellow religious householders by the former is a controversial topic yet by the latter is quite permissible. Therefore, a jain should never shirk from this vaiyavratya—a pious action. Thus the final result is that for every one dose of inactivity (Samyam) two doses of activity (Ahimsa and Tap) have been prescribed by Jain religion.

And, in this way, seen from whatever angle, whether theological doctrinal, metaphysical, philosophical or religious, Jinism is much more positive than negative and we find in evidence a big pyramid of Jain ethics based upon Kriyavad. Besides, a deep penetration in Jain agamas will reveal that Bhagwan Mahaveer was a hard task-master and meant business. He did not spare even youngesters and teenagers, women, scheduled castes, householders etc. from religious exercise under the age old excuses of non-eligibility and disabilities. Consequently his is the most practical approach; for him व्यवहारनय (view point of practice) is as much relevant as निश्चयनय (view point of theory). Ends do not justify the means is an incomplete statement; according to him full equation is neither means justify the ends nor ends justify the means, because all ends in turn become means of further ends. Therefore, each problem should be solved on its own merits with the barometer of ultimate net reduction in bondage, सद्भ्यो हितम् इति सत्यम् is the amended version of Jain reality. Clearly this liberal, flexible and tolerant attitude would be redundant had the Jain philosophy etc not believed in प्रवृत्ति (action). Though I am not a serious student of other religious philosophies yet it can be said that if compared to others, Jinism will score in positive-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ness. It is indeed pitiable that the most positive religion of the land is being branded otherwise. I can only opine that if inspite of all this, the charge of escapism, negativism and inactivity is levelled against Jinism, it will remain unproved like an earlier charge of hereticity (नास्तिकता). To mention in the end as in the beginning, Lokmanya Tilak after perusing the manuscript of the book "Jain Karmayoga" written by late Acharya Budhisagar complimented as under—"Had I known that you are writing your Karmayoga, I might not have written my Karmayoga." I think no better certificate or any other authority is needed to establish our case. Thank you all.

□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

(अ) जैनागम-वचन

(सकारात्मक अहिंसा के पोषक उद्धरण)

(1) धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकंपी। —उत्तरा. 13.32

धर्म में स्थिर होकर समस्त प्रजा पर (सर्व जीवों पर) अनुकंपा करने वाले बनो।

(2) सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी। —उत्तरा. 21.13

सर्व जीवों पर दया और अनुकंपा का बर्ताव करो।

(3) दयाधम्मस्स खंतिए। —उत्तरा. 5.30

क्षमापूर्वक दया धर्म का पालन करता है।

(4) ताइओ परिणिव्वुडे। —दशवै. 3.15

दूसरों की रक्षा करने वाला मोक्ष का अधिकारी होता है।

(5) दाणाणं सेट्ठं अभयप्पयाणं। —सूत्रकृतांग, 1.6.23

जीवों को मृत्यु से बचाने रूप अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान है।

(6) मित्ती मे सव्वभूएसु। —आवश्यकसूत्र

सब जीवों के प्रति मेरा मैत्री भाव रहे।

(7) पाणाणुकंपयाए जाव सत्ताणुकंपयाए संसारे परित्तीकए।
—ज्ञाताधर्मकथांग, प्रथम अध्ययन

प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व पर अनुकंपा करने से संसार परीत होता है अर्थात् संसार में भ्रमण सीमित हो जाता है।

(8) ....समं सघडितव्वं जइतव्वं परिक्कमितव्वं अस्सिं च नो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पमाएयव्वं भवइ···गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चं-करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ। —ठाणांग, 8

रोगी की अग्लान (प्रेम) भाव से पूर्ण प्रयत्न, पुरुषार्थ एवं पराक्रमपूर्वक सेवा करनी चाहिए इसमें प्रमाद नहीं करना चाहिए।

(9) सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं। —प्रश्नव्याकरण, श्रुत 2 अ. 1 सूत्र 22

भगवान् महावीर ने जगत् के सब जीवों की रक्षा एवं दया करने के लिए उपदेश दिया है।

(10) ····अणुकप्पए····चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवइ। —उत्तरा. 29.30

अनुकंपा से चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

(11) ····दया····कल्लाणभागिस्स वोसिहीठाणं। —दशवै. 9.13

दया से आत्मा विशुद्ध होती है।

(12) ····दया····रक्खा····अभओ पज्जवनामाणि होंति अहिंसाए भगवतीए। —प्रश्नव्याकरण श्रु. 2 अ. 1

दया करना, रक्षा करना, अभयदान देना आदि अहिंसा के पर्यायवाची हैं।

(13) वेयावच्चेणं तित्थयर-नाम-गोत्तं कम्मं निबन्धई। —उत्तरा. 29.43

सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है (तीर्थङ्कर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है।) अर्थात् सेवा से भगवद् पद की प्राप्ति होती है।

(14) वेयावच्चं····अब्भितरो तवो। —उत्तरा. 30.30

सेवा आभ्यंतर तप है। (इससे कर्मों की महानिर्जरा होती है।)

(15) पाणवहो नाम एस निच्चं जिणेहिं भणिओ····णिकल्लुणो। —प्रश्नव्याकरण, श्रु. 1 अ. 1 सूत्र 3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेश्वर ने हिंसक को करुणाहीन कहा है।

(16) आयओ बहिया पास। —आचारांग, 1.3.2
अपने समान ही बाहर में दूसरों को देख।

(17) ते आत्तओ पासइ सव्वलोए। —सूत्रकृतांग, 1.12.15
ज्ञानी समग्र प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है।

(18) अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमंकरी।
—प्रश्नव्याकरण, 1.5
अहिंसा त्रस-स्थावर सब प्राणियों का कुशल करती है।

(19) सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं, न मरिज्जिउं
—दशवै 6.11
सभी प्राणी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है।

(20) जोउ परं कंपंतं दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ निरणुकंपो, अणु पच्छाभावजोएणं।
—बृहत्कल्पभाष्य, 1320
जो कठोर हृदय दूसरों को पीड़ा से प्रकंपमान देखकर भी प्रकंपित नहीं होता है वह निरनुकंप (अनुकंपाहीन) कहलाता है। चूँकि अनुकंपा का अर्थ ही है—कांपते हुए को देखकर कंपित होना।

(21) जह मे इट्ठाणिट्ठे सुहासुहे तह सव्वजीवाणं
—आचारांगचूर्णि, 1.1.6
जैसे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख मुझे होते हैं वैसे ही सब जीवों को होते हैं।

(22) भूतहितं ति अहिंसा। —नंदीचूर्णि, 5.38
प्राणियों का हित करना अहिंसा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(23) जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।
—भक्तप्रत्याख्यान, 93

किसी भी प्राणी की हत्या करना अपनी हत्या है और किसी भी जीव पर दया करना अपनी दया है ।

(24) असंगिहीयपरिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति ।
—स्थानांग, 8

जो अनाश्रित एवं असहाय है, उसको सहयोग तथा आश्रय देने में सदा तत्पर रहना चाहिये ।

(25) गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवति । —स्थानांग, 8

रोगी की अग्लानभाव से सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।

(26) असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।
—दशवैकालिक, 9.2.23

जो असंविभागी है अर्थात् प्राप्त सामग्री को साथियों में बांटता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती है ।

(27) असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ।
—उत्तरा. 17.3

जो श्रमण असंविभागी है (प्राप्त सामग्री को बांटता नहीं है) वह पापश्रमण कहलाता है अर्थात् गृहस्थ के लिए ही नहीं बल्कि साधु के लिए भी प्राप्त सामग्री को बांटना आवश्यक बतलाया है ।

(28) संविभागसीले संगहोवग्गहकुसले,
से तारिसए आराहए वयमिणं ।
—प्रश्नव्याकरण, 2.3

जो संविभागशील है, संग्रह और उपग्रह में कुशल है अर्थात् अपने साथियों के लिए यथावसर भोजनादि सामग्री जुटाने व वितरण करने में कुशल है वह ही अस्तेय (अचौर्य्य) व्रत की सम्यक् आराधना कर सकता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(29) सोउण वा गिलाण, पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।
जति तुरियं णागच्छति, लग्गति गुरुए चउम्मासे (सवित्थारं)
—निशीथभाष्य 2970, बृहत्कल्पभाष्य 3769

विहार करते हुए, गांव में रहते हुए, भिक्षाचर्या करते समय यदि सुन पाए कि कोई साधु बीमार है तो जो (साधु) शीघ्र ही वहाँ नहीं पहुँचता है, उसे गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त (दंड) आता है ।

(30) जह भमर-महुयर-गणा णिवतंति कुसुमितम्मि वणसंडे ।
तह होति णिवतियव्वं गेलण्णे कतितवजढेण ।।
—निशीथभाष्य, 2971

जिस प्रकार कुसुमित उद्यान को देखकर भौंरे उस पर मंडराने लगते हैं, उसी प्रकार किसी साथी को दुःखी देखकर उसकी सेवा के लिए अन्य साथियों को सहज भाव से उमड़ना चाहिए ।

(31) भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं ।
—प्रश्नव्याकरण, 2.1.60

(32) लज्जादयासंजमबंभचेरं कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
—दशवै. 9.13

लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य इनसे आत्मा विशुद्ध होती है ।

(33) दुक्खं खु निरणुकंपा । —निशीथभाष्य, गाथा 5633

दुःख अनुकंपा रहित होने से होता है ।

(34) अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकंपए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ।
—उत्तराध्ययन, 29.29

विरक्ति एवं अनुकंपा से जीव निराकुलता युक्त एवं शोक रहित होकर चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय कर वीतराग होता है ।

(35) तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ।। 137 ।।
रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।। 135 ।।
—पंचास्तिकाय-कुंदकुंदाचार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्यासे, भूखे अथवा दुःखी को देखकर जो जीव मन में दुःखी (करुणित) होकर उन पर कृपा करता है उसका यह कार्य अनुकंपा है ऐसा अनुकंपायुक्तभाव व प्रशस्त राग जिसके होता है उस जीव का चित्त कलुषता (कषाय) रहित होता है और उस जीव के पुण्य का आस्रव होता है।

(36) करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति ण वुत्तं ? करुणाए जीव-सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो संजमघादिकम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।
—षट्खंडागम, धवलटीका, 5.5.97 पुस्तक 13, पृष्ठ 361-362

जिज्ञासा—करुणा का कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, यह क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि करुणा जीव का स्वभाव है। अतः इसे कर्म जनित अर्थात् कर्म के उदय से मानने में विरोध आता है।

जिज्ञासा—तब फिर अकरुणा का अर्थात् करुणाहीनता का कारण कर्म कहना चाहिए ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अकरुणा को अर्थात् करुणाहीनता को संयमघाती कर्म (प्रत्याख्यानावरणीय कर्म के फल रूप में स्वीकार किया गया है।

(37) जं इच्छसि अप्पणतो जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि एत्तियगं जिणसासयं ॥
—बृहत्कल्पभाष्य, 4584

जो अपने लिए चाहते हो वह दूसरों के लिए भी चाहना चाहिए जो अपने लिए नहीं चाहते हो वह दूसरों के लिए भी नहीं चाहना चाहिए। इतना तीर्थंकारों का उपदेश है।

(38) गिलाणं वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति। —व्यवहारसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुग्ण साथी की सेवा करता हुआ श्रमण महानिर्जरा एवं महान् पर्यवसान अर्थात् परिनिर्वाण प्राप्त करता है।

(39) सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पिय-वहा पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।

—आचारांग, 1.2.3

सभी प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल एवं दुःख प्रतिकूल लगता है। सबको वध अप्रिय है एवं जीवन प्रिय है, सब जीना चाहते हैं। सबको जीवन प्यारा है।

(40) दइदूण सव्वजीवे दमिदूण य इंदियाणि तह पंच।
अट्ठविहकम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जंति॥

अर्थ—सर्व जीवों पर दया तथा पांचों इन्द्रियों के दमन द्वारा आठ कर्मों से रहित होकर सबसे उत्कृष्ट मोक्ष की प्राप्ति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ब) जैन-साहित्य में प्राप्त अन्य वचन

(1) सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ।। –ज्ञानार्णव, 9.5

अर्थ–जो वचन सत्य हों, करुणा से व्याप्त हों, अविरुद्ध हों, अनाकुल, अग्राम्य और गौरव से युक्त हों शास्त्र में वे ही वचन प्रशसनीय हैं ।

(2) ध्याने ह्युपरते धीमान् मनःकुर्यात्समाहितम् ।
निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ।। —ज्ञानार्णव, 31.19

अर्थ—ध्यान के पूर्ण होने पर धीमान् पुरुष समाहित मन को वैराग्यपद की प्राप्ति में लगाए अथवा करुणारूपी समुद्र में मग्न करे ।

(3) गुत्ती जोग-निरोहो समिदी य पमाद-वज्जणं चेव ।
धम्मो दयापहाणो सुतत्तचिंता अणुप्पेहा ।।
—स्वामिकार्त्तिकेय-संवरानुप्रेक्षा, 97

अर्थ—मन, वचन और काय योग का निरोध गुप्ति है तथा प्रमादरहित आचरण समिति है । जिसमें दया प्रधान है वह धर्म है । जीवादि तत्त्वों का चिन्तन अनुप्रेक्षा है । तात्पर्य यह है कि दयाप्रधान धर्म संवर का कारण है ।

(4) दयामूलस्तु यो धर्मो महाकल्याणकारणम् ।
दग्ध-धर्मेषु सोऽन्येषु विद्यते नैव जातुचित् ।। 23 ।।
जिनेन्द्रविहिते सोऽयं मार्गे परमदुर्लभे ।
सदा सन्निहिता येन त्रैलोक्याग्रमवाप्यते ।। 24 ।।
—पद्मपुराण, पर्व, 5

अर्थ—जो धर्म दयामूलक है वही महाकल्याण (मोक्ष) का कारण है । संसार के अन्य अधमधर्मों में वह दयामूलक धर्म नहीं पाया जाता । वह दयामूलक धर्म, जिनेन्द्रभगवान के द्वारा प्रणीत परम दुर्लभ मार्ग में सदा विद्यमान रहता है और दयाधर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) दाणफलेणतिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ।। —रयणसार, 14

अर्थ—दान के फल से त्रिलोक में सारभूत उत्तम सुख अर्थात् मोक्ष सुख भोगता है।

(6) पात्रभूतान्नदानाच्च शक्त्याढ्यास्तर्पयन्ति ते।
ते भोगभूमिमासाद्य प्राप्नुवन्ति परं पदम् ।।
दानतो सातप्राप्तिश्च स्वर्गमोक्षैककारणम् ।।
—पद्मपुराणपर्व 123, 106 एवं 108

अर्थ—जो शक्तिसम्पन्न मनुष्य, पात्रों के लिये अन्न देकर सन्तुष्ट करते हैं वे भोगभूमि पाकर परमपद मोक्षपद को प्राप्त होते हैं। दान से सुख की प्राप्ति होती है और दान स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

(7) धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ।। —बोधपाहुड़, 25

अर्थ—दया से विशुद्ध धर्म है, प्रव्रज्या सर्वपरिग्रह से रहित है, जिसका मोह नष्ट हो गया वह देव है। ये देव भव्य जीवों के मनोरथ पूर्ण करने वाले अर्थात् मुक्ति देने वाले हैं।

(8) छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं।
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ।।
—भावपाहुड़, 131

तात्पर्य—श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने छहकाय (पाँच स्थावर और एक त्रस) अर्थात् सब जीवों पर मन, वचन, काय से दया करने का आदेश दिया है।

(9) आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां,
मूलं धर्मतरोरनश्वर-पदारोहकनिःश्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ।।
—पद्मनंदि पंचविंशति, 1.8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—यहां धर्मात्मा सज्जनों को सबसे पहले प्राणियों के विषय में नित्य ही दया करनी चाहिये क्योंकि वह दया समीचीन व्रतसमूह, सुख एवं उत्कृष्ट सम्पदाओं की मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है। दया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, तथा अविनश्वरपद अर्थात् मोक्षमहल पर चढ़ने के लिये नसैनी का काम करती है। निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशायें शून्य जैसी हैं।

(10) जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रिय-परिहारं संयममाहुर्महामुनयः॥
—पद्मनन्दि पंचविंशति, 1.96

अर्थ—जिसका मन जीव-अनुकम्पा से भीग रहा है तथा जो ईर्या, भाषा (देखकर चलना, देखकर वस्तु को रखना, उठाना जिससे जीवों को बाधा न हो तथा हित-मित-वचन बोलना, कठोर वचन नहीं कहना) आदि पाँच समितियों में प्रवर्तमान है। ऐसे साधु के द्वारा षट्काय (सर्व) जीवों की रक्षा और अपनी इन्द्रियों का दमन किया जाता है उसे गणधरदेवादि महामुनि संयम कहते हैं।

(11) येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत्॥
मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम्।
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः॥
सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सूत्रधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव॥
—पद्मनन्दि पं. 6.37-39

अर्थ—जिन भगवान के दयालुतारूप अमृत से परिपूर्ण उपदेश से जिन श्रावकों के हृदय में प्राणिदया प्रकट नहीं होती है उनमें धर्म कहाँ से हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं। जिनका चित्त दया से आर्द्र नहीं हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकते, कारण कि धर्म का मूल तो दया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणिदया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, सम्पत्तियों का स्थान है और गुणों का भण्डार है। इसलिये विवेकी जीवों को प्राणिदया अवश्य करनी चाहिये।

मनुष्यों में सब ही गुण जीव दया के आश्रय से इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार पुष्पों की लड़ियाँ सूत के आश्रय में रहती हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि गुणों के अभिलाषी श्रावक को प्राणियों के विषय में दयालु अवश्य होना चाहिए।

(12) णिज्जिय-दोसं देवं सव्व-जीवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जिय-गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ।।
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, 317

अर्थ—जो दोषरहित को देव और सब जीवों पर दया को उत्कृष्ट धर्म तथा परिग्रह त्यागी को गुरु मानता है वही सम्यग्दृष्टि है अर्थात् जो जीवदया को धर्म नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

(13) हिंसा पावं त्ति मदो दया-पहाणो जदो धम्मो ।।
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, 406

अर्थ—हिंसा को पाप माना गया है, क्योंकि धर्म दयाप्रधान होता है।

(14) दयाभावो विय धम्मो हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो णिस्संका णिम्मला होदि ।। स्वा. का., 415

अर्थ—दयाभाव धर्म है, हिंसाभाव धर्म नहीं है जिसको इसमें सन्देह नहीं है उसीका निर्मल निःशंकित सम्यग्दर्शन होता है।

(15) धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ।। स्वा. का., 478

अर्थ—वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमादि दसभाव धर्म हैं, रत्नत्रयधर्म है, और जीवों की रक्षा करना धर्म है।

(16) मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्व दुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ।। भावपाहुड़, 159

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—जो मुनि मोह, मद, गारव आदि से रहित हैं और करुणा भाव सहित हैं वे चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ का नाश करते हैं।

(17) सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दस-अट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ।।
—नियमसार, गाथा 6 की टीका

अर्थ—वह धर्म है जहाँ दया है, वह तप है जहां विषयों पर निग्रह है, वह देव है जो अठारह दोषरहित है, इसमें संदेह नहीं है।

(18) 'धर्मः शर्मकरं दयागुणमयं' ।। —आत्मानुशासन, 7

अर्थात्—दया गुण युक्त धर्म सुख करने वाला है।

(19) धर्मो नाम कृपामूलं सा तु जीवानुकम्पना।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिक-लक्षणम् ।। –क्षत्रचूड़ामणि, 5.35

अर्थ—धर्म का मूल दया है और वह दया जीवों की अनुकम्परूप है। अरक्षित प्राणियों की रक्षा करना ही धर्मात्मा का लक्षण है।

(20) सम्मतस्स पहाणो अणुकंपा वण्णिओ गुणो जम्हा।
पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ।।
—वसुनन्दि श्रावकाचार, 94

अर्थ—सम्यग्दर्शन का प्रधानगुण अनुकम्पा अर्थात् दया है, अतः शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शन का विराधक होता है।

(21) पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्धियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पांघ्रिपाय वै ।। 1 ।।
—(ज्ञानार्णव/धर्मभावना)

अर्थ—जिस धर्म से जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है और जो धर्म दयारूपी रस से आर्द्र है उस धर्मरूपी कल्पवृक्ष के लिये मेरा नमस्कार है।

(22) तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ।। 57 ।।
—ज्ञानार्णव, सर्ग 8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ—इस जगत् में जीवरक्षा के अनुराग से मनुष्य कल्याणरूप पद को प्राप्त होता है। जिनेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि ऐसा कोई भी कल्याणपद नहीं है जो दयावान नहीं पाते।

(23) दानं सीलं च तवो भावो एवं चउविहो धम्मो।
सव्वजिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुअचरितेहिं॥
—सप्ततिशतस्थानप्रकरण, गाथा 96

अर्थ—दान, शील, तप तथा भाव यह चार प्रकार का धर्म है। सर्व जिनेश्वरों ने इनका आचरण करने का उपदेश दिया है।

(24) गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मः।
—परमात्मप्रकाश टीका, 2.111

अर्थ—गृहस्थ के लिए आहार आदि का दान देना ही परम धर्म है।

(25) न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

अर्थ रंति देव ने कहा--न मुझे राज्य चाहिये, न स्वर्ग चाहिये, न मोक्ष चाहिये। मैं एकमात्र प्राणियों की पीड़ा को दूर करने की भावना करता हूं।

(26) असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं॥
—आचार्य श्री नेमिचन्द्र

अर्थ—अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही चारित्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(स) संस्कृत-साहित्य-वचन

(1) सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी कल्याण को देखें, कोई भी प्राणी दु ख का भागी न बने ।

(2) अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

अठारह पुराणों में व्यास के दो वचन हैं—परोपकार से पुण्य होता है तथा परपीडन (दूसरों को पीडा देने) से पाप होता है ।

(3) अयं निजः परो वेति, गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह अपना है, वह पराया है—इस प्रकार की गणना क्षुद्र हृदय वाले लोग करते हैं । उदार चरित्र वाले व्यक्तियों के लिए तो सम्पूर्ण पृथ्वी ही परिवार होती है ।

(4) पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गूह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

जो अपने मित्र को पाप कार्य करने से रोकता है एवं हितकारी कार्य में उसे प्रवृत्त करता है, मित्र की गुप्त बात को छिपाता है एवं गुणों को प्रकट करता है, आपत्तिग्रस्त मित्र का त्याग नहीं करता एवं समय पर उसकी सहायता करता है उसे ही सज्जन पुरुषों ने सन्मित्र कहा है ।

(5) आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

जो आचरण स्वयं को पसन्द नहीं हो वैसा दूसरों के साथ कभी नहीं करना चाहिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(6) श्रोत्र श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारै र्न तु चन्दतेन ।।
—नीतिशतक, 72

कान की शोभा शास्त्रश्रवण से है, कुण्डल से नहीं, हाथ की शोभा दान से है, कंगन से नहीं। करुणाशील पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार से है चन्दन से नहीं।

(7) प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा, भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र, दयां कुर्वन्ति साधवः ।। —हितोपदेश

जिस प्रकार अपने को प्राण अभीष्ट (प्रिय) हैं उसी प्रकार समस्त भूतों अर्थात् जीवों को प्राण प्रिय हैं। इसलिए सज्जन पुरुष अपने समान अन्य प्राणियों को समझकर उन पर दया करते हैं।

(8) आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः। —हितोपदेश

जो समस्त प्राणियों को अपने समान देखता (समझता) है वह पण्डित है।

(9) दया धर्मस्य जन्मभूमिः। —चाणक्यसूत्र

धर्म की जन्मभूमि दया है।

(10) को धर्मः ? भूतदया····· —हितोपदेश

धर्म क्या है ? प्राणिदया।

(11) अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —योगसूत्र

अहिंसा का पूर्ण-पालन करने पर अहिंसक की सन्निधि में प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।

(12) मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। —यजुर्वेद

हम मित्र की आंख से देखें।

(13) ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
— शान्तिपाठ, तैत्तियोपनिषद्

पूर्ण ब्रह्म परमात्मन् ! हम दोनों की आप साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजोमयी हो, हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(द) बौद्ध-वचन

(1) महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन, कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ।। —जातकमाला

कृपालु (करुणाशील) मनुष्य अपने महान् दुःखों (दुःखद स्थितियों) में भी धैर्यशाली बने रहते हैं तथा दूसरों के कोमल (हलके से) दुःख से भी कम्पित हो जाते हैं, यह अद्भुत बात है।

(2) असारस्य शरीरस्य, सारो ह्येष मतः सताम् ।
यत्परेषां हितार्थेषु, साधनीक्रियते बुधैः ।। —जातकमाला

असार शरीर का साधु पुरुषों ने यह सार माना है कि समझदारों को इसे दूसरों का हित साधने में साधन बना लेना चाहिए।

(3) दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषाम्, उपशमात् ।
दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव ।।
—जातकमाला

दयालु मनुष्य दूसरों में उद्वेग पैदा नहीं करता। शान्त रहने के कारण दयावान् पुरुष संसार में बन्धुजन की भांति विश्वसनीय होता है।

(4) आर्ते प्रवृत्तिः साधूनां, कृपया न तु लिप्सया ।
तामवैतु परो मा वा, तत्र कोपस्य को विधिः ।।
कृतश्चेद् धर्म इत्येव, कस्तत्रानुशयः पुनः ।
अथ प्रत्युपकारार्थम् ऋणदानं न तत्कृतम् ।। —जातकमाला

दुःखी का दुःख निवारण करने के प्रति सज्जनों की प्रवृत्ति करुणा-पूर्वक होती है, किसी लिप्सा के कारण नहीं। इसे दूसरा समझे या न समझे, किन्तु इसमें क्रोध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि दुःखियों का दुःखहरण धर्म (कर्तव्य) समझकर किया गया है तो इसमें फिर पश्चात्ताप की क्या बात है? यदि प्रत्युपकार के लिए ऐसा किया गया है तो यह तो ऋणदान हुआ, धर्मपालन नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(य) संत-वचन

(1) अहिंसा माने अपने भाषण से या कृति से किसी का भी दिल न दुःखाना, किसी का अनिष्ट तक न सोचना। —**विवेकानन्द**

(2) अहिंसा धर्म का तकाजा है कि हम दूसरों को अधिक से अधिक सुविधाएँ प्राप्त करा देने के लिये स्वयं अधिक से अधिक असुविधाएँ सहें—यहाँ तक कि अपनी जान भी जोखिम में डाल दें। —**गांधी**

(3) जरूरतमन्द के साथ अपनी रोटी बाँटकर खाना और हिंसा से दूर रहना, यह सब पैगम्बरों के तमाम उपदेशों में श्रेष्ठतम उपदेश है। —**तिरुवल्लुवर**

(4) नेक रास्ता कौन-सा है ? वही जिसमें इस बात का ख्याल रखा जाता है कि छोटे-से-छोटे जानवरों को भी मरने से किस तरह बचाया जाय। —**तिरुवल्लुवर**

(5) अगर तुम्हारे एक लफ्ज से भी किसी को पीड़ा पहुँचती है तो तुम अपनी सब नेकी नष्ट हुई समझो। —**तिरुवल्लुवर**

(6) जब कोई विश्वात्मा को निजात्मा ही अनुभव करने लगता है तो सारा ब्रह्माण्ड उसकी इस तरह सेवा करता है जैसे उसका शरीर। —**स्वामी रामतीर्थ**

(7) जो वास्तव में उदार है वही वास्तव में ज्ञानी है, और वह जो कि दूसरों से प्रेम नहीं करता, बरकतहीन जिन्दगी बसर करता है। —**होम**

(8) इस दुनिया में हम जो लेते हैं वह नहीं, बल्कि जो देते हैं वह, हमें धनवान बनाता है। —**बीचर**

(9) दया से लबालब भरना ही सबसे बड़ी दौलत है; क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुनियावी दौलत तो नीच आदमियों के पास भी देखी जाती है। —तिरुवल्लुवर

(10) जो खुदा के बन्दों के प्रति दयालु है, खुदा उसके प्रति दयालु है। —मुहम्मद

(11) कितने देव, कितने मजहब, कितने पंथ चल पड़े हैं, लेकिन इस गमगीन दुनिया को सिर्फ दयावानों की जरूरत है। —विलकॉक्स

(12) जीवन का अनुरोध भरा पाठ, चाहे इसे हम जल्दी सीखें या देर से, यह है कि देने से दाता की पहले और सबसे अधिक श्रीवृद्धि होती है और उसमें साधुशीलता आती है। —अज्ञात

(13) अगर तू किसी एक आदमी की भी तकलीफ को दूर करे तो वह ज्यादा अच्छा काम है बजाय इसके कि तू हज्ज को जाय और रास्ते की हर मंजिल पर एक हजार रकअ़त नमाज पढ़ता जाय। —सादी

(14) सब मखलूक (सृष्टि) अल्लाह का कुनबा है और उन सबमें अल्लाह को सबसे प्यारा वह है जो अल्लाह के इस कुनबे का भला करता है। —मुहम्मद

(15) महान् सेवा यह है कि हम किसी जरूरतमन्द की इस तरह मदद करें कि वह अपनी मदद खुद कर सके। —अज्ञात

(16) परहित सरिस धर्म नहीं भाई।
परपीड़ा सम नहीं अधमाई॥ —रामचरित मानस

(17) दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोडिए, जब लग घट में प्राण॥
—तुलसीदास

(18) दया सुखांनी बेलड़ी, दया सुखांनी खान।
अनंत जोव मुक्ते गया, दया तणो फल जाण॥ —जैन धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
3	10	सगुद्णों	सद्गुणों
9	26	धम्मोदया विसुद्धो	धम्मो दयाविसुद्धो
10	3	रक्खाणं	रक्खणं
15	24	क	को
18	27	माह के कम हाने	मोह के कम होने
22	7	उड़कर	बनकर
35	6	करत	करता
41	6	जिस	जिसके
41	29	से वालेने	सेवा लेने
46	7	दान देना या न देना दोनों ही	दान लेना व दान न देना दोनों ही संग्रह के हेतु होने से
47	7	स्वार्थसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि
47	8	परानुग्रबुद्ध्या	परानुग्रहबुद्ध्या
49	4	वह्ने र्दाह्य	वह्ने र्दाह्य
50	2	जाता है	जाता
50	3	होता है	होता
50	5	बाधक होता	बाधक होता, परन्तु ऐसा नहीं होता है
52	2	सुपात्र के लिए दिया	दिया
53	13	जिनेन्द्र कुमार वर्णी एवं	(यह नहीं है)
56	14	ण हुतो	ण हु तस्स
57	7	अइबुड्ड	अइवुड्ढ
57	15	भुड्क्ते	भुङ्क्ते
58	1	करतिते	करति ते
58	4	पुणलच्छिं	पुण लच्छिं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

58	5	मणुयत्तंणिप्फलं	मणुयत्तं णिप्फलं
58	16	अतिरौद्र	आर्तरौद्र
60	14	ऐसा	एसा
64	12	उतनी	उतना
67	3	सुख	दु:ख
67	24	सम्य	सम्यता
69	27	यस्य	यस्तु
75	4	लेकिन	,
76	12	उदाहरण	उद्धरण
76	अन्तिम	हाती	होती
81	अन्तिम	आयुकर्म	फलस्वरूप आयुकर्म
83	9	जबकि	और
83	10	कषायों	भावों
94	15	अभाव	प्रभाव
98	5	पहुँचकर	पहुँचने पर
99	4	अपालाप	अपलाप
100	8	जायगा	जायेगा
103	18	गुण	गुणे
109	16	मत्री	मैत्री
110	28	अघाती कर्म की ।	अघाती कर्म की
112	12	भावातीत	भवातीत
114	22	वृद्धि	वृद्धि की हेतु
121	1	अग	अंग
126	23	अनिष्ट	घनिष्ठ
126	24	क्षत्र	क्षेत्र
131	6	सचित्त	संचित
137	6	व रुणा	करुणा
137	अंतिम	धम	धर्म
151	15	प्रीत्या तिशुद्धमनसा	प्रीत्यातिशुद्धमनसा
152	26	जिणवददिट्ठं	जिणवरदिट्ठं
152	28	पूजामुक्ख	पूजामुक्खं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

153	24	सुआचरिते हिं	सुअचरितेहिं
155	14	करना	करता
169	18	दाणाठा	दाणाण
170	7	प्रशसा	प्रशंसा
172	26	प्रयता	प्रियता
174	26	अपने	अपनी
197	22	सचित	संचित
197	28	आश्वासल	आश्वासन
199	18	बाले	बोले
205	15	कलकित	कलंकित
207	15	असख्य	असंख्य
232	5	अशुद्धि घुस	अशुद्धि न घुस
241	9	जा	जो
252	12	हाने	होने
256	19	प्राप्त वस्तुओं	अप्राप्त वस्तुओं
257	29	स्वाथ	स्वार्थ
261	24	हा	ही
261	24	ऐसा	ऐसी
261	25	आता	आती
268	17,21	प्रमपात्र	प्रेमपात्र
269	8	प्रमपात्र	प्रेमपात्र
275	16	अनिवाय	अनिवार्य
280	16	अस्त्र-शस्त्र	अन्न-वस्त्र
304	15	is that	that
304	27	लवाव संकीय	लवावसंकी य
304	31	जेकेई लोगंमिउ	जे केई लोगंमि उ
,,	अंतिम	अन्नेणपुट्ठा	अन्नेण पुट्ठा
311	अंतिम	अपुरक्कार मएणं जीव	अपुरक्कारगए णं जीवे
,,	,,	जोगहिं तो णियतेइं, पत्सथे	जोगेहिंतो णियत्तेइ, पसत्थे
312	1	अपडिवज्जइ	अ पडिवज्जइ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

312	1	जोग पडिवण्णे य ण	जोगपडिवण्णे य णं
,,	,,	अणंत घाड़ पज्जवे	अणंतघाइपज्जवे
312	8	दिट्ठी संपण्णे	दिट्ठिसंपण्णे
316	6	असम्मत दंसिणो	असम्मत्तदंसिणो
316	7, 9	परक्कतं	परक्कंतं
316	8	सम्मत दंसिणो	सम्मत्तदंसिणो
317	29	आसव	आसवं
320	14	णियतणेवुत्ता	णियत्तणे वुत्ता

मैत्री-करुणा

(1) मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु 1—तत्त्वार्थसूत्र, 7.2

प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव, गुणियों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखियों के प्रति करुणाभाव और अविनीतों के प्रति माध्यस्थभाव रखना चाहिए।

(2) सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥
—अमितगति

हे देव! मेरी आत्मा सदैव प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखे, गुणियों को देखकर प्रमुदित हो, दुःखी जीवों पर करुणित हो तथा विपरीत वृत्ति वाले व्यक्ति के प्रति मध्यस्थ रहे।

(3) मैत्रीभाव जगत् में मेरा सब जीवों पर नित्य रहे,
दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा-स्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रखूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे॥

(4) मित्ति भूएसु कप्पए। —उत्तराध्ययन, 6.2
प्राणियों पर मैत्रीभाव रखो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कन्हैयालाल लोढ़ा का जन्म धनोप (जिला-भीलवाड़ा-राज०) में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी संवत् 1979 में हुआ। आप हिन्दी में एम.ए. हैं तथा साहित्य, गणित, भूगोल, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों में आपकी विशेष रुचि है।

आपकी लघुवय से ही सत्य-धर्म के प्रति अटूट आस्था एवं दृढ़निष्ठा रही है। आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तटस्थतापूर्वक गहन मन्थन कर उससे प्राप्त नवनीत को 200 से अधिक लेखों के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका चिन्तन पूर्वाग्रह से दूर एवं गुणग्राहक दृष्टि के कारण यथार्थता से परिपूर्ण होता है।

'विज्ञान और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जैन धर्म-दर्शन' पुस्तक पर आपको 'स्वर्गीय प्रदीपकुमार रामपुरिया स्मृति पुरस्कार' तथा 'दुःखमुक्ति : सुखप्राप्ति' पुस्तक पर 'आचार्यश्री हस्ती-स्मृति-सम्मान' पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। प्रस्तुत 'सकारात्मक अहिंसा' कृति के अतिरिक्त आपकी प्रमुख प्रकाशित कृतियां हैं--
1. दुःखमुक्ति : सुख प्राप्ति 2. जैन धर्म: जीवन धर्म 3. कर्मसिद्धान्त 4. सेवा करें: सुखी रहें 5. जीव-अजीव तत्त्व 6. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी 7. जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी 8. दिवाकर रश्मियां 9. दिवाकर देशना 10. दिवाकर वाणी 11. दिवाकर पर्वचिन्तन 12. श्री जवाहराचार्य सूक्तियां 13. वक्तृत्व कला 14. वीतरागयोग 15. जैनागमों में वनस्पतिविज्ञान 16. वैराग्य चिन्तवनिका सम्पादित 17. पुण्य-पाप तत्त्व (मुद्रणाधीन)

अ० भा० जैन विद्वद् परिषद् के अध्यक्ष होने के साथ आप श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों के आगम-मर्मज्ञ जैन विद्वान् हैं। आप एक उत्कृष्ट ध्यान-साधक, चिन्तक, गवेषक और अध्यापक हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपके जीवन, चिन्तन एवं सत्यदृष्टि का एक प्रतिबिम्ब है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्लान की सेवा प्रभु की सेवा है

—भगवान् महावीर और गौतम गणधर का संवाद—

"किं भंते ! जो गिलाणं पडियरइ से धण्णे उदाहु जे तुमं दंसणेण पडिवज्जइ ?

गोयम ! जे गिलाणं पडियरइ ।
से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयम ! जे गिलाणं पडियरइ से मं दंसणेण पडिवज्जइ । जे मं दंसणेण पडिवज्जइ से गिलाणं पडियरइ त्ति । आणाकरण-सारं खु अरहंताणं दंसणं । गोयमा ! एवं वुच्चइ—"जे गिलाणं पडियरइ से मं पडिवज्जइ जे मं पडिवज्जइ से गिलाणं पडिवज्जइ ।"

—आवश्यकसूत्र हारिभद्रीया टीका पत्र—६६१-६६२
(आगमोदय समिति, सूरत, सन् १९१७)

"भगवन् ! जो ग्लान की सेवा करता है वह धन्य है अथवा आपकी सेवा करता है वह धन्य है ?

गौतम ! जो ग्लान की सेवा करता है वह धन्य है ।

भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं ।

गौतम ! जो ग्लान की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है । जो मेरी सेवा करता है वह ग्लान की सेवा करता है । यही अरिहन्तों की आज्ञा पालन का सार है । इसीलिये हे गौतम ! मैं कहता हूं कि जो ग्लान की सेवा करता है वह मेरी सेवा/उपासना करता है । जो मेरी सेवा करता है वह ग्लान की सेवा करता है । अतः सेवाकारक धन्य है ।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org